चौसर : पहाड़ी रूमाल (चम्बा)

भारत मुद्रणालय, नवीन शाहदरा, दिल्ली-३२

विश्वविख्यात पहाड़ी चित्रकला पर उसके जाने-अजाने
विविध आयामों को छूती-उकेरती प्रथम महत्त्वपूर्ण कृति

लेखक
किशोरीलाल वैद्य
कला व सज्जा
ओमचन्द हाण्डा

हिमालय के प्रति अभिभूत
महान् आत्मा निकोलस रोरिक को

स्वेतोस्लाव रोरिक द्वारा बनाये गये चित्र की अनुकृति उन्हीं के सौजन्य से प्राप्त

आभार

स्वर्गीय राजा राणा मेजर दिग्विजयचन्द्र और उनके सुपुत्र राजा राणा योगेन्द्रचन्द्र, जुब्बल, हिमाचल प्रदेश

उनके संकलन में पहाड़ी कलाकृतियों की छायानुकृतियाँ लेने और पुस्तक में उनका उपयोग करने की अनुमति देने के लिए

राणा श्री आर० सी० पाल सिंह, आई० ए० एस०, शिमला

उनके संकलन में कलाकृतियों की छायानुकृतियाँ लेने और पुस्तक में उनका उपयोग करने की अनुमति देने के लिए

मियाँ गोवर्धन सिंह 'जुब्बल', लाइब्रेरियन, हिमाचल प्रदेश सेक्रेटेरिएट लाइब्रेरी, शिमला

लाइब्रेरी तथा उनकी निजी पुस्तकों के उपयोग के लिए

श्री चन्द्रमणि काश्यप, हिमाचल लोक-संस्कृति संस्थान, मण्डी, हिमाचल प्रदेश

उनके संकलन में चित्रों तथा पाण्डुलिपियों की छायानुकृतियाँ लेने और पुस्तक में उनका उपयोग करने की अनुमति देने के लिए

श्री ओंकारचन्द सूद, शिमला

उनके संकलन में चित्रों की छायानुकृतियाँ लेने और पुस्तक में उनका उपयोग करने की अनुमति देने के लिए

श्री यादवेन्द्रकुमार, मण्डी

मण्डी के कलाकार गाहिया नरोत्तम के चित्र की छायानुकृति लेने और उसके उपयोग की अनुमति देने के लिए

पं० भवानीदत्त, साहित्य सदन, मण्डी

गाहिया नरोत्तम के छायाचित्र का उपयोग करने की अनुमति देने के लिए

वक्तव्य

जब आदमी पैरों तले ज़मीन और सिर ऊपर आसमान से अपना रिश्ता पहचानता है तब वह कुछ करने की स्थिति में होता है। ज़मीन और आसमान तो हर जगह एक-से हैं लेकिन बात केवल उनसे अपने रिश्ते की पहचान की है।

हिमालय अपनी गौरव-गरिमा के लिए भारतीय जन-मानस में यथापेक्षित स्थान रखता आया है। संसार के लिए यह एक भौगोलिक तथ्य की जानकारी मात्र है कि हिमालय दुनिया में सबसे ऊँचा पर्वत है। हिमालय एक विशिष्ट संस्कृति का पोषक रहा है, उसके आंचल में जो संस्कृति फली-फूली वह भारत की प्राचीनतम और विशिष्ट संस्कृति है जिसका एहसास आज भी हमें बराबर बना हुआ है। इसी हिमालयी संस्कृति के विकास में उसके पश्चिमी कोने पर सोलहवीं सदी में एक समुज्ज्वल आभायुक्त रेखा-सी प्रस्फुटित होती दिखाई पड़ती है। तीन सौ साल के अर्से में वह रेखा एक निश्चित स्वरूप ग्रहण करती है। संस्कृति की यह रेखा पहाड़ी चित्रकला आज जब एक स्मृति के रूप में संग्रहालय की वस्तु बन गई है तो हमारा ध्यान उस ओर बार-बार जाता है। इतनी सुन्दर ! रंग और रेखाओं का ऐसा सम्मिलन तो अन्यत्र देखने में नहीं आता। और भारत में अजन्ता भित्ति-

चित्रों के बाद पहाड़ी चित्रकला ही भारतीय चित्रकला के विकास में विशिष्टतम उपलब्धि कही जा सकती है। पहाड़ी चित्रकला अन्य बातों में भी अनुपम है जो आगे के पृष्ठों में विस्तृत रूप से विदित होगा। यहाँ हम केवल इतना कहेंगे कि संसार-भर के सभी प्रगतिशील देशों में पहाड़ी चित्रकला की कृतियाँ उनके संग्रहालयों तथा कलादीर्घाओं में यदि समान रूप से समादृत हुई हैं तो वह उस कला की विशिष्टता और उन देशों की कलाप्रियता को ही उद्‌घाटित करती है।

इतनी बड़ी बात थी और पहली ही नज़र में उसके लिए हमारा मुंह छोटा नज़र आ सकता था लेकिन हमारे लिए अपने रिश्ते की पहचान एक बौद्धिक मजबूरी बनकर आयी। पिछले सात-आठ वर्षों से मेरा ध्यान पहाड़ी चित्रकला की ओर आकर्षित हुआ, फिर वह सभी कुछ सरुचि देखा व पढ़ा जो इस विषय को लेकर प्रकाशित हुआ था। इसमें कुमारस्वामी से लेकर रंधावा तक की बातें थीं। इन व्यक्तियों की रुचि-शुचि को सहृदय सराहता रहा और ऐसा लगता रहा कि उनकी इन बातों में मैं भी कुछ कह सकूंगा। इस कुछ कह डालने में किसी प्रकार का कोई दावा नहीं। मैं वहीं का वासी हूँ जिस क्षेत्र में पहाड़ी चित्रकला ने जन्म लिया था। इस विषय में मेरी रुचि मुझे इतनी ही स्वाभाविक मालूम दी जितनी अपने रिश्ते की पहचान। मेरे पैरों तले वही ज़मीन थी और सिर ऊपर वही आसमान जिनसे पहाड़ी चितेरों का रिश्ता-नाता रहा। फिर पहाड़ी कलाकृतियों से जिन बाहरी व्यक्तियों ने भी सम्पर्क रखा था, उनकी विशिष्टता को पहचाना; उन्हें तथा उनके लेखन-कृतित्व को मैं सादर ही देख सकता था, अन्यथा नहीं।

पहाड़ी चित्रकला विस्तृत आयामों में विकसित हुई है। वह सत्यं, शिवं, सुन्दरम् की एक मिली-जुली रेखा के रूप में आज भी कला-बोध को उजागर करती है। अतीत की थाती होने के नाते वह ऐतिहासिक महत्त्व ग्रहण कर चुकी है लेकिन विकास प्रक्रिया में उसकी अंतिम कृति आने के बाद भी उसका छटा आलोक चतुर्दिक विफरता रहा है। ऐसी स्थिति में मुझे यह बराबर लगता रहा कि इस पर लिखने की गुंजाइश बराबर बनी हुई है। मैं इसी को ध्यान में रख अपने उपरोक्त रिश्ते को मुखरित करना चाहता था। पहाड़ी चित्रकला पर प्रकाशित मेरे आरंभिक लेखों के लिए मेरे मित्र ओमचन्द हाण्डा ने आवश्यक चित्र तैयार किए थे। व्यवसाय से ड्राफ्टसमैन हैं लेकिन संवेदनशील और कुशल छायाकार होने के नाते उनका सहयोग मेरे लिए एक उपलब्धि रही। फिर तो ऐसा रहा जो मुझे कल चाहिए होता, वह आज मिल जाता, जो आज चाहिए होता वह अभी मिल जाता। हम दोनों एक ही स्थान पर रहते थे, इसलिए पहाड़ी चित्रकला पर नियोजित ढँग से, संयुक्त रूप से काम करने की बात सूझी। तीन साल के अर्से में ऐसा दिन कोई ही रहा होगा जब हम दोनों ने हाथ में लिए इस काम पर बातचीत न की हो। हिमाचल घूमा हुआ था, उसका रूप-रंग हम दोनों की आंखों में बराबर समाया रहा। हम बराबर यह सोचते रहे हैं कि हिमाचल में रहते हुए हमारी पहुँच में इतना कुछ है जो बाहर से यहां आने वाले व्यक्ति के लिए सहज ही सुलभ नहीं हो पाता। अपनी इसी सामर्थ्य और क्षमता का एहसास हमें अपने कार्य में आगे खींचता रहा। क्या कलम, क्या कैमरा दोनों की छटपटाहट के प्रति हम सचेत थे और तब जिस भी दिशा में उन्मुख हुए वहीं सह-योग का हाथ सहृदयता से आगे बढ़ा आता। मियां गोवर्धन सिंह 'जुब्बल' का सहयोग हमें कदम-कदम पर मिला है इसलिए किसी दिशा-विशेष की बात करना उनके सहयोग का सीमांकन होगा जो वांछ-नीय नहीं। मैं उनकी चर्चा एक सुहृद मित्र के रूप में ही नहीं करूंगा लेकिन एक लाइब्रेरियन की

हैसियत का यदि किसी व्यक्ति को एहसास हो तो अपने कृतित्व में उस अस्तित्व व व्यक्तित्व की परछाई वह बराबर देख सकता है। हिमाचल सचिवालय के जल जाने पर जब उसका पुस्तकालय भी जल गया तो वह व्यक्ति रोता रहा था, उसकी भूख और प्यास मिट गई थी। पुस्तकों के इस प्रेमी ने जिस लगाव और चयन से दुर्लभ और उपयोगी पुस्तकों को संगृहीत किया था, वह उसके जीवन की एक उपलब्धि थी जो उस भयानक अग्निफोट में भस्मीभूत हो गई। इसी व्यक्ति की मैत्री और सहयोग का हाथ इस पुस्तक के सम्पन्न होने तक हमारी ओर बढ़ा रहा जिससे लाभ उठाना हमारे लिए एक अपेक्षा बन गई थी।

किसी भी कार्य को आरंभ करने से पूर्व उसकी एक रूपरेखा मस्तिष्क में रहती है लेकिन वह उसका निश्चित व अंतिम रूप नहीं होता। यही बात इस पुस्तक को तैयार करने में भी सामने आयी। अंतिम रूप में पुस्तक दो भागों में बंट गई है—पहले भाग में पहाड़ी चित्रकला को अपनी सम्पूर्णता में देखा गया है। यहाँ मेरी यह कोशिश रही है कि पहाड़ी चित्रकला को समझने-बूझने के लिए पाठक को जिस पृष्ठभूमि की आवश्यकता होती है उसे प्रस्तुत किया जाए। यह मान्यता सही रूप से रूढ़ होनी चाहिए कि भारतीय चित्रकला के उद्भव और विकास, उसकी जीवन-प्रक्रिया में पहाड़ी चित्रकला एक कड़ी है। इस क्रमबद्ध विकास से अलग इसे नहीं देखा जा सकता। पहले भाग के पहले अध्याय में सिन्धु सभ्यता से लेकर मुगल-काल तक कला के एक क्रमबद्ध विकास की कहानी है। वह बाद में नये संदर्भ और बदली परिस्थितियों में पहाड़ी कला के रूप में अवतरित होती है जिसकी चर्चा हमारे दूसरे अध्याय का प्रतिपाद्य है। यहां पहाड़ी कला से सम्बद्ध अनेक स्थितियों पर प्रकाश डाला गया है जैसे कला और युग-बोध, पहाड़ी कला का काल, मुगल कला और पहाड़ी कला के भेद-अभेद, पहाड़ी कला—अजन्ता की थाती व समन्वयात्मक प्रक्रिया का एक पड़ाव, पहाड़ी कला का जन्म-स्थान, पहाड़ी कला का क्षेत्र, प्राकृतिक सौन्दर्य, पहाड़ी लोग, चित्रों का आदान-प्रदान, कलाकार की स्थिति तथा पहाड़ी कला के महत्त्वपूर्ण प्रकाशन व संकलन। ऐसे सम्बद्ध विषयों पर रुचिपूर्ण ढंग से जानकारी प्रस्तुत करने का ऐसा प्रयास रहा है जिससे पहाड़ी कला के सम्बन्ध में पाठक भिज्ञ होने के साथ कुछ अन्य महत्त्वपूर्ण प्रश्नों के प्रति जिज्ञासु हो उठे। पाठक इसी जिज्ञासा को लेकर तीसरे अध्याय में जब पहुँचता है तो वह कुछ अन्य बिन्दु अपने आकर्षण के प्रति उद्घाटित होते देखता है। यहाँ पहाड़ी चित्रकला की विषयवस्तु की चर्चा है जिसके दो महत्त्वपूर्ण पक्ष हैं—संस्कृति व धर्म की भूमिका तथा चित्रकला, काव्य और संगीत का समन्वय। पहाड़ी चित्रकला की यह एक अपूर्व उपलब्धि है कि इसमें हम उपर्युक्त तीन कलाओं का विचित्र सम्मिश्रण पाते हैं। चौथे अध्याय में रंग और रेखाओं का विवेचन है जो पाठकों को कुछ नई जानकारी के साथ विशिष्ट भी लग सकता है। पहाड़ी चित्रकला में रंग और रेखाएँ भरी-पूरी सार्थकता लिए है, पहाड़ी चितेरा अपनी कला के सृजन में सचेतन रूप से जीया है जिससे उसकी कलाकृतियों का आधुनिक अमूर्त्त अथवा वैसी ही प्रवृत्तियों की तरह कला-समीक्षक मनमाना अर्थ नहीं आँक सकता।

पाँचवें अध्याय का विषय है पहाड़ी चित्रकला में प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति। पहाड़ी चित्रकला की हर कृति अर्थपूर्ण है, उसका हर अवयव सार्थकता लिए हुए है। इन चित्रों को समझने-बूझने के लिए उनकी सांस्कृतिक पृष्ठभूमि का ज्ञान होना आवश्यक है, प्रतीकों के समझने पर उनका अन्तर्निहित सौन्दर्य मुखरित हो जाता है। इस दृष्टि से यह अध्याय महत्त्वपूर्ण है। छठे अध्याय का विषय

है---पहाड़ी कला के मुख्य चिंतन-स्त्रोत। पहाड़ी चित्रकला ने जिन विषयों को चित्रित किया है वह अत्यन्त व्यापक हैं और उनकी चर्चा करना एक अनुशासन का उल्लंघन करने के बराबर होता। यहाँ हमने केवल दो मुख्य चिन्तन-स्रोतों की साहित्यिक चर्चा करना इसलिए अनिवार्य समझा कि इसके विना पहाड़ी कलाकृतियों को देखने वाला इन चित्रों की विषयवस्तु के ज्ञान से अनभिज्ञ रह जाता और ऐसे अभाव में वह उनका मज़ा न ले पाता। फिर भी हमारा यह प्रयास रहा है कि पाठक एक ओर गीत गोविन्द और बिहारी सतसई सम्बन्धी साहित्यिक जानकारी पा जाए और साथ ही उनसे उद्भूत व अनुप्राणित कलाकृतियों का रसास्वादन कर ले। सातवें अध्याय में पहाड़ी चित्रकला के मुख्य नायक कृष्ण की चर्चा है। वास्तव में कृष्ण का जीवन पहाड़ी चितेरों तथा कला-पोषकों की आँखों से कभी तिरोहित नहीं हुआ। कृष्ण का चरित्र पहाड़ी चित्रकला की विषयगत अपेक्षा क्यों बन गई, यह समझना आवश्यक था। कृष्ण के चरित्र का विकास तथा उससे सम्बद्ध बहुविध रंगीनियों से अवगत होने पर ही पहाड़ी कलाकृतियों में अधिकांश का रसास्वादन किया जा सकता है। प्रथम भाग के अंतिम अध्याय में पहाड़ी चित्रकला के मुख्य प्रश्रयदाता राजा संसारचन्द और उनकी कलाप्रियता के दर्शन होते हैं जिसकी जानकारी इतनी ही अपेक्षणीय है जितनी ऊपर के अध्यायों की। यह आठवाँ अध्याय पढ़ते हुए भी विदित होगा कि पहाड़ी चित्रकला को जो स्थान प्राप्त हुआ, वह महाराजा संसारचन्द के बिना असंभव था। इसकी सुन्दरतम व उच्चतम उपलब्धियों के लिए यदि कोई एकमात्र तत्त्व उत्तरदायी रहा तो वह था महाराजा संसारचन्द का निजी व्यक्तित्व तथा उसमें भी विशिष्टतया उनका कलाप्रेम। और कलाप्रेम को मूर्त्त रूप देने के लिए उन्होंने कलाकारों को हर सुविधा दी और ऐसा वातावरण प्रस्तुत किया जहाँ कला की इन विशिष्टतम उपलब्धियों ने जन्म लिया।

पहले भाग के अध्ययन पर पाठक इस योग्य हो सकता है कि वह पहाड़ी चित्रकला की किसी कृति को देखकर समुचित आनन्द उठा सके। अपनी इस पृष्ठभूमि के साथ वह दूसरे भाग में समावेश करता है जहाँ हर अध्याय में पहाड़ी चित्रकला की एक विशिष्ट कलम से वह परिचित होता है। यहाँ उसे हर कलम का उसके सम्पूर्ण संदर्भ में आभास मिलेगा। इस संदर्भ को उकेरने में हमारा ध्यान बराबर उन ऐतिहासिक परिस्थितियों पर बना रहा है जिन्होंने उस विशिष्ट कलम का स्वरूप निश्चित किया है। एक बात स्पष्ट है कि किसी कलम का स्वरूप अधिकांशतः उसके प्रश्रयदाता अथवा पोषक की रुचि-शुचि के अनुकूल हुआ है। इसलिए तत्कालीन रियासतों की राजनैतिक व शासकीय व्यवस्था की चर्चा आवश्यक हो गई है। सबसे पहले हमने बसोहली कलम की चर्चा की है क्योंकि वह प्राचीनतम शैली रही। इसी दृष्टि से अन्य कलमों को भी क्रमबद्ध कर दिया गया है। किसी कलम पर विस्तार से विवेचन हुआ है और किसी अन्य पर अपेक्षतया संक्षेप में। किसी भी चर्चा को निश्चित शब्द-संख्या में रखना हमें वांछनीय नहीं लगा था। एक अन्य बात जिस पर हमारा ध्यान रहा वह थी ऐसी सामग्री प्रस्तुत करना जिस पर पाठकों को अन्यत्र अधिक पढ़ने को नहीं मिला है। पहले भाग में भी इसी ओर ध्यान दिया गया है और दूसरे भाग में भी। मण्डी कलम पर कुछ लिखा देखने में नहीं आया है। इसलिए कम महत्त्वपूर्ण होते हुए भी उस पर विस्तृत रूप से प्रकाश डालना उचित समझा है। ऐसी ही बिलासपुर और कुल्लू कलमें हैं जिनके सम्बन्ध में अभी तक कुछ विशेष देखने में नहीं आया है। इन कलमों की चर्चा मण्डी कलम-सी विस्तारपूर्ण तो नहीं

हो सकी है लेकिन सामर्थ्य-भर कुछ किया है। जम्मू व पुंछ पर जो सामग्री प्रस्तुत की गई है उसमें हमारा आधार आर्चर लिखित 'पंजाब हिल पेंटिंग्स' रहा। गुलेर और काँगड़ा पर अवश्य ही अंग्रेज़ी में प्रकाशित सामग्री पर्याप्त मात्रा में मिलती है लेकिन उस सामग्री को हमें अपने ढंग से समझने-बूझने और प्रस्तुत करने का एहसास बराबर बना रहा है। पहाड़ी चित्रकला में काँगड़ा कलम के अन्तर्गत सबसे परिष्कृत कलाकृतियाँ देखने में आयी हैं—काँगड़ा कलम की चर्चा में उसकी यही विशिष्टता हमारे चिन्तन की केन्द्रबिन्दु रही। चम्बा कलम पर पर्याप्त चर्चा हो सकती थी लेकिन चम्बा स्थित भूरिसिंह म्यूज़ियम की सामग्री का यथापेक्षित मात्रा में हम उपयोग नहीं कर पाये हैं। गढ़वाल कलम पहाड़ी चित्रकला की तीन प्रमुख शाखाओं में एक मानी गई है, उसे सुनियोजित और संतुलित ढंग से प्रस्तुत करने का हमारा प्रयत्न रहा है। पुस्तक के अंतिम अध्याय का विवेच्य है पहाड़ी रूमाल। पहाड़ी चित्रकला का एक अंग होते हुए भी पहाड़ी रूमाल कला-समीक्षकों की नज़रों में उपेक्षित ही रह गये हैं। यहाँ जिस विस्तार से इस विषय का प्रतिपादन हुआ है, वह पाठकों के लिए नई जानकारी होगी। दूसरे भाग में विभिन्न कलमों पर यथा सामर्थ्य एक ही स्थान पर चर्चा हो पायी है, हमारे लिए यही संतोष की एक बड़ी बात है। जो स्थान कला की दृष्टि से नाम नहीं बना सके हैं उनकी ओर दिए गये यदि हमारे किंचित संकेतों से कभी भविष्य में कुछ विस्तृत रूप से लिखा गया तो वह सराहनीय ही होगा। पहाड़ी कला पर जो भी सरुचि लिखा जायेगा, वह सरुचि पढ़ा जाएगा ही—ऐसा हमारा विश्वास है और यही विश्वास प्रस्तुत पुस्तक को लिखने में हमारा सबसे बड़ा सम्बल रहा।

यहां हमने जो भी कलाकृतियाँ उद्धृत की हैं उनके अध्ययन विशेष की दृष्टि से कुछ अन्य बातों पर भी प्रकाश डालने की आवश्यकता अनुभव की जा सकती है जैसे अमुक कलाकृति का रचना-काल, रचयिता तथा स्थान विशेष का पता लगाना। ऐसे प्रश्न फिलहाल हमने अपने अध्ययन-क्षेत्र से बाहर रखे हैं। पहाड़ी चित्रकला का रुचिपूर्ण ब्योरा प्रस्तुत करने का ही प्रश्न था—ऐसा रुचिपूर्ण ब्योरा जो इन कलाकृतियों का उसके सम्पूर्ण परिवेश में परिचय दे, जिससे उनकी कलात्मकता की पहचान व उनका रसपान हो सके।

आज जब यह पुस्तक प्रकाशक के हाथों में जा रही है तो हमें अपना परिश्रम फलीभूत होता दिखाई दे रहा है। मेरे साथ ही ओमचन्द हाण्डा ने भी पुस्तक को तैयार करने में बहुत मेहनत की है। जहाँ तक पुस्तक में छायाचित्र, रेखाचित्र, मानचित्र तथा कला सम्बन्धी साज-सज्जा का प्रश्न है वे सभी उन्होंने तैयार किये हैं, मेरा योगदान पुस्तक को लिखने तक रहा। लेकिन पुस्तक की हर पंक्ति, हर शब्द उनकी नज़रों से भी गुज़रा है, जहाँ-तहाँ उन्होंने कुछ सुझाया ही है। मण्डी कलम, बिलासपुर कलम और कुल्लू कलम पर तो उन्होंने मेरे साथ ही काम किया है, उनके अपने हाथ की अनेक पंक्तियाँ हैं लेकिन पुस्तक से उनका तालमेल बिठाने और भाषा एवं शैली की एकरसता बनाये रखने के लिए मुझे थोड़ा परिश्रम अवश्य करना पड़ा। उनके सहयोग से यह पुस्तक एक सांझा प्रयास बनकर रह गई है।

नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली के श्री कन्हैयालाल मलिक द्वारा पुस्तक को रुचिपूर्ण ढंग से प्रकाशित करने के लिए मैं हृदय से उनका आभार मानता हूँ। प्रकाशन से पूर्व मेरी चिन्ता यही थी कि जिस अतुलनीय कला की बात हमने यहाँ कही है उसका सुरुचिपूर्ण मुद्रण न हुआ तो हमारी

बात दब जाएगी, उस कला का सौन्दर्य व आकर्षण सही प्रेषण न पा सकेगा। आज यह पुस्तक आपके हाथों में है, कैसी बन पड़ी है, इसका निर्णय तो सुधि व सहृदय पाठक ही करेंगे। मैं अपनी ओर से कला-जगत् की रुचि-शुचि को यह भेंट अर्पित कर स्वयं उसका निर्णय सुनने के लिए आतुर हूँ।

अन्त में मैं उन समस्त कलाकारों, लेखकों, विद्वानों के प्रति आभार प्रकट करना अपना कर्तव्य समझता हूँ जिनकी कृतियों के आधारभूत इस पुस्तक का कलेवर निर्मित हुआ है।

सावेर कॉटेज,
संजौली, शिमला-६

—किशोरीलाल वैद्य

अनुक्रम

प्रथम खण्ड

द्वितीय खण्ड

परिशिष्ट

पहाड़ी चित्रकला
क्षेत्र तथा प्रमुख केन्द्र
किश्तवाड़
भद्रवाह
भद्रवाह
मिंधल
देवीकोटी
रामनगर
जम्मू
चम्बा
रामकोट
जसरोटा
बसोहली
चम्बा
डलहौजी
छतराड़ी
भरमौर
चन्द्र भागा नदी
केलोंग
लाहौल
परांग
काजा
सुजानपुर
पठानकोट
नूरपुर
रावी नदी
कांगड़ा
धर्मशाला
कांगड़ा
फतेहपुर
हरिपुर
गुलेर
बैजनाथ
बीर बंगाहल
मनाली
नगर
कुल्लू
सुलतानपुर
ज्वालामुखी
लम्बागांव
गोपीपुर
आलमपुर
नदौन
सुजानपुर टिहरा
ब्यास नदी
मण्डी
हमीरपुर
रिवालसर
मण्डी
होशियारपुर
जालन्धर
कुनथहड़
बिलासपुर
बिलासपुर
मुकेत
मुकेत
ममेल
काव
लावरंग
मुरंग
किल्वा
सराहन
रामपुर
सांगला
नीरथ
हाटकोटी
अर्की
नालागढ़
शिमला
सोलन
सरांय
लुधियाना
सतलुज नदी
सिरमौर
नाहन
सिरमौरी ताल
गढ़वाल
टिहरी
श्रीनगर
देहरादून
यमुना नदी
मुख्य कला केन्द्र
मील २० १० ० २० ४०
२० १० ० २० ४० किलोमीटर

प्रथम खण्ड

१
पहाड़ी चित्रकला से पहले

भारत में कला की प्राचीनतम परम्परा उसकी सिन्धु सभ्यता में मिलती है। पाँच हजार वर्ष प्राचीन इस सभ्यता में भाण्डों और ठीकरों पर जो रंगीन चित्रकारी देखने को मिलती है, वह हमारे पूर्वजों के कला-प्रेम की परिचायक है। इन खण्डहरों पर काले, फिरोजी आदि रंगों में अनेक प्रकार की ज्यामितिक आकृतियाँ चित्रित हैं। इन आकृतियों में पेड़-पौधों का अंकन तो हुआ है लेकिन मानव का नहीं। इसके बाद एक लम्बी कालावधि में चित्रकला के पाये जाने के सम्बन्ध में कोई जानकारी उपलब्ध नहीं है। लेकिन किन्हीं खोजबीनों के आधार पर डॉ० आनन्द के० कुमारस्वामी ऋग्वेद में अग्नि के चित्र का हवाला देते हैं जो चमड़े पर अंकित रहा होगा। एक वर्णन से ऐसा भी पता चलता है कि उस समय इन्द्र की मूर्त्तियाँ गायों पर उठाकर बेचने ले जायी जाती थीं। उत्तर-वैदिक-वाङ्मय में 'छायातप' आदि ऐसे शब्द आए हैं जो बाद में चित्रकला के प्रसंग में प्रयुक्त होने लगे। यों यह शब्द अपने प्रतीकार्थ में सांसारिक द्वन्द्व का बोधक है।

जातकों में जिस समाज का उल्लेख है, चित्रकला में उसकी रुचि का आभास मिलता है। जातकों में शिक्षा के अठारह विषयों में से जिन चार विषयों का पता चलता है उनमें चित्रकला एक है। उन दिनों चित्र-कला की शिक्षा अनिवार्य थी। राजकुमारों तथा अन्य शिक्षार्थियों के लिए चित्रकला का ज्ञान इतना आव-

श्यक था कि उसके अभाव में वे शिष्ट व सुसंस्कृत नहीं समझे जाते थे। इस प्रकार चित्रकार को समाज में सुप्रतिष्ठित व्यक्ति का स्थान प्राप्त था। जब चित्रकला का अत्यधिक बोलबाला हो गया तो उसके अनावश्यक व अवांछनीय प्रभाव के विरुद्ध भी आवाज़ उठी। बौद्धकालीन चित्र इतनी संख्या में और इतने आकर्षक बने कि स्वयं भगवान बुद्ध को एक समय पर भिक्षुओं को उन्हें देखने के विरुद्ध चेतावनी देनी पड़ी। शुक्राचार्य भी इसे अस्वर्ग्य मानते हैं, उनका विचार था कि चित्रकला से संसार में मोह बढ़ता है। ऐसा लगता है कि बुद्ध के युग में चित्रकला, विशेषकर व्यक्तिचित्र (शबीह), का इतना विकास हुआ कि लोग स्वभावत: उन से अनुराग होने पर उनके चित्रों को पूजने लगे। इस पर भगवान बुद्ध ने अपने व्यक्तिचित्र और उसकी पूजा को निषिद्ध कर दिया।

वात्स्यायन (तीसरी शताब्दी) के 'कामसूत्र' में निम्नलिखित श्लोक है जिसमें चित्रकला के छ: अंग बताए गए हैं :

रूपभेदा: प्रमाणानि भावलावण्य योजनम्।
सादृश्यं वर्णिकाभंगं इति चित्र षडंगकम्॥

इस श्लोक में चित्रकला के छ: अंग निम्नलिखित हैं—रूपभेद (The knowledge of appearances), प्रमाण (Correct perception), भाव (Action of feelings on forms), लावण्ययोजन (Infusion of grace, artistic representation), सादृश्य (Similitude), वर्णिकाभंग (Artistic manner of using the brush and colours—Tagore)[1].

इन अंगों की व्याख्या करते हुए श्री अरविन्द ने लिखा है, "उसकी (भारतीय कलाकार की) कला के छ: अंग, षडंग, रंग और रेखा वाली समस्त कृति में सामान्य रूप से पाये जाते हैं : वे आवश्यक मूलतत्त्व हैं और अपने मूलतत्त्वों में महान कलाएँ सर्वत्र एक-सी हैं। 'रूपभेद', अर्थात् आकार-प्रकार में अन्तर; 'प्रमाण', अर्थात् अनुपात रेखा और सम्पूर्ण आकार की व्याख्या, योजना, सुसंगति; 'भाव', अर्थात् रूप के द्वारा व्यक्त किया हुआ हृदयगत भाव या सौन्दर्यानुभूति; 'लावण्य', अर्थात् सौन्दर्य-भावना की तुष्टि के लिए सौन्दर्य और आकर्षण की खोज; 'सादृश्य', अर्थात् रूप और उसके संकेत का सत्य; 'वर्णिकाभंग', अर्थात् रंगों का क्रम, संयोग और सामंजस्य ये प्रथम अंग हैं। कला की प्रत्येक सफल कृति विश्लेषण करने पर इन्हीं अंगों में परिणत हो जाती है। परन्तु इन अंगों में से प्रत्येक को जो मोड़ दिया जाता है वही शिल्प-पद्धति के लक्ष्य और प्रभाव के समस्त भेद को पैदा करता है और जो अन्तर्दृष्टि इनके संयोजन के कार्य में सर्जनशील हाथ का मार्ग-दर्शन करती है उसका उद्गम एवं स्वरूप ही सफलता के आध्यात्मिक मूल्य के समस्त भेदों को उत्पन्न करता है और भारतीय चित्रकला का अनुपम स्वरूप एवं अजन्ता की कला का विशिष्ट आकर्षण उस अद्भुत आंतरिक, आध्यात्मिक मोड़ से उत्पन्न होता है जो भारतीय संस्कृति की व्यापक प्रतिभा ने कलात्मक परि-कल्पना और पद्धति को प्रदान किया था।'[2]

मानसोल्लास, कुमार-विहार और शिल्परत्न में भी चित्रकला की व्याख्या देखने को मिलती है। 'उत्तर-रामचरित' में अर्जुन द्वारा बताए गए वन के चित्र का वर्णन है। जैन-ग्रन्थ 'नायधम्मकला' की एक कथा में उन दिनों प्रचलित चित्रों का ज़िक्र है। श्री विष्णु धर्मोत्तर पुराण में चित्रकला की जो व्याख्या है

---

१. चित्रकारिता के उपर्युक्त छः अंगों का अंग्रेजी अनुवाद पर्सी ब्राउन के शब्दों में दिया गया है।
२. श्री अरविन्द, भारतीय संस्कृति के आधार, पृ० २५४।

उसमें उसका सांगोपांग वर्णन मिलता है। उक्त पुराण के निम्न शब्दों से यह सिद्ध होता है कि भारतवर्ष में आदिकाल से ही चित्रकला को समादृत स्थान प्राप्त था :

यथा सुमेरु प्रवरो नगानां
यथोरगानां गरुड़ प्रधानः।
यथा नराणां प्रवरः क्षितिपति
स्तथा कलानामिह चित्रकल्पः॥

—अर्थात् जिस प्रकार पहाड़ों में सुमेरु श्रेष्ठ है, पक्षियों में गरुड़ प्रधान है, नरों में राजा प्रवर है, उसी प्रकार कलाओं में चित्रकला सर्वोपरि है।

हमारे देश का जलवायु ऊष्म और आर्द्र है। जलवायु अनुकूल न होने के कारण संभवतः बहुत-सी प्राचीन कलाकृतियाँ नष्ट हो गईं। फिर भी साहित्य के उल्लेखों से यह बात पुष्ट होती है कि अति प्राचीन काल में भी भारत में चित्रकला की समृद्ध परम्परा बनी रही है। भित्ति-चित्रों की तो यहां अच्छी-खासी परम्परा रही जो आज तक ग्रामीण अंचलों में लोककला के रूप में किसी न किसी रूप में पायी जाती है। 'भित्ति' शब्द चित्रों के आधार के लिए यहाँ इतना ही रूढ़ हो गया है जितना यूरोप में 'कैनवास'। भारत में चित्रकला के लिए कई फलक प्रयोग में लाए गए जैसे दीवारें, चमड़ा, वस्त्र, लकड़ी, ताड़-पत्र, पत्थर, हाथीदाँत, कागज़ इत्यादि। प्राचीन भारत में भित्ति-चित्रों की समृद्ध परम्परा के अवशेष आज भी मिलते हैं। पहाड़ों को काटकर चैत्य, विहार और मन्दिरों का निर्माण हुआ। इन गुफाओं की दीवारों पर चित्र बने। यह तो निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि इन चित्रों को बनाने में किन उपकरणों का प्रयोग हुआ पर इतना तो स्पष्ट है कि उन गुफाओं की दीवारों पर गच (plaster) लगा दिया जाता था और उस पर चूने अथवा उस जैसी चीज़ की घुटाई करके उन्हें समतल बना दिया जाता था। इस प्रकार चित्रों के लिए भित्ति तैयार कर ली जाती थी। रेखांकन और रंगों की दृष्टि से ये चित्र बड़े ही सुन्दर और सजीव हैं। यह आश्चर्य का विषय है कि इतने लम्बे अन्तराल पर भी वे आभायुक्त चित्र मिटे नहीं। यदि कहीं-कहीं वे धुंधला गए हैं अथवा उचट गए हैं तो वे वहाँ आने-जाने वाले लोगों की नासमझी के कारण ही।

सरगुजा राज्य (मध्यप्रदेश) की रामगढ़ी पहाड़ी में जोगीमारा नामक एक गुफा है जिसके सम्बन्ध में विद्वानों का अनुमान है कि यह ईसा से कम-से-कम सौ वर्ष पूर्व बनी थी। भारतीय चित्रकला की दृष्टि से अजन्ता के बौद्ध गुफा-मन्दिर महत्त्वपूर्ण ही नहीं वे उसका आदिस्रोत भी हैं, कलाकारों के प्रेरणा-स्रोत हैं और किसी हद तक उनके पथ-प्रदर्शक भी। अजन्ता औरंगाबाद (दक्षिणी भारत) से लगभग ६० मील की दूरी पर है। शहरी शोर-शराबे से दूर ये गुफाएँ सह्याद्रि की घाटियों में पहाड़ों को काटकर बनाई गई हैं जहाँ बौद्ध-भिक्षुओं का निवास था। यहीं उन्होंने अपनी पूजा-उपासना की व्यवस्था की। अजन्ता की गुफाओं

में विहार (मठ) और पाँच चैत्य (स्तूप वाले विशाल भवन) हैं। इनमें से तेरह की दीवारों, छतों और खम्भों पर घनी चित्रकारी हुई है। इन गुफाओं का निर्माण ईसा से पूर्व पहली या दूसरी शताब्दी में शुरू हुआ और कुछ अन्य चौथी से लेकर सातवीं शताब्दी के बीच में बनीं। इन्हीं अंतिम तीन सौ वर्षों में ये भित्ति-चित्र भी बने। पर्सी ब्राउन के मतानुसार नवीं और दसवीं गुफाओं के चित्र प्राचीनतम हैं और अनुमान है कि ये गुफाएँ अधिक से अधिक पहली शताब्दी ईसवी में बनी होंगी। सबसे सुन्दर कृतियाँ गुप्तकाल की हैं, जिसे उसकी चतुर्दिक (विशेषकर कला और साहित्य की) प्रगति के लिए भारत का स्वर्णयुग माना जाता है।

अजन्ता भित्ति-चित्रों का मुख्य विषय बौद्ध-धर्म है। 'उनमें गौतम बुद्ध की जीवन-घटनाएँ, मातृ-पोषक-जातक, विश्वांतर-जातक, षड्दंत-जातक, रुरु-जातक और महाहंस-जातक आदि बारह जातकों में वर्णित गौतम बुद्ध की पूर्वजन्म की कथाएँ, धार्मिक इतिहास तथा बुद्ध की जीवन-लीला के दृश्य और राजकीय तथा लौकिक चित्र अंकित हैं।'[1] इन्हीं चित्रों में बाग़-बगीचे, जंगल, पौधे, पशु-पक्षी आदि अंकित हैं। इनके अतिरिक्त राज-दरबार के दृश्य भी देखने को मिलते हैं। पर्सी ब्राउन का मत है कि दसवीं गुफा के चित्रों पर किसी हद तक गांधार कला (भारतीय और यूनानी कलाओं का समुचित रूप) का प्रभाव है लेकिन रामधारीसिंह 'दिनकर' ने इसका खंडन किया है, "अब तो यह निश्चित-सा जान पड़ता है कि जिस समय इस गुफा का चित्रण हुआ, उस समय गांधार कला का कोई अस्तित्व नहीं था। पुलकेशी के दरबार वाले चित्र पर वे कुछ ईरानी प्रभाव भी बतलाते हैं। परन्तु इसमें दो-तीन विदेशी आकृतियों को छोड़, भारतीय परम्परा से कहीं भी प्रार्थक्य नहीं है।"[2]

अजन्ता के अतिरिक्त सिगिरिया (श्रीलंका) और बाघ (ग्वालियर) की गुफाओं में भी भित्ति-चित्र देखे जा सकते हैं। सिगिरिया में राजा कश्यप[3] की रानियों के चित्र, पारस के राजदूत का ऐतिहासिक चित्रण

१. दिनकर लिखित 'संस्कृति के चार अध्याय', पृ० ३२४-२५ में गौ० ही० ओझा की पुस्तक 'मध्यकालीन भारतीय संस्कृति' से उद्धृत।

२. रामधारीसिंह दिनकर, 'संस्कृति के चार अध्याय', पृ० ३२५।

३. राजा कश्यप ने अपने पिता का वध करने के बाद सिगिरिया में संरक्षण लिया था।

या विजय का जहाज़ से लंका के तट पर उतरने का चित्रण है। सिगिरिया के चित्रों का छठी शताब्दी के अन्त में और बाघ के चित्रों का उसी काल या सातवीं शताब्दी में निर्माण हुआ। बौद्ध-संस्कृति के दूत बौद्ध-भिक्षु प्रचारार्थ भारत से बाहर लंका, जावा, स्याम, बर्मा, नेपाल, खुतन, तिब्बत, जापान, हिन्दचीन और चीन की ओर बढ़े थे और वहां उन्हें अपने धर्म-प्रचार में पर्याप्त सफलता भी मिली थी। इन्हीं के द्वारा छोड़ी गई भारतीय संस्कृति की छाप वहाँ की वास्तुकला और चित्र-कला पर भी मिलती है। जावा में बोरबुदुर में बुद्ध का एक स्मारक-स्तूप है जिसमें बुद्धदेव की सहस्त्रों मूर्तियाँ हैं। आश्चर्य का विषय है कि भारतीय कला का ऐसा गौरवपूर्ण स्मारक तो भारत में भी देखने को नहीं मिलता। कंबोदिया में अंगकोर के स्थान पर भी भारतीय शिल्पों के भग्नावशेष पर्याप्त मात्रा में विद्यमान हैं। लगता है एक समय कंबोदिया, चंपा, अन्नम और तोंकिन में भारतीय सभ्यता का बहुत प्रचलन रहा।

गुप्तकाल में हिन्दू धर्म की इतनी चमक-दमक रही कि उसमें बुद्ध-धर्म दब-सा गया। इस युग में गुप्त-कालीन शासकों ने बौद्ध-धर्म का कोई प्रत्यक्ष विरोध भी नहीं किया। बौद्ध-धर्म की अवनति का जो प्रत्यक्ष कारण नज़र आता है वह तो महायान और हीनयान के आपसी झगड़े थे।

गुप्तकाल में भारतीय सभ्यता और संस्कृति की चतुर्दिक प्रगति हुई जिसमें साहित्य और कला के पनपने के लिए अत्यन्त अनुकूल वातावरण मिला। इस युग में भव्य शिल्पयुक्त भवनों का निर्माण हुआ, सुन्दर कलायुक्त भित्ति-चित्रों की सर्जना हुई। चौथी शताब्दी के अन्त में (४०० ई०) फाहियान और सातवीं शताब्दी (६२९-६४५ ई०) में ह्यूनसांग दो चीनी यात्रियों ने भारत का भ्रमण किया। उन्होंने अनेक स्थानों पर बने ऐसे भवनों का उल्लेख किया है जो कलापूर्ण भित्ति-चित्रों से सुसज्जित थे। फाहियान ने कपिलवस्तु के एक राजभवन का वर्णन किया है जिसमें बुद्ध के एक आकर्षक चित्र का उल्लेख है। ह्यूनसांग ने उत्तर-पश्चिमी भारत के एक मठ को देखकर तो बहुत ही प्रशंसा की जिसके दरवाज़े, खिड़कियाँ और दीवारों की पट्टियाँ चित्रों से सुसज्जित थीं। लेकिन बाद में इन कलापूर्ण भवनों की देख-रेख का अभाव रहा। ज्यों-ज्यों

बौद्ध-धर्म अवनति की ओर अग्रसर हुआ त्यों-त्यों उसके स्मारक भी उपेक्षित होते गए और उनमें बहुत से मिट गए। मुग़लों के आक्रमण से तो कला विलुप्तप्राय ही हो गई। लेकिन इस काल में भी अजन्ता और बाघ धर्माश्रय होने के कारण हिंसक राजनैतिक व साम्प्रदायिक झगड़े, झटके से सुरक्षित रह ही गए। सिगिरिया के लिए पहुँच बहुत कठिन होने के कारण भी वह सुरक्षित रही।

चित्रकला की दृष्टि से अनेक ऐसे महत्त्वपूर्ण स्थान हैं जिन पर अभी पर्याप्त प्रकाश नहीं पड़ा जैसे वेरुल (औरंगाबाद), बादामी (अइहोव-महाराष्ट्र), सित्तनवासल (पुदुकोटा-मैसूर) तथा दक्षिणी भारत के अनेक मन्दिर गण्य हैं। छठी शताब्दी की बादामी और बीजापुर की गुफाओं में शिव और पार्वती की कथा के अनेक प्रसंग उभरे हैं। सित्तनवासल के चित्र सातवीं और आठवीं शताब्दी के हैं जिनका विषय जैन-धर्म है। इसी दृष्टि से अन्य उपलब्धि एलोरा की गुफा के चित्र हैं जो आठवीं सदी में बने थे। इन गुफाओं में शिव की कथाएँ और भगवान विष्णु के अवतार चित्रित हुए हैं। इन चित्रों में अजन्ता की रेखाओं की पटुता नहीं। "आश्चर्य का विषय है कि वेरुल के चित्रों की किसी ने भी सुध नहीं ली है। यहाँ के चित्रों का विषय ब्राह्मणत्व है। इन चित्रों में हम देखते हैं कि अजन्ता की सुकोमल और मृदुल शैली में अब जकड़बन्दी शुरू हो गई है। आँख शून्य में अटक रही है एवं ठोड़ी और नाक नुकीली होने लगी है। प्रायः आठवीं शताब्दी तक रेखाओं में वेग और आकृतियों में सजीवता है। परन्तु, उसके बाद, ह्रास और भी अधिक बढ़ता है।"[१]

दक्षिणी भारत के मन्दिरों में चित्रकला के जो प्रमाण मिलते हैं उन्हें 'दिनकर' चित्रकला का 'अपभ्रंश' रूप मानते हैं। इसी प्रकार के भित्ति-चित्र उत्तरी भारत में स्थित मदनपुर स्थान में भी मिले हैं। इस अपभ्रंश रूप की छाप पालवंश के अधीन बिहार-बंगाल राज्य और उसके अतिरिक्त नेपाल पर तो नज़र नहीं आती, शेष समस्त भारत पर है।

ग्यारहवीं शताब्दी के अन्त में हमें जैन-शैली या गुजरात-शैली के दर्शन होते हैं। इस शैली का विकास पन्द्रहवीं शताब्दी तक हुआ। इस काल में ही पालों के अन्तर्गत जो चित्र बने वे पाण्डुलिपियों में मिलते हैं। इन चित्रों का विषय बौद्ध-कथाएँ हैं। ये चित्र सुन्दर हैं और उन पर अजन्ता का प्रभाव देखा जा सकता है। इन चित्रों के रेखांकन में जो मुख्य परिवर्तन हुआ नज़र आता है वह उनकी एकाकृतियां हैं। तीन-चार शताब्दियों तक जीवित इस शैली के तेरहवीं सदी के बाद के जो उदाहरण मिलते हैं उनमें पूर्ववर्ती चित्रों की मृदुलता नहीं है। इसी समय तिब्बत और खुतन (पूर्वी पाकिस्तान) में जो कला के प्रमाण मिलते हैं उनमें अजन्ता शैली का अनुकरण मिलता है क्योंकि खुतन में बहुत समय तक हिन्दू शासक रहे। यहाँ यूनानी, ईरानी और चीनी कलाओं ने भी ज़ोर पकड़ा और भारतीय कला के एक नये समन्वित रूप ने जन्म लिया। यहाँ भित्ति-चित्रों के जो उदाहरण मिले हैं, उनसे एक बात स्पष्ट होती है कि जब अन्यत्र भारतीय कला देखने में नहीं आयी, यहाँ पर अजन्ता का प्रभाव बहुत स्पष्ट नज़र आता है। सातवीं-आठवीं शताब्दी के बाद तिब्बत के मन्दिरों और विहारों पर भगवान् बुद्ध के सम्बन्ध में जो भित्ति-चित्र मिलते हैं, उन पर भी अजन्ता-शैली का प्रभाव है।

नवीं से बारहवीं सदी के बीच चित्रों के लिए अधिकांशतः ताड़पत्र का प्रयोग हुआ है। इसी समय की बंगाल की पाण्डयकालीन लिपियाँ ताड़पत्रों पर अंकित हुईं। इन चित्रों के अधिकांश विषय बौद्ध-कथाएँ ही रहीं। भारतीय लघु चित्रों का विकास यहीं से होता है। इसलिए यह कहना सत्य नहीं है कि भारतीय लघु

---

१. दिनकर, 'संस्कृति के चार अध्याय', पृ० ३२६।

चित्र सम्पूर्णतया ईरानी कलम के प्रभावस्वरूप बने। ग्यारहवीं और पन्द्रहवीं सदी के मध्य के जो गुजराती चित्र आज उपलब्ध हैं, उनका अधिकांश उपयोग धर्मग्रन्थों के लिए हुआ है। शुरू में ये चित्र ताड़पत्र पर ही बने। चौदहवीं सदी के लगभग कागज का उपयोग शुरू हुआ। जैन-शैली कुछ अनगढ़ होते हुए भी किन्हीं विशेषताओं से युक्त है। जब ताड़पत्र के स्थान पर जैन-शैली के चित्रकारों ने कागज का उपयोग किया तो उनमें कुछ और भी निखार आ गया। उक्त शैली अधिकतर कल्पसूत्रों को चित्रित करती है। इन चित्रों में रंगों के साथ सोने के वर्कों का प्रयोग भी हुआ है। फिर तो यह प्रयोग लोकप्रिय ही हो गया जिसके उदाहरण हमें वैष्णव ग्रन्थों के चित्रण में भी मिलते हैं।

सोलहवीं शताब्दी भारत के लिए एक संक्रांतिकाल था। पुरानी व्यवस्था विघटित हो चुकी थी लेकिन अभी नयी स्थापित नहीं हो पायी थी। मुग़लों का शक्ति-वैभव बढ़ रहा था लेकिन वह पुरानी मान्यताओं से एक झंझावात के समान टकराया। इस युग में कला तिरोहित ही हो गई हो, यह तो नहीं कहा जा सकता। यद्यपि सुलतान लड़ाइयों में उलझे रहते थे, फिर भी संगीत, साहित्य और वास्तुकला की ओर इनका ध्यान बराबर बना रहा। जौनपुर, अहमदाबाद और मांडु इस्लाम संस्कृति के प्रमुख केन्द्रों के रूप में प्रख्यात हो चुके थे। लेकिन भारतीय परम्परा में संस्कृति के उन्नयन में इस काल में कोई प्रयत्न न हुआ। इधर पश्चिमी प्रभाव के अन्तर्गत कई परिवर्तन अपरिहार्य हो गए। सुन्दरता के मानदण्ड भी बदल गए थे जैसे आँखों के अंकन से प्रतीत होता है। अब बड़ी आँखों को सौन्दर्य का प्रतीक नहीं माना जाने लगा। रेखाओं का लयात्मक घुमाव भी तिरोहित हो गया था। रंगों के चयन में भेद आ गया था। ऐसी परिस्थितियों में जहाँ हिन्दू कला की ओर अरुचि रही वहाँ बाहरी प्रभावों को नयेपन के आवेश में स्वीकार किया गया।

इस्लाम मूर्तिपूजा को मान्यता नहीं देता। कुरान के मतानुसार जो व्यक्ति प्राणियों के चित्र बनाता है वह सृष्टि के रचयिता के कार्य में बाधा डालता है। क़यामत के दिन अल्लाह उससे कहेंगे—"तू मेरी बराबरी करना चाहता था। अब अपने चित्रों में जीवन फूंककर अपना काम पूरा कर।" और मनुष्य इस काम में असमर्थ होगा इसलिए वह उसे जहन्नुम भेज देंगे। इस प्रकार हम देखते हैं कि इस्लाम के प्रभाव में चित्रकला को उपेक्षा मिली। लेकिन ईरानी प्रभाव में मुस्लिम समाज भी चित्रकला के प्रति अपनी अरुचि कायम न रख पाया। भारत में मुग़लकाल में वास्तुकला व स्थापत्य-कला को प्रश्रय मिला और मुग़ल शासकों की प्रशस्तियों में जो उनकी जीवनियाँ लिखी गयीं उनमें चित्रकला के प्रति उदासीनता दिखाना उनके लिए संभव न हो सका।

जिस समय मुग़ल-शासक चित्रकला, संगीत आदि के विरोधी रहे उस समय में भी लोक-कला पनपती रही। यदि शासकों के हाथों कला की उपेक्षा किन्हीं धार्मिक व साम्प्रदायिक दुराग्रहों के कारण हुई तो यह स्वाभाविक था कि सामान्य जनता उस स्थिति की प्रतिक्रियास्वरूप अपनी कलारुचि को अपने तरीके से अभिव्यक्त करती। ऐसी अवस्था में अभिव्यक्ति का आग्रह रहता है और कला पूर्व-स्वीकृत नियमों का बहिष्कार कर नये आयाम ढूँढती है। लोक-कला अपनी सहृदयता के कारण सक्षम व समर्थ भी है। यही कारण है कि राज्य-प्रश्रय के अभाव में वह अपेक्षतया अधिक फलती-फूलती है।

बाबर तैमूर वंश से था। बाबर ने पानीपत की लड़ाई में इब्राहीम लोधी को परास्त कर भारत-भर में मुग़ल राज्य की नींव डाल ली थी। सन् १५३० के करीब वह अपनी सत्ता को दृढ़तापूर्वक स्थापित कर चुका था। पन्द्रहवीं शताब्दी में ईरानी कला अपने शिखर पर रही। तैमूर वंशज ईरान व तुर्किस्तान में कला की उन्नति में अपनी रुचि दिखाते रहे थे और सहयोग देते रहे थे। बाबर को साहित्य में रुचि रही, वह सौन्दर्य-

चेता था। प्रकृति में फूल-बेलों और पशु-पक्षियों को वह सरुचि निहारा करता था। यद्यपि वह चित्रकला, संगीत और वास्तुकला में रुचि रखता था लेकिन यह कुछ वह अपनी पूर्वजों की पृष्ठभूमि में ही पसन्द कर सका। भारतीय कला में उसकी दिलचस्पी न बन सकी। संभवत: इसका यह भी कारण हो सकता है कि वह अपने अधिकांश समय में लड़ाइयों में उलझा रहा और भारतीय भूमि और प्रतिभा का वह आदर न कर सका।

बाबर के पुत्र हुमायूँ की रुचि भी चित्रकला में बनी रही। जब वह शेरशाह से हारकर ईरान भागा तो अपने वहाँ के प्रवास-काल में उसने ईरानी चित्रकला के प्रति प्रेम जागृत किया। जब वह भारत लौट आया था उसके बाद सन् १५४६ ई० में उसके यहाँ दो ईरानी चित्रकार अब्द-अल समद और मीर सईद अली रहे जिन्होंने इस देश में ईरानी शैली का प्रचार किया।

हुमायूँ के प्रवास-काल में अकबर भी बाद में ईरान गया था जहाँ ईरानी कला को उसने सरुचि देखा। अकबर ने स्पष्ट रूप से चित्रकला और चित्रकारों को मान्यता दी। अकबर साम्प्रदायिकता से दूर रहा। उसने मुसलमान और हिन्दू सम्प्रदायों के चितेरों को संरक्षण दिया। वह हिन्दू-धर्म विषयक कला को भी खुले हृदय से पसन्द करता था। भारतीय राष्ट्रीयता का जो रूप उसके समन्वयात्मक दृष्टिकोण से पनपा उससे आज भी हम अपनी संस्कृति पर नाज़ करते हैं। उसके यहाँ के चितेरों में दसवंत, बसावन, मुकुन्दलाल और केशवदास विशेष रूप से गण्य रहे। अकबर के दरबार में हर प्रकार के विद्वान व कलाकार को सहजता से मान्यता मिलती रही। उसके पुस्तकालय में फारसी ग्रन्थ तो थे ही लेकिन उनके अतिरिक्त उसने भारतीय प्राचीन ग्रन्थों का फारसी में भी अनुवाद करवाया। अकबर ने इतिहास पर भी अनेक ग्रन्थ लिखवाए। बाबर की जीवनी की कुछ सचित्र प्रतियाँ तैयार करवाईं। तारीख-ए-खानदान-ए-तैमूरिया भी तैयार करवाई जिसका विषय मुग़ल-इतिहास है। लेकिन इन सभी इतिहास संबंधी पुस्तकों में साउथ कैंसिंगटन म्यूज़ियम में सुरक्षित 'अकबरनामा' सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। इस पुस्तक में जो चित्र हैं वे ऐसे चितेरों ने तैयार किए हैं जो अपने क्षेत्र-विशेष में दक्ष थे। इसमें बादशाह के जीवन की किन्हीं विशेष घटनाओं को बड़े ही प्रभावशाली ढंग से चित्रित किया गया है।

दिनकर अपनी पुस्तक 'संस्कृति के चार अध्याय' में मुग़ल कलम को शुद्ध भारतीय कलम मानते हैं। उनका यह मत भारतीयता के प्रति अत्यधिक जोश ही कहा जा सकता है अन्यथा यह स्पष्ट है कि मुग़ल कलम पर अधिकांश में ईरानी कला का प्रभाव है, भारत की अनुपम कला थाती 'अजन्ता' का नहीं।

अकबर और बाद में जहाँगीर के समय में भी कई विदेशी चित्रकर शाही दरबार में रहे। अकबर ने ईरान से बेहजाद[1] के शिष्यों को बुलाया था। अबुल फज़ल द्वारा लिखित 'आइने-अकबरी' में बाहर से आए कुछ चित्रकारों के नाम मिलते हैं जैसे कलमक से फर्रुख, शीराज से अब्दुल समद और तबरेज से मीर सईद अली।

अकबर ने रामायण, महाभारत, योग-वाशिष्ठ, हरिवंश नामक हिन्दू ग्रंथों के फारसी अनुवाद करवाए थे जो हज़ारों चित्रों से सुसज्जित हैं। इसी समय अबुल फज़ल ने पंचतन्त्र का फारसी रूपान्तर 'अनवार-सुहेली' किया। दोनों पुस्तकों की अनेक सचित्र प्रतियाँ मिलती हैं। 'अकबरनामा' भी सचित्र पुस्तक है। दो अन्य सचित्र पुस्तकें उपलब्ध हैं—'रज्मनामा' और 'तारीखे तैमूरी'।

अकबर कलाप्रेमी शासक था। वह सभी धर्मों के प्रति सहिष्णु था। यही कारण है कि उसके काल

---

१. बाबर ने अपनी आत्मकथा में कमाल उद्दीन बेहजाद को संसार का सबसे बड़ा चित्रकार माना है। बेहजाद खुरासान के बादशाह सुलतान हुसैन के राज्यकाल का बहुत ही मशहूर चित्रकार था।

में हिन्दू ग्रंथों को भी मान्यता मिली। अपने पूर्वजों के समान ईरानी कला तो उसके लिए ग्राह्य रही ही है, यों कला के नाम पर जो सूझा उसका उसने स्वागत किया। यही कारण है उसके यहाँ चीनी कला के साये भी देखे जा सकते हैं। उसके समय में जहाँ स्वर्ग, नरक और दानव-लोक के दृश्य अंकित मिलते हैं, वहाँ परी-लोक, तिलिस्म और ऐयारी के चित्र भी हैं। सन् १५६७ में अकबर ने 'हम्ज़ानामा' के विषय को चित्रित करवाया। बारह जिल्दों की इस पुस्तक में अनेक चित्र थे जिनमें से दो सौ के लगभग अब तक बचे हैं। इस पुस्तक में मुहम्मद के चाचा के साहसिक कारनामों की गाथा है। इस पुस्तक के सम्बन्ध में तत्कालीन उल्लेखों से पता चलता है कि इन चित्रों को पचास से भी अधिक मुसव्वरों ने तैयार किया था लेकिन उनमें मीर सैयद अली, अब्द-उस-समद के नाम उल्लेखनीय हैं। 'हम्ज़ानामा' के चित्रों की विशेषता उनके गहरे और उजले रंग हैं, प्रकृति और वास्तु-सौन्दर्य का अंकन है। क्लीवलैंड म्यूज़ियम में सुरक्षित तूतीनामा (संभवत: सन् १५६६ ई०) से पता चलता है कि अकबर के समय में कला अपने समन्वयात्मक रूप में उभर चुकी थी। उसने जहाँ ईरानी परम्परा को मान्यता दी वहाँ वह स्थानीय प्रतिभा व परम्परा को भी सहृदय आत्मसात करता रहा। अकबर के शासनकाल के अन्तिम वर्षों में दो अन्य नामी चितेरे थे—मनोहर और बसावन।

अकबर के समय में सूक्ष्म शैली के अन्तर्गत कला को निखारने पर बल दिया जाने लगा था। अकबर स्वयं मुसव्वरों की कलाकृतियों को गौर से देखता था और दरबारी चितेरों को जो काम दे रखे थे उनका निरीक्षण वह स्वयं करता था। परिष्कृत कलाकृतियों पर पुरस्कार दिए जाते थे और चितेरों की पदोन्नति भी कर दी जाती थी। अनवरी के दिवान की एक सचित्र प्रति (सन् १५५८) जेबी रूप में मिलती है जिसका कागज़ बारीक और सुन्दर है और बहुत से पृष्ठों पर पशु-पक्षी और फूलों के चित्रों का सुनहरी अंकन हुआ है।

अकबर की महानता इस बात में थी कि वह प्रतिभा का आदर करता था और प्रतिभा के विकास में जिस स्वतन्त्रता व स्वच्छन्दता की अपेक्षा रहती है उसे वह सहज ही मान्यता देता था।

जहाँगीर के दरबार में समरकन्द के चित्रकारों का उल्लेख है। वह कलाप्रेमी बादशाह था। उसने अकबर द्वारा स्थापित परम्परा को बहुत हद तक सुरक्षित रखा लेकिन अकबर-सा कलाप्रेमी व कलापोषक बाद में कोई न हुआ। जहाँगीर के समय में मुग़ल कुतुबखाने में बहुत बड़ी संख्या में पुस्तकें व चित्र संकलित हुए। इस मुग़ल कुतुबखाने के अवशेष भारत की बड़ी-बड़ी रियासतों में भी पहुँचे। इन अवशेषों में बहुत से चित्र भी सम्मिलित हैं।

जहाँगीर को ईरानी कलम प्रिय थी। उसके काल में प्रकृति-चित्रण बड़ी सूक्ष्मता से हुआ है। दरबारी शान-शौकत भी अनेक चित्रकारों का विषय रहा। जहाँगीर की आत्मकथा भी चित्रों से सुसज्जित है। उस्ताद मंसूर जहाँगीर के समय का सबसे प्रसिद्ध चितेरा था जिसे रूपचित्रण में कमाल हासिल था लेकिन इसकी कृतियाँ विचित्र और मीर हाशिम जैसी न थीं। उसके चित्रों में पक्षियों और पशुओं का विशिष्ट चित्रण रहा। जहाँगीरकालीन चित्रों के हाशिये का चित्रण कला-कौशल से भरपूर है। यहाँ हमें अरब का प्रभाव विशेष रूप से नज़र आता है। यही प्रभाव पशु-पक्षी, शिकार, पिकनिक पार्टियों, नृत्य व संगीत तथा विभिन्न व्यवसायों में व्यस्त लोगों के चित्रण में भी स्पष्ट है। वनस्पति का विशिष्ट ढंग से चित्रण तथा दृष्टिक्रम (पर्सपेक्टिव) के समावेश से प्रकट होता है कि यूरोपीय कला के प्रति जहाँगीर की रुचि रही और उसने उसके प्रभावों को समेटा है। रूप-चित्रण में भी व्यक्ति विशेष की आकृति तथा व्यक्तित्व के प्रतिफलन पर बल दिया जाने लगा था। फिर भी दरबारों के चित्रण में पूर्वजों का अंकन शाही चित्रालय में सुरक्षित अनुरेखण (ट्रेसिंग) की मदद से ही हुआ है। यह एक प्रगतिशील कला का ही लक्षण है कि वह अपने आस-पास से

अनेक सुरुचिपूर्ण साए समेटता चली जाती है। जहाँ जहाँगीरकालीन कला ने पुरातन को मान्यता दी, वहाँ उसे यूरोपीय और राजस्थानी प्रभाव भी ग्राह्य रहे। कला का यह रुख भारतीय प्रकृति के अनुकूल ही था।

शाहजहाँ के युग में मुग़लकला अपनी चरमावस्था में पहुँची। स्थापत्य-कला ने नये आयाम स्थापित किए। बारीकी और नफासत कला के मानदण्ड बन गए। लेकिन चित्रकला अपने आप में किन्हीं शाही रंगीनियों की अनुकृति मात्र रह गई। शाहजहाँ के युग का 'विचित्र' नामक एक सुप्रसिद्ध चितेरा था। उसी का समकक्ष मीर हाशिम था। दारा शिकोह का एक चित्र[1] है जिसे एक हिन्दू कलाकार हुनहर ने सन् १६५० ई० में बनाया था। शाहजहाँ के समय में रूप-चित्रण रूढ़िगत हो गया था। ऐसे चित्रण में व्यक्ति विशेष के इर्द-गिर्द खाली जगह रहने दी जाती थी। साधु-सन्तों के भी अनेक चित्र उभरे जिनसे पता चलता है कि मुग़लकाल में अब उन्हें खूब मान्यता मिलने लगी थी। इतिहास भी कलाकारों की दृष्टि से एकदम ओझल नहीं हुआ क्योंकि शाहजहाँनामा के लिए अनेक चित्र बने जिनमें दरबार, जुलूस, शिकार, युद्ध, विवाह आदि का चित्रण हुआ है। इन चित्रों में शैली की परिपक्वता तो नज़र आती है लेकिन ऐसा भी लगता है कि शाहजहाँ के ही काल में कला के ह्रास के बीज प्रस्फुटित हो चुके थे।

औरंगज़ेब एक साम्प्रदायिक बादशाह था। वह इस्लाम का अन्धानुयायी और दूसरे धर्मों के प्रति असहिष्णु रहा। आरंभ में तो उसने संगीतज्ञों, चित्रकारों तथा कारीगरों को मान्यता दी लेकिन १६६५ ई० के बाद वह उनसे ऊब बैठा। ललित कलाओं के प्रति उसमें स्वाभाविक चिढ़ पैदा हो गई। उसने चित्रालय बन्द कर दिया, संगीतज्ञों तथा कवियों को खदेड़ दिया। मुग़ल साम्राज्य जो एक अर्से से कला का पोषक रहा, अब कला के ही विघटन और विनाश का सबसे बड़ा कारण बन गया था। कलाकार आश्रय की खोज में इधर-उधर भागने लगे थे और अवध, बिहार, बंगाल, राजपूताना तथा दक्षिणी भारत जहाँ-जहाँ भी उन्हें अनुकूल वातावरण मिला, वे चले गए। जहाँ-जहाँ ये कलाकार बसते गए वहीं-वहीं उनकी कला आश्रयदाता की रुचि और स्थानीय विशेषताओं व अपेक्षाओं के अनुरूप पनपती गई। कला का विघटन इस रूप में भी हुआ कि अनेक कलाकार किसी बड़े आश्रयदाता के अभाव में बाजारी कीमत पर कलाकृतियाँ तैयार करने लगे और उन्हें बेचने लगे।

---

१. पर्सी ब्राउन की पुस्तक 'इंडियन पेंटिंग्स अण्डर द मुगल्स' में उद्धृत।

२
जन्म और विकास
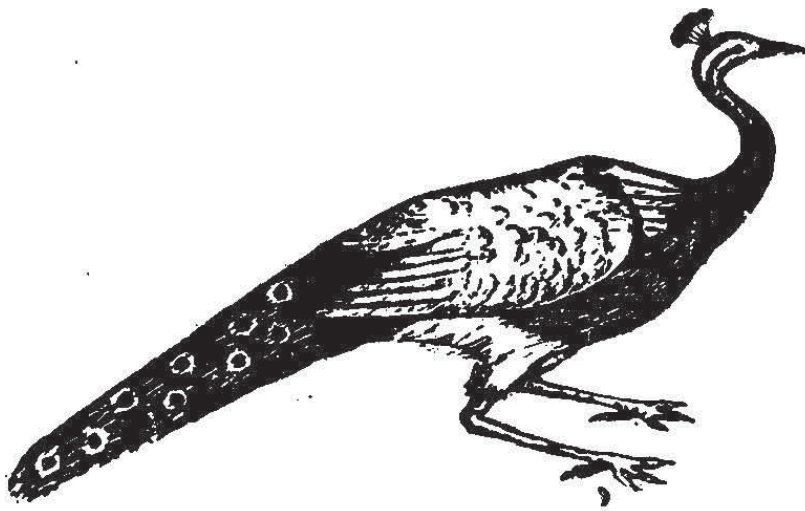
अनेक सामाजिक और राजनैतिक परिवर्तनों के बावजूद भारत में कला की सुदृढ़ परम्परा बनी रही है। इसका कारण समझना कठिन नहीं। यहाँ का प्राचीन साहित्य युग-युग से जन-मानस के लिए एक साथ आकर्षण, श्रद्धा और अध्ययन का विषय रहा है। उस साहित्य की शाश्वत चेतना ने कभी उस पर सामयिक धूल बैठने नहीं दी। यही कारण है कि युग-बोध के ऊपर भी उसका दर्शन मानवीय चेतना पर बराबर छाया रहा है, वह कभी भी अलग नहीं दीख पड़ता। भारतीय साहित्य व कला का अन्योन्याश्रय संबंध इसी दर्शन का समरूपी प्रतिफलन है।

सोलहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में पहाड़ी कला अपने झीने-से आवरण में प्रस्फुटित होती नज़र आती है। सत्रहवीं शताब्दी के अंतिम चरण में राजा कृपालपाल (सन् १६७८-१७६३) के संरक्षण में जम्मू की पहाड़ियों में बसोहली शैली का विकास हुआ। अठारहवीं शताब्दी में बसोहली शैली खूब पनपी जिसका प्रमाण हमें भागवत-पुराण संबंधी दो पूरी चित्रावलियों के रूप में मिलता है। अपने सम्पूर्ण रूप में पहाड़ी कला का विकास अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध (सन् १७५० ई० से आगे) में हुआ। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में यह कला अपने नये आयाम स्थापित कर चुकी थी। सन् १७६० से १८०५ तक के पन्द्रहवर्षीय काल में

कांगड़ा कला अपने उच्चतम शिखर में पहुँची और सुन्दरतम कलाकृतियों का सृजन हुआ।

मुग़ल-काल में जो कला अपने कलेवर को निखारकर भी विषय की दृष्टि से उद्दीप्त, उन्मुक्त और आभापूर्ण नज़र नहीं आती वह उपर्युक्त काल में अपने प्राचीन साहित्य व संगीत को रंग और रेखाओं के माध्यम से इस रूप में मुखरित करती नज़र आयी है कि संसार-भर में वह अपना समकक्ष नहीं रखती। मुग़ल चित्रों की बँधी काया के प्रतिकूल पहाड़ी कलम प्रवहमान और छंदयुक्त है। मुग़ल शैली के चित्र मुख्यत: प्रकृति-चित्रण तक सीमित हो चुके थे लेकिन पहाड़ी चित्रों में बिम्ब-विधान उसको कलात्मक श्रेष्ठता देने में समर्थ है। मुग़लकालीन चितेरों के दिल्ली से निष्कासन और पंजाब की पहाड़ी रियासतों में आश्रय से कला में जो परिवर्तन हुआ उस पर एम० एस० रंधावा की निम्न टिप्पणी[1] उल्लेखनीय है—"कला दिल्ली मुग़ल दरबार के दुर्गन्धमय वातावरण से निकलकर पंजाब-पहाड़ियों की स्वच्छ वायु में पहुँची। यहाँ कलाकारों से यह अपेक्षित न था कि वे अपने मालिकों के प्रशंसापूर्ण चित्र बनाएँ या राजाओं तथा अन्य दरबारियों की विलासमय घटनाओं को उद्धृत करें। सहज घुमाव और प्रवहमान रेखाओं से युक्त मुग़ल शैली ने अन्ततः कांगड़ा घाटी की रमणीय वनस्थलियों के चित्रण में पूर्णता प्राप्त की। मुग़ल चित्रकला ने शैली, रूप-चित्र, दरबारी शान, तड़क-भड़क और शिकार के दृश्यों के अंकन में एक बहुत बड़ा स्तर प्राप्त किया था। मुग़ल बादशाहों, बेगमों तथा दरबारियों के रूप-चित्र निःसंकोचतः अति उत्तम रचनाएँ हैं और ऐतिहासिक महत्त्व रखती हैं। फिर भी जिस कला का मुख्य उद्देश्य व्यक्तिगत उपलब्धि का गुणगान करना है, उसका महत्त्व स्थायी नहीं हो सकता। पथभ्रष्ट कुलीनों के प्रेमालाप और शरीर-संबंधी व्यापार भी किसी कला को जन्म दे सकते हैं लेकिन उस महान कला को नहीं जो मानवता को अनुप्रेरित करती है।"

पर्याप्त समय तक पहाड़ी कला के अलग अस्तित्व पर प्रकाश नहीं पड़ा था। मैटकाफ़ सबसे पहले व्यक्ति थे जिन्होंने उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभ में कांगड़ा में पहाड़ी चित्रकला की खोजबीन की। बाद में डॉ० आनन्द के० कुमारस्वामी इस ओर आकृष्ट हुए। सन् १९०८-१० के दौरान उन्होंने पहाड़ी चित्रकला पर अनेक भाषण दिए तथा लेख लिखे। १९१० ई० में ही इलाहाबाद में डॉ० कुमारस्वामी ने काँगड़ा-शैली

---

१. Art escaped from the musty atmosphere of the Mughal court of Delhi to the pure air of the Punjab hills. Here the artists were not required to paint flattering portraits of their masters, nor of princes and nobles drinking and making love to courtesans. The Mughal style with its gentle curves and flowing line ultimately achieved fulfillment in the charming landscape of Kangra Valley. The Mughal painting achieved a very high level in technique, portraiture and in the portrayal of courtly pomp and pageantry and hunting scenes. The portraits of Mughal emperors and their queens and nobles are undoubtedly masterpieces, and are valuable as historical records. However, an art whose main concern is glorification of personal achievement could not have an abiding value. The amours of a degenerate nobility and trade in human flesh could create an art which can amuse but not the great art which inspires humanity.

—M. S. Randhawa, Kangra Paintings of the Bhagavata Purana, pp. 34-35.

के कुछ चित्र प्रदर्शित किए। १६१२ ई० में कुमारस्वामी ने राजपूत कला को मुग़ल कला से भिन्न बताया। राजपूत कला को भी वे दो भागों में बाँटते हैं—पहाड़ी कला और राजस्थानी कला। पहाड़ी कला का क्षेत्र पंजाब की पहाड़ी रियासतें रहा और राजस्थानी कला का क्षेत्र राजस्थान का मैदानी भाग। इसके पश्चात १६१६ ई० में उनकी वृहत् कृति 'राजपूत पेंटिंग' प्रकाशित हुई जिसमें इन कलाकृतियों की सांस्कृतिक भूमिका पर सुरुचिपूर्ण ढंग से प्रकाश डाला गया था। इस कृति के माध्यम से कला-प्रेमियों का ध्यान पहाड़ी कला की ओर आकृष्ट हुआ और यह निश्चित रूप से माना जाने लगा कि यह कला समस्त कला-संसार में एक गौरवपूर्ण स्थान रखती है। यद्यपि इस कृति के पश्चात अनेक सुन्दर संकलनों का प्रकाशन हुआ लेकिन इसकी महत्ता पूर्ववत बनी हुई है। इस कृति से पहाड़ी चित्रकला के इतिहास पर भी प्रकाश पड़ा है और बहुत-सी भ्रान्तियों का निराकरण हुआ है। डॉ०कुमारस्वामी की उक्त कृति के पश्चात १६२६ ई० में ओ० सी० गांगुली की कृति 'मास्टरपीसिज़ ऑफ़ राजपूत पेंटिंग' का प्रकाशन हुआ जिसमें कांगड़ा कलम की कतिपय सुन्दर कृतियाँ उद्धृत हुई हैं। इस संकलन में कलाकृतियों के जन्म-स्थान व तिथियों के संबंध में कुछ अशुद्धियाँ रह गई हैं जिसका कारण समझना कठिन नहीं—पहाड़ी चित्रकला का सही-सही इतिहास स्थान-विशेष पर पहुँचे बिना लिखना कठिन है, इसी कारण से उनका अध्ययन अधूरा रह गया। १६२६ ई० में एन० सी० मेहता की पुस्तक 'स्टडीज़ इन इंडियन पेंटिंग' प्रकाशित हुई जिसमें काँगड़ा-शैली में 'गीत-गोविन्द' के पदों को लेकर अनेक शृंखलाबद्ध चित्र उभरे लेकिन इन चित्रों के पहचानने में उन्होंने गलती की। उनके विचार में ये चित्र गढ़वाल-शैली से सम्बद्ध थे। १६३१ ई० में जे० सी० फ्रैंच द्वारा लिखित 'हिमालयन आर्ट' नामक पुस्तक छपी। १६३० ई० में जे० सी० फ्रैंच ने पंजाब की पहाड़ी रियासतों का दौरा किया था और गुलेर, लम्बाग्रांव, मण्डी, कुल्लू, अर्की और चम्बा के राजाओं से मिले तथा अनेक चित्र-संकलन देखने का उन्हें अवसर मिला। उनकी पुस्तक 'हिमालयन आर्ट' एक रुचिपूर्ण यात्रा-साहित्य की कृति है। इस पुस्तक से पहाड़ी कला के अध्ययन में बहुत से विद्वानों को बड़ी मदद मिली है। इसके पश्चात एक लम्बे अर्से तक पहाड़ी कला पर इधर-उधर बेशक कुछ लेख प्रकाशित हुए हों लेकिन कोई नया संकलन अथवा सामग्री प्रकाश में नहीं आयी। १६५२ ई० में डब्ल्यू० जी० आर्चर की दो पुस्तकें, 'इंडियन पेंटिंग इन द पंजाब हिल्स' और 'कांगड़ा पेंटिंग' प्रकाशित हुईं। प्रथम पुस्तक में लेखक ने पहाड़ी कला की विभिन्न शैलियों का विद्वत्तापूर्ण व विश्लेषणात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है। उनका ही यह मत था कि काँगड़ा कलाकृतियों का जन्म-स्थान हरिपुर गुलेर रहा। इस संबंध में हमने अन्यत्र विस्तृत ब्यौरा दिया है। आर्चर के अध्ययन से एम० एस० रंधावा ने प्रेरणा प्राप्त की और १६५० ई० में वे इसी आशय से कांगड़ा घाटी गए और उन्होंने इस विषय पर अध्ययन शुरू किया। उन्होंने अपने अध्ययन और विश्लेषण से बहुत ही महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। उनका यह योगदान निम्नलिखित महत्त्वपूर्ण प्रकाशनों के रूप में देखने को मिलता है—'काँगड़ा वैली पेंटिंग्स', 'कृष्ण लिजेन्ड इन पहाड़ी पेंटिंग' और 'बसोहली पेंटिंग'। इसके अतिरिक्त रंधावा के निम्न चार कलापूर्ण विनिबन्ध नेशनल म्यूज़ियम ने प्रकाशित किए हैं—काँगड़ा पेंटिंग्स ऑफ़ द भागवत पुराण, काँगड़ा पेंटिंग्स ऑन लव, काँगड़ा पेंटिंग्स ऑफ़ द गीत-गोविन्द, काँगड़ा पेंटिंग्स ऑफ़ द बिहारी सतसई। इसके बाद एक अन्य विनिबन्ध प्रतीक्षित है—'काँगड़ा रागमाला पेंटिंग्स'। रंधावा की खोज व्यवस्थित व महत्त्वपूर्ण है क्योंकि उन्होंने यथा-स्थान घूमकर राज-परिवारों के चित्र-संकलनों का अध्ययन किया, कलाकारों की उत्तर-पीढ़ियों से जानकारी प्राप्त की और अनेक सम्पर्कों से यथायोग्य सहायता ली। पहाड़ी कला का अध्ययन डॉ० मुल्क-राज आनन्द ने भी योग्यता और तन्मयता से किया है लेकिन कार्ल खण्डलवाला की वृहत् पुस्तक 'पहाड़ी मिनि-

एचर पेंटिंग' में बहुत ही खोजपूर्ण सामग्री उपलब्ध हुई है।

कुमारस्वामी ने पहाड़ी चित्रकला के अनेक कलाकेन्द्रों का भ्रमण किया। समस्त कलाप्रेमी अथवा कला-संसार इस विद्वान् कला-प्रेमी का ऋणी रहेगा जिन्होंने पहाड़ी कला के लयात्मक सौन्दर्य को नज़दीक से पहचाना और उसका एक विशिष्ट कला के रूप में परिचय दिया। उन्होंने लिखा है, "जो वनस्थलि-चित्रण में चीनी-कला की उपलब्धि रही वही यहाँ प्रेम के चित्रण में प्राप्त हो सका। यदि ऐसा दुनिया में कभी भी और कहीं भी अन्यत्र नहीं हुआ है तो यहीं वे पश्चिमी द्वार पूरी तरह खुल पड़े हैं। प्रेमियों की बाहें एक-दूसरे के गले में जा पड़ी हैं, आँख आँख से जा मिली है, गुनगुनाती सखियां कुछ अन्य बात नहीं करतीं बल्कि कृष्ण के प्रेमाचरण की ही बात करती हैं, पशु भी कृष्ण की बाँसुरी की ध्वनि से चित्रवत हो गए हैं और सभी तत्त्व राग-रागिनियों को सुनने के लिए मूकावस्था में रुक गए हैं।"[1] पहाड़ी कलाकृतियाँ सामान्यतः कलाकारों का परिचय प्रस्तुत नहीं करतीं, इन कलाकृतियों में कलाकारों के नाम अंकित नहीं लेकिन इन कलाकृतियों की ओर जब जे० सी० फ्रैंच, डब्लयू० जी० आर्चर, गोट्ज़, कार्ल खण्डलवाला, एम० एस० रंधावा ऐसे विद्वान आकर्षित हुए तो उनके धैर्य और लगन से की गई खोज के महत्त्वपूर्ण परिणाम निकले। कला के अनेक पक्षों पर प्रकाश पड़ा और किन्हीं कलाकारों का अता-पता भी मालूम हुआ।

भारतीय कला एवं दर्शन का पश्चिमी जगत् को परिचय देने में डॉ० आनन्द के० कुमारस्वामी की देन बहुत ही महत्त्वपूर्ण रही है। वह स्वयं वर्षों तक बोस्टन के 'म्यूज़ियम ऑफ़ फाइन आर्ट्स' के क्यूरेटर रहे। यही कारण है समस्त अमेरिका के संग्रहालयों में उक्त संग्रहालय भारतीय कला का सर्वोत्तम संग्रह है, विशेष-कर भारतीय चित्रकला की विशेष उपलब्धियाँ यहाँ देखी जा सकती हैं और उनमें भी पहाड़ी शैली के चित्र।

एक अर्से तक पहाड़ी चित्रों की ठीक से पहचान न हो सकी थी और इन चित्रों को राजपूत कलम के अन्तर्गत ही समझा गया जिसका जन्म-स्थान राजपूताना रहा। लेकिन बाद में इस संबंध में खोजबीन हुई और अजित घोष ने ऐसा भी संकेत दिया कि सोलहवीं शताब्दी के जिन किन्हीं विशेष चित्रों को अभी तक राजपूताना से सम्बद्ध समझा गया था वे वास्तव में कांगड़ा कलाकृतियाँ हैं।

भारत के अनेक संग्रहालयों में पहाड़ी चित्रकला के चित्र संगृहीत हैं। पंजाब म्यूज़ियम, चंडीगढ़; नेशनल म्यूज़ियम, नई दिल्ली; भारत कला भवन, बनारस; इलाहाबाद म्यूनिसिपल म्यूज़ियम; प्राविंशियल म्यूज़ियम, लखनऊ; इंडियन म्यूज़ियम, कलकत्ता तथा प्रिंस ऑफ़ वेल्स म्यूज़ियम, बम्बई में अत्यन्त सुन्दर कलात्मक चित्रों के संग्रह हैं। अन्य संग्रह हैं—भूरिसिंह म्यूज़ियम, चम्बा और हिमाचल लोक-संस्कृति संस्थान, मण्डी।

भागवत-पुराण संबंधी कलाकृतियों को छोड़कर अन्य टिहरी-गढ़वाल के महाराजा और लम्बागाँव के राजा के संकलन में हैं। भागवत-पुराण संबंधी चित्रों की संख्या १२० है जिनका औसतन आकार १२" × ८"

१. "What Chinese art achieved for landscape is here accomplished for love. Here if never and nowhere else in the world, the Western Gates are opened wide. The arms of the lovers are about each other's necks, eye meets eye, the whispering 'Sakhis' speak of nothing else but the course of Krishna's courtship, the very animals are spell bound by the sound of Krishna's flute, and the elements stand still to hear the ragas and raginis."

—A. K. Coomaraswamy, Rajput Painting, Vol. I, p. 7.

है। इन चित्रों का बाहरी किनारा लाल रंग के बिन्दुओं से अंकित है और भीतरी किनारा नीले-काले में रंगा हुआ है। रासपंचाध्यायी संबंधी चित्रों के किनारे गहरे नीले रंग में हैं और उन पर सुनहरी रंग में पुष्प अंकित हैं। भागवत-पुराण संबंधी कलाकृतियाँ विभिन्न संकलनों में बिखरी हुई हैं जिनमें पचास चित्रों का एक संकलन बम्बई के जगमोहनदास मोदी के पास था। अब इन चित्रों को भारत सरकार ने उनसे लेकर नई दिल्ली स्थित नेशनल म्यूज़ियम में रखा है। कुछ अन्य चित्र डोगरा आर्ट गैलरी, जम्मू तथा लाहौर म्यूज़ियम में संगृहीत हैं। इनके अतिरिक्त जिन लोगों के निजी संकलनों का पता चला है उनमें बम्बई की श्रीमती माधुरी देसाई, श्रीमती सुमती मोरारजी, श्री अलमा लतीफ, पूना के श्री एफ० डी० वाड़िया, कलकत्ता के श्री गोपीकृष्ण कनौड़िया, जुब्बल, हिमाचल प्रदेश, के राजा योगेन्द्रचन्द्र, शिमला के श्री ओ० सी० सूद तथा भज्जी (शिमला हिल्स) के राणा आर० सी० पालसिंह हैं।

अजन्ता की थाती व समन्वयात्मक प्रक्रिया का एक पड़ाव

पहाड़ी कला संसार-भर की अग्रणी चित्रकलाओं में अपना स्थान रखती है। यह सामान्यतः नज़र नहीं आता जब कोई कला पहाड़ी कला के समान संस्कृति की इतनी आकर्षक रेखा बन गई हो। अजन्ता भारतीय चित्रकला की प्राथमिक थाती बनी रही है। किन्हीं संस्कारजन्य कारणों से जन-सामान्य द्वारा अजन्ता उपेक्षित भी रही लेकिन कलाकारों की दृष्टि से अजन्ता के भित्ति-चित्र एकदम ओझल नहीं हो सके और जाने-अजाने में वे अपनी इस विचित्र थाती के प्रति किसी न किसी रूप में ऋणी रहे। ग्रिफिथ ने ही १८९७ ई० में पहली बार कला-प्रेमियों का ध्यान अजन्ता के भित्ति-चित्रों की ओर आकर्षित किया था। इसके बाद लेडी हैरिंघम इस ओर आकर्षित हुई। ई०बी० हावेल (१९०८ ई०) का नाम तो भारतीय कला के साथ उसके अन्यतम प्रशंसकों के रूप में जुड़ गया है। उन्होंने भारतीय कला को खूब समझा और उसका सुन्दर व आकर्षक रूप में कलाप्रेमी जगत् को परिचय दिया।

अजन्ता उन्मुक्त छन्दों में गायी हुई गाथा के नाम से भी अभिहित हुई है। इसके सरल और मुक्त रूप से अभिभूत होकर डी० एच० लारेंस ने लिखा था—"अजन्ता ! वाह ! स्त्री-पुरुषों का कितना सरल, कितना आन्तरिक, कितना परिपूर्ण संबंध, वाह ! उसमें उदारता है, श्रद्धा है। शारीरिक होते हुए भी उसमें कर्दम नहीं पर काम है। बोतिचेली अजन्ता के सामने अश्लील प्रतीत होता है। अजन्ता तो मानवीय कला का अन्तरिक्ष है। मानव की समृद्धि का चरम उत्कर्ष। स्त्री-पुरुष के परिपूर्ण, निबिड़, आन्तरिक, सरल, सूर्य-काम, भरपूर संबंधों की छटा ! आजकल हम जिसे काम कहते हैं, वह एकांगी और ईर्ष्या से भरा है। उसमें प्रभुत्व का दर्प है। पर अजन्ता नितान्त निष्पाप है।"

एक अन्य दृष्टि से अजन्ता के चित्रों में रुचि के दो कारण हैं—उक्त चित्रों की कालातीत अक्षुण्णता और रेखाओं व रंगों का लयात्मक सामंजस्य। यही दो कारण हैं कि वे कलाकार-मन की भावभूमि पर अपने इम्प्रिंट्स छोड़ती रहीं। इस प्रकार आज तक 'अजन्ता' भारतीय चित्रकला की एक जीवन्त थाती बनी रही और इसी एहसास पर चित्रकला विभिन्न काल में किसी न किसी रूप में जीवित तो रही पर एक लम्बे अन्तराल के पश्चात ही यह संभव हुआ था कि अजन्ता की थाती इस ढंग से संभली कि भारतीय कला ने पहाड़ी कला के रूप में नये आयाम तो स्थापित किए ही, भारतीय मानस व चेतना को भी सक्षम रूप से मुखरित किया।

अजन्ता भारतीय कला का युग-युगान्तर से मूल प्रेरणा-स्रोत रहा। अजन्ता की कृतियाँ अपने रेखा

और रंगों में जो चैत्य अर्थ लिए हैं वह जीवन की समर्थ अभिव्यक्ति है। यह कहना अनुचित नहीं कि कांगड़ा कलाकृतियों का उद्‌गम ढूंढना हो तो वह भित्तिचित्रों की ऐसी परम्परा है जिसका आरम्भ अजन्ता के भित्ति-चित्रों से होता है। लारेंस बिनयोन का भी इससे मिला-जुला मत इस प्रकार है—"काँगड़ा आकृतियों का उद्‌गम भित्तिचित्र से हुआ है। जिन प्राचीनतम उदाहरणों के संबंध में हमें मालूम है, यद्यपि शायद वे बहुत ही कम हैं, वे भी सत्रहवीं शताब्दी से पहले के हैं और अपूर्व रूप से प्राचीन हैं : जीवन्त प्रकृति के निरूपण के स्थान पर उन्होंने पारम्परिक विधि को चुना है लेकिन भित्तिचित्रों के अनुकूल ही उन्होंने वृहत् विधान को धारण किया है।"[१]

पहाड़ी कला को अजन्ता की थाती के रूप में पर्सी ब्राउन ने भी स्वीकारा है—"राजपूत चित्रकला, जो इसी नाम से अभिहित हुई है, अपनी अभिव्यक्ति में विशिष्टत: 'हिन्दू' है और इसके विभिन्न रूपों से यही पता चलता है कि यही भारत की स्वदेशी कला है और अजन्ता के पुरातन भित्तिचित्रों की सीधी थाती है।"[२]

पहाड़ी कला का जन्म-स्थान

यद्यपि पहाड़ी कला ने काँगड़ा कला के नाम से ख्याति अर्जित की तथापि यह किसी हद तक विवादास्पद विषय रहा कि इस कला का मुख्य केन्द्र अथवा जन्म-स्थान कांगड़ा था या गुलेर। बहुसम्मत बात यह है कि पहाड़ी कला का अभ्युदय गुलेर में ही हुआ। पहाड़ी कला के जो चित्र आज उपलब्ध हैं, उनमें गुलेर कलम निखरी हुई नज़र आती है। गुलेर कलम में उभरी आकृतियों में सौन्दर्य का आकर्षण तो है ही, लालित्य व सुकुमारता भी द्रष्टव्य है। संभवत: १७८० ई० के आस-पास जब गुलेर शैली अपने सर्वोच्च निखार में नज़र आती है, इसने काँगड़ा में प्रवेश किया और इस प्रकार यह काँगड़ा कलम के नाम से अभिहित होकर प्रतिष्ठित हुई।

१४०५ ई० में गुलेर कांगड़ा की ही एक शाखा के रूप में स्थापित हुआ था। गुलेर का जो प्रथम शासक था उसने कांगड़ा पर भी राज्य किया था। बाद में उसने कांगड़ा छोड़कर गुलेर में नये राज्य की नींव डाली थी। परिवार में वह सबसे बड़ा था। इस प्रकार कटोच राजपूतों की नज़रों में गुलेर को अपेक्ष-

---

१. Kangra drawings are derived from wall painting. The earliest examples, we know, though perhaps scarcely any are peculiar than the seventeenth century, are singularly archaic : they substitute traditional formula for observation of living nature, but they retain something of the large design appropriate to mural painting.

—Lawrence Binyon : Introduction to Himalayan Art by J. C. French, p. 1.

२. This Rajput painting, for that is the title by which it has become designated, is essentially Hindu in expression and in many aspects demonstrates that it is the indigenous art of India, a direct descendant of the classic frescoes of Ajanta.

—Percy Brown, Indian Painting, p. 54.

तया अधिक सम्मान प्राप्त था। कांगड़ा राज्य के मुकाबले में गुलेर एक छोटी-सी रियासत होने पर भी लब्ध-प्रतिष्ठ राज्य रहा। गुलेर में कला को प्रश्रय देना एक परम्परा बनी। शासक बदले लेकिन परम्परा सुदृढ़ होती चली गई। गुलेर की राजधानी हरिपुर पर्याप्त समय तक कला का केन्द्र बनी रही।

जब हम पहाड़ी कला के जन्म-स्थान की बात करते हैं तो यह भ्रांति हो सकती है कि यह कला आरंभ में केवल गुलेर में जन्मी और बाद में समीपवर्ती रियासतों में इसका प्रचार-प्रसार हुआ। वास्तव में पहाड़ी कला ने लोक-कला के रूप में जन्म लिया और अपने उत्तरोत्तर विकास में भी पहाड़ी कला का लोक-कला के साथ चोली-दामन का रिश्ता रहा। यह सहजता से स्वीकारा जा सकता है कि पहाड़ी क्षेत्रों में लोक-कला किसी न किसी रूप में सर्वत्र व्यापक रही, राज्य-प्रश्रय में इसे निखारना अपेक्षणीय बन गया और राजाओं की कला-अभिरुचि व किन्हीं धार्मिक मान्यताओं के अनुरूप लोककला सभ्य व सुसंस्कृत होती हुई पहाड़ी कलम या काँगड़ा कलम के नाम से अभिहित हुई।

जहाँ तक गुलेर में पहाड़ी कला के जन्म की बात है, इसका विकास गोवर्धनचन्द के राज्य में १७३०ई० से १७६० ई० के दौरान हुआ। गुलेर काँगड़ा कला का जन्म-स्थान क्यों कहलाया, इसके उत्तर में कुछेक कारण बतलाए जा सकते हैं। पहली बात तो यह है कि गुलेर के शासकों का पर्याप्त समय तक मुग़ल साम्राज्य से सम्पर्क बना रहा। जहाँगीर, शाहजहाँ और औरंगज़ेब से उनके संबंध बने रहे और यह स्वाभाविक था कि कुछ मुग़ल चितेरे गुलेर के शासकों के साथ चले आए हों। यह भी हो सकता है कि किन्हीं पहाड़ी चितेरों को गुलेर शासक के साथ दिल्ली पहुँचने का अवसर मिला हो और वहाँ से वे मुग़ल कला से परिचित हुए हों। पहाड़ी कला किसी न किसी रूप में व्यापक तो रही ही, उस कला के चितेरों के लिए यह कठिन न था कि वे मुग़ल कलम की नफासत को सहजता से अपनाते। औरंगज़ेब के समय में कलाकारों के प्रश्रय की परम्परा छिन्न-भिन्न हो गई थी और उसके काल में अनेक चितेरे पहाड़ी हिन्दू राजाओं के यहाँ भाग आए थे। यहाँ उन्हें अनुकूल वातावरण मिला। मुग़ल साम्राज्य का प्रश्रय खोने के बाद जब चितेरे प्रश्रय की खोज में भागे तो उनके रास्ते में पहला पहाड़ी राज्य, जहाँ मैदानों के नज़दीक होने के कारण पहुँचना सहज व सुगम था, गुलेर ही था। इस कारण भी वहाँ पहाड़ी कला के सबसे पहले सभ्य व सुसंस्कृत कला के रूप में जन्मने की बात समझ में आती है। गुलेर में रूपचित्र बनाने की सुदृढ़ परम्परा नज़र आती है जिसका वर्तमान राजा बलदेवसिंह के निजी संकलन से पता चलता है। इस संकलन में गोवर्धनचन्द के पूर्वजों—यथा दलीपसिंह, राजसिंह, विक्रमसिंह, मानसिंह, रूपचन्द, विजयचन्द और जगदीशचन्द के चित्र हैं। गोवर्धनचन्द तक पहुँचते-पहुँचते गुलेर कलम चित्रकला के रूप में फलती-फूलती नज़र आयी है। गुलेर में ही काँगड़ा कलम का अभ्युदय हुआ, इसकी पुष्टि इस बात से भी होती है कि काँगड़ा कलम के प्राचीनतम चित्र गुलेर से सम्बद्ध हैं जिनमें राजा गोवर्धनचन्द और उनके परिवार तथा अन्य विषयक अनेक चित्र सम्मिलित हैं। राजा गोवर्धनचन्द की परम्परा में प्रकाशचन्द (१७६०ई०) और भूपसिंह (१७९० ई०) कला-पोषक के रूप में सामने आते हैं। बहुत-से चित्र उनके समय में निर्मित हुए। लेकिन जब राजा संसारचन्द (१७७४-१८२३ ई०) ने सम्पूर्ण पहाड़ी राज्यों में अपनी शक्ति का संचय किया और उनकी शक्ति का सूर्य चमकने लगा तो यह स्वाभाविक ही था कि समीपवर्ती पहाड़ी राज्यों से अथवा मुग़ल साम्राज्य से चितेरे उनकी ओर आकर्षित होते। राजा संसारचन्द स्वभावत: कलाप्रेमी थे और उन्होंने इसका अत्यधिक परिचय दिया है। गुलेर के स्थान पर अब काँगड़ा राज्य की राजधानी सुजानपुर-टीहरा कलाकेन्द्र बन गया था और यहीं पहाड़ी कला की सुन्दरतम उपलब्धियों ने जन्म लिया।

पहाड़ी चित्रकला का क्षेत्र

पहाड़ी चित्रकला लगभग पन्द्रह हज़ार वर्गमील के क्षेत्र में फैली हुई थी। पहाड़ी चित्रकला का यह क्षेत्र जम्मू से टिहरी और पठानकोट से कुल्लू तक लगभग १५० मील लम्बा और १०० मील चौड़ा है। आर्थिक दृष्टि से पहाड़ी क्षेत्र मैदानों की अपेक्षा अभी तक पिछड़े हुए हैं लेकिन वे अन्य दृष्टि से सुसम्पन्न भी रहे हैं। बाहरी शक्तियों अथवा हमलावरों से उन्हें मैदानों की तरह अधिक जूझना न पड़ा और यहाँ शांति बनी रही। यद्यपि ये छोटे राज्य आपस में उलझे रहते थे लेकिन अपनी प्रजा में वे शांति के समर्थक थे।

कलाकार जिस शान्त वातावरण की अपेक्षा करते थे वह उन्हें पश्चिमी हिमालय की इन पहाड़ी रियासतों में मिला। किसी भी कला के निर्माण में वातावरण का प्रभाव प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से अवश्य रहता है। यह पहाड़ी कलाकृतियों को देखने से सहज ही प्रकट हो सकता है। इस तथ्य को यों भी सभी ने स्वीकारा है। सुप्रसिद्ध कला-समीक्षक हर्बर्ट रीड इस संबंध में लिखते हैं—"मैं वातावरण संबंधी तत्वों की महत्ता को बढ़-चढ़कर नहीं बताना चाहता लेकिन फिर भी तथ्य यह है कि जब कभी कोई विचारधारा—चाहे वह महज़ शैली से संबंधित हो अथवा गंभीर रूप से धार्मिक व आध्यात्मिक हो—भिन्न जलवायु और भौतिक परिस्थितियों में स्थानांतरित की जाती है तो वह सम्पूर्ण रूप से बदल जाती है। यह उस प्रचलित सामान्य प्रकृति के अनुरूप बन जाती है, जो उस धरती और मौसम की उत्पत्ति है—जो एक समाज की विशिष्ट आत्मा है।[१]

कनिंघम के अनुसार पश्चिमी हिमालय के तत्कालीन राज्यों को तीन समुदायों में बाँटा गया है—काश्मीर संघ, डूगर संघ और त्रिगर्त संघ।

काश्मीर संघ में १३ राज्य थे और काश्मीर उनका अग्रणी था। इस क्षेत्र में इस्लाम की मान्यता थी। डूगर संघ में २२ राज्य थे जिनमें निम्नलिखित १६ हिन्दू राजधर्म था—जम्मू, मानकोट, जसरोटा, लखनपुर, साम्बा, त्रिकोट, अखनूर, रियासी, दलपतपुर, भाऊ, भोटी, चनेहनी, बन्द्रालटा, बसोहली, भद्रवाहा और भादू। अन्य ६ जिनमें इस्लामी शासक थे इस प्रकार थे—किश्तवाड़, पूंछ, कोटली, राजौरी, भिंभर और खड़ी-खड़ियाली। इन राज्यों में जम्मू अग्रणी था। तीसरे राज्य-समुदाय में शाहपुर ही केवल एक मुसलमान रियासत थी, अन्य हिन्दू रियासतें निम्नलिखित थीं—काँगड़ा, गुलेर, कोटला, जसवान, सिबा, दातारपुर, नूरपुर, चम्बा, सुकेत, मण्डी, कुल्लू, कुटलेहड़ और बंगाहल। इन राज्यों में कांगड़ा अग्रणी था जो आदिकाल से त्रिगर्त के रूप में सुप्रसिद्ध रहा।

कुछ अन्य इतिहासज्ञों ने चनाब के पूर्वी भाग में स्थित २२ राज्यों को जालन्धर और डूगर क्षेत्र में निम्नलिखित रूप से बाँटा है :

---

१. "I do not want to exaggerate the importance of climatic factors but the fact remains that whenever an ideological movement—whether merely stylistic or profoundly religious and spiritual—is transplanted into a region of different climatic and material conditions, that movement is completely transformed. It adopts itself to the prevailing ethos—that emanation of the soil and the weather which is the characteristic spirit of a community."　　—Herbert Read

जालन्धर क्षेत्र : चम्बा, नूरपुर, गुलेर, दातारपुर, सिबा, जसवान, काँगड़ा, कुटलेहड़, मण्डी, सुकेत और कुल्लू।

डूगर क्षेत्र : चम्बा, बसोहली, भादू, मानकोट, बन्द्रालटा, जसरोटा, साम्बा, जम्मू, चनेहनी, किश्तवाड़ और भद्रवाहा।

ये राज्य आपस में उलझे रहते थे। एक-दूसरे की ज़मीन और जायदाद की लूट-खसोट इनका व्यवहार था। आपस में लड़ाई-झगड़े साधारण बात थी। लेकिन इस सबके बावजूद उनमें मेल-सन्धियाँ भी असामान्य न थीं और इससे भी अधिक उनमें रिश्ते-नाते जुड़ते रहते थे। कला के ही सन्दर्भ में आवश्यक स्थानों पर इन लड़ाई-झगड़ों व रिश्ते-नातों की ओर कुछ संकेत उपलब्ध हैं।

पश्चिमी हिमालय के इन राज्यों अथवा राजवंशों का इतिहास बहुत पुराना है जिस पर वे गर्व करते रहे हैं। इस क्षेत्र के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण जानकारी अनेक ग्रंथों में उपलब्ध है जिनमें हुचिसन और फोगल के *चम्बा मेमायर्स* तथा *पंजाब सोसाइटी के जर्नल* (१९२४-२५ ई०), एलफिस्टन की हिस्टरी ऑफ़ इंडिया, बार्निस और लॉयल की सैटलमेंट रिपोर्ट और काँगड़ा गजे़टियर के पुराने संस्करण विशेष रूप से द्रष्टव्य हैं। सदियों से यहीं इनका निवास रहा है। हुचिसन-फोगल ने इस संबंध में लिखा है—"यदि इन्हें अपनी प्राचीन वंश-परम्परा पर गर्व है तो इसमें ज़रा भी अनौचित्य नहीं। इनमें से बहुतों के पूर्वज शांतिपूर्ण राज्यों पर तब शासन कर रहे थे जब कि हमारे पूर्वज जंगली से थोड़ा ही बेहतर थे। इनमें जो सबसे नये हैं उनकी वंशावली भी आज से हज़ारों वर्ष पूर्व से शुरू होती है। उनकी तुलना में मैदानी वंशों के अधिकांश राजवंश ऐसे लगते हैं मानों उनका जन्म कल ही हुआ हो। इनमें जो सबसे अधिक पुराने हैं वे भी प्राचीनता में पंजाब के इन पहाड़ी राजवंशों से हार खा जाने वाले हैं।"

इन वंशों की पुरातनता के संबंध में एक अंग्रेज़ ज़िलाधीश ने लिखा है—"इस तरह इन छोटे-छोटे पहाड़ी राजवंशों का सदा के लिए पतन हो गया। इनमें से कम-से-कम एक तो ऐसा वंश था जो दो हज़ार साल तक रहा। जब हमारे पूर्वज असंस्कृत जंगली थे और रोम का साम्राज्य अभी अपने शैशव में ही था तब काँगड़ा में कटोच नामक एकतंत्र था जिसकी एक व्यवस्थित सरकार थी।"[१]

सर डेंज़िल इब्बेत्सन ने भी इन राजवंशों की पुरातनता में अपना विश्वास प्रकट किया है—"इन पहाड़ों में राजपूत परिवारों की वंशावली दुनिया-भर के किसी भी अन्य राजपरिवार द्वारा प्रदर्शित वंशावली से प्राचीनतर और अटूट है।"[२]

अपने पूर्वजों और वंशों संबंधी पुरातनता का दावा इस प्रदेश के राज-परिवारों तक ही सीमित नहीं,

---

१. Thus fell, and for ever these petty hill dynasties, one at least of which had endured for 2000 years. While our ancestors were unreclaimed savages and the Empire of Rome was yet in its infancy, there was a Katoch monarchy with an organised Government in Kangra.

—*Kangra Gazetteer* (1904), p. 39.

२. There exists in the hills "Rajput dynasties with pedigrees more ancient and unbroken than can be shown by any other royal families in the world."

—J. Hutchison & J. Ph. Vogel, History of the Punjab Hill States, p. 10.

अनेक दूसरे परिवार भी करते रहे हैं। ब्राह्मण साक्षर और शिक्षित थे तथा किन्हीं हस्तलिखित पाण्डुलिपियों व ग्रंथों को वे पीढ़ी-दर-पीढ़ी संभालते रहे थे। इन पुस्तकों का संरक्षण किसी बहुमूल्य जायदाद से भी अधिक सावधानी से होता था। पैतृक सम्पत्ति में यह सबसे पावन धरोहर मानी जाती थी। इन्हीं पाण्डुलिपियों में सुलिखित वंशावली और पैतृक सम्पत्ति का व्यौरा भी होता था। ब्राह्मण ही क्या, अपने वंश और सम्पदा का व्यौरा अनेक दूसरे व्यक्ति भी पढ़े-लिखे ब्राह्मणों से तैयार करवा लेते थे। इन लेखों-जोखों को अत्यन्त सावधानी से संभाला जाता था। ये लेखे-जोखे कपड़े की लम्बी तहों में सुरक्षित रखे जाते थे और कपड़ों की यह गठरी लकड़ी या लोहे के सन्दूक में बन्द रहती थी। इस लेखे-जोखे की दीमक अथवा कीड़े-मकोड़ों से सुरक्षा के लिए भी पर्याप्त उपाय किए जाते थे जैसे पुस्तकों में साँप की केंचुली रख दी जाती थी।

प्राकृतिक सौन्दर्य

यों तो सम्पूर्ण हिमालय ही अपनी छटा में अद्वितीय है, लेकिन इसके जिस पश्चिमी भाग का हम वर्णन कर रहे हैं, उसका प्राकृतिक सौन्दर्य सर्वविदित है। काश्मीर, कुल्लू और काँगड़ा घाटी संसार-भर के पर्यटकों के लिए उत्तरोत्तर आकर्षण के स्थल बनते चले हैं। 'इम्पीरियल गज़ेटियर ऑफ़ इंडिया' में काँगड़ा (क्षेत्रफल ९९७८ वर्ग मील) की स्थिति और सौन्दर्य के विषय में लिखा है—"इसकी उत्तर-पश्चिम दिशा में चम्बा राज्य, उत्तर में काश्मीर, पूर्व में तिब्बत, दक्षिण में बुशैहर राज्य का इलाका, दक्षिण में शिमला ज़िला के कोटगढ़ आदि गाँव तथा कुम्हारसैन, साँगरी, सुकेत, मण्डी और बिलासपुर के राज्य पड़ते हैं। इसकी दक्षिण-पश्चिम दिशा में होशियारपुर और पश्चिम में गुरदासपुर के ज़िले हैं। पूर्व की ओर बारी और जालन्धर दोआब के समतल क्षेत्रों से हिमालय की पर्वत-श्रेणियों को पार करता हुआ यह तिब्बत की सरहद तक पहुँच जाता है। इसके दो स्पष्ट हिस्से हैं जो बाहरी हिमालय के दोनों ओर पड़ते हैं तथा जिनकी प्राकृतिक छटाएँ एक-दूसरे से बिलकुल भिन्न हैं। इसका पश्चिमी हिस्सा ही वास्तविक काँगड़ा है जो बाहरी हिमालय की
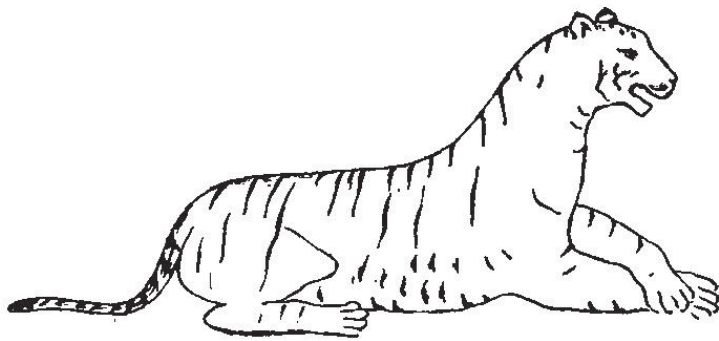
धौलाधार नामक पर्वतश्रेणी के दक्षिण भाग में है। काँगड़ा घाटी धौलाधार की उत्तर-पश्चिम दिशा से दक्षिण-दक्षिणपूर्व दिशा की ओर प्रायः समानान्तर जाता हुआ एक लम्बा और अनियमित पर्वत-पुंज है, अपनी सुन्दरता के लिए प्रसिद्ध है; इसके आकर्षण का मुख्य कारण न तो इसकी उर्वरा खेती है और न इसकी शाश्वत हरियाली ही, वह है घाटी के सामने की धौलाधार की उत्तुंग हिमाच्छादित पर्वतश्रेणी जिसकी कहीं-कहीं तेरह हज़ार फुट तक की ऊँचाई है और जो रास्ते के हर मोड़ के साथ एक नई छटा प्रदर्शित करती है। इसकी अपनी सरिता है व्यास जो ज़िले के इस हिस्से में पूर्व से पश्चिम की ओर बहती है। काँगड़ा घाटी की कई छोटी-छोटी सरिताएँ इसमें जाकर निमज्जित होती हैं।"

हिमालय भारतीय संस्कृति व साहित्य में सुप्रतिष्ठित है। हिमालय के आँचल में बसा काश्मीर वह क्षेत्र है जहां आर्य-संस्कृति का सर्वप्रथम अभ्युदय हुआ। श्री टी० डब्ल्यू० राइस डेविड्स के मतानुसार हिमालय

का काश्मीर और उसका पूर्ववर्ती इलाका वह क्षेत्र है जहाँ आर्यों ने सबसे पहले घर बसाया था। ऐसा समझा जाता है कि ऋग्वेद की सृष्टि से पूर्व ही आर्य पश्चिमी हिमालय के क्षेत्रों में बसते आये थे। संस्कृत के अनेक प्राचीन ग्रंथों में भी इस बात के अनेक संकेत हैं कि यहीं आकर आर्य निवास करने लगे थे।

हमें इस क्षेत्र के इतिहास के सम्बन्ध में अधिक नहीं कहना है। हमारे आशय की पुष्टि इस बात से हो जाती है कि काँगड़ा कला के जन्म और विस्तार से यदि इस स्थान का संबंध रहा तो उसका कारण मात्र राजनैतिक परिस्थितियाँ ही नहीं थीं। काँगड़ा कला की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि का काम काँगड़ा घाटी अथवा पश्चिमी हिमालय ने बहुत ही सुन्दर रूप से किया है। और इस क्षेत्र के सांस्कृतिक दृष्टि से सम्पन्न होने की बात मात्र ढकोसला नहीं। इसके अतिरिक्त जो प्राकृतिक सौन्दर्य यहाँ बिखरा पड़ा है वह तो स्पष्ट ही कला को निखारने में बहुत बड़ा योगदान देता रहा है। प्रकृति ने मुक्तहस्त होकर अपनी अनुपम छटा यहाँ बिखेरी है। कलकल निनाद करती हुई नदियाँ और झरने, घने देवदारु व चीड़ के वनों से ढकी पर्वत-श्रृंखलाएँ और हिमाच्छादित चोटियाँ यहाँ के प्राकृतिक सौन्दर्य के मानदण्ड हैं। विविध फूल और फलों से सम्पन्न, सुन्दर पशु और पक्षियों से भरी हुई हिमालय की यह घाटी कलाकारों के लिए उपयुक्त और बड़ा ही मनोहारी वातावरण प्रस्तुत करती रही है। अतः मुगल राज्य का प्रश्रय खोने के बाद भटकते हुए चितेरे एक बार जो यहाँ रुके तो फिर यहीं के हो लिए। इन चितेरों ने इस मनोहारी प्रकृति का अपने चित्रों के लिए न केवल पृष्ठभूमि के रूप में चयन किया बल्कि विषयवस्तु के लिए भी। पहाड़ी कलाकृतियों में मेघमालाएँ और उनमें तेज़ी से दौड़ती हुई विद्युत-प्रभा, पहाड़-जंगल, बक-पंक्तियाँ, विभिन्न पशु-पक्षी—जैसे मयूर, सारस, चकोर, पपीहा, तोता, पेंडुकी आदि और वनश्री का चित्रण इतनी सूक्ष्मता और सुन्दरता से हुआ है कि कलाकार के हाथ चूमने को दिल करता है। कृष्ण-लीला संबंधी अनेक चित्रों में सुन्दर वनस्थलियों में विचरती गौएँ भी दृष्टि से ओझल नहीं हो पातीं। पहाड़ों में जो छोटे-छोटे सुन्दर पक्षी देखने को मिलते हैं, उनका रूपायन अति सूक्ष्मता के साथ हुआ है, पपीहा तो बहुत व्यापकता के साथ देखा जा सकता है। पपीहा हिन्दी के प्रेम-काव्य में भी प्रयुक्त हुआ है। पहाड़ी चित्रकला में प्रेम का गायक-पक्षी पपीहा कृष्ण-लीला के चित्रों में तो अत्यन्त सामान्य है।
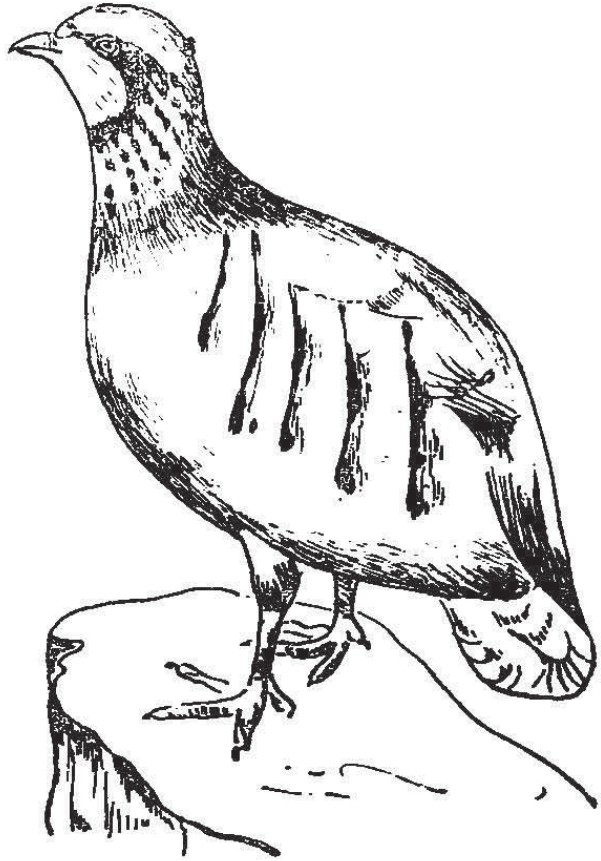
प्रकृति-चित्रण में जहाँ पहाड़ी चितेरा दक्ष नज़र आता है, वहाँ उसकी विशेषता अपने वातावरण का अत्यन्त निकटता से किया गया अध्ययन है। पहाड़ी चित्रों में उन्हीं पेड़-पौधों का अंकन है जो वस्तुतः इस क्षेत्र में पाए जाते हैं और फिर मौसम के अनुकूल ही पेड़-पौधों और पशु-पक्षियों का चित्रण हुआ है। इन

चित्रों में जो पेड़-पौधे अधिकांशतः देखने में आते हैं उनमें कचनार, सिम्बल, बाँस, केला, आम, जामुन, सरु, सरपत (सरई), तमाल, बड़ आदि के पेड़ मुख्य रूप से गण्य हैं। कहीं-कहीं खजूर की तरह का पेड़ भी नज़र आता है जो पहाड़ों में कहीं-कहीं देखने को मिलता है। धरती बनफ्शा तथा अन्य छोटे-से-छोटे फूलों से सँवर गई है। कमल-सरोवर के अंकन में कमल और उसके पत्ते तो नज़र आएँगे ही लेकिन बाल-गोपालों की क्रीड़ा में कमल के पत्तों का बारिश से बचने के लिए भी उपयोग हुआ है। इसी प्रकार मोर प्राकृतिक दृश्यों में बादलों के संग देखा जा सकता है लेकिन राज-दरबार, नायक-नायिका आदि के चित्रण में भी मोर-पंख से बने मोरछड़ एक सामान्य चीज़ है। मोरछड़ के समान ही चँवर का प्रयोग भी नज़र आता है जो सुरागाय के बालों से तैयार किया जाता रहा है।

वास्तु-चित्रण तथा वास्तुकला

पहाड़ी चित्रकला में वास्तु-चित्रण इस स्वतंत्र रूप से नहीं हुआ कि वह उसका मुख्य विषय ही बन गया हो। जहाँ कहीं वास्तु-चित्रण हुआ है वह मुख्य विषय अर्थात् किन्हीं पात्रों के क्रिया-कलाप के लिए ऐसी भूमिका प्रस्तुत करता है जिसका मुख्य बिषय से ताल-मेल बैठता है, उसके प्रभाव को घनीभूत करता है।

पहाड़ी चित्रों में वास्तु-चित्रण अधिकांशतः मुग़ल वास्तुकला का प्रभाव लिए हुए है। लेकिन हम इन चित्रों में लोक-परम्परा का भी समुचित स्थान पाते हैं जो विशेषतः बसोहली चित्रों के सम्बन्ध में अधिक उपयुक्त है।

पश्चिम की ओर जब आरंभ में मुग़लों के आक्रमण होने लगे तो उनका उद्देश्य धन-सम्पत्ति की लूट-खसोट से अधिक कुछ न रहा लेकिन इन हमलों की लगातार सफलता ने उन्हें यहीं बस जाने के लिए लालायित किया। और जब वे स्थायी रूप से भारत में ही बस गये तथा उन्होंने अपने साम्राज्य को संगठित व सुगठित कर डाला तो उनका ध्यान ललित-कलाओं के विकास पर भी गया। ललित-कलाओं के प्रति उनकी अभिरुचि ईरान की ओर उन्मुख रही। लेकिन बाद में वह स्थानीय अपेक्षाओं के अनुसार विकसित होती गई। ललित-कलाओं में भी संगीत, मूर्तिकला और चित्रकला इस्लाम के मतानुकूल नहीं बैठती, इसलिए भारत में मुग़ल साम्राज्य में वास्तुकला और एक हद तक काव्य पर ही अधिक बल रहा। दृश्य-कला के प्रति उनकी स्वाभाविक रुचि के लिए एक ही रास्ता खुला था और वह था वास्तुकला। यही कारण है कि मुग़लकाल में समस्त कला-अभिरुचि वास्तुकला पर ही केन्द्रित हुई। पहाड़ी चित्रकला में वास्तु-अंकन ने चितेरों का ध्यान आकृष्ट किया है। यह महज़ अंकन की ही बात नहीं अपितु चित्रकला की भाँति ही वास्तुकला भी अपने-आप में एक समृद्ध कला है। यहाँ हम चार्ल्स फैब्री की निम्न पंक्तियों को उद्धृत कर वास्तु-अंकन के प्रति पहाड़ी चित्र-कला का आग्रह समझ सकते हैं :

"महान् वास्तुकला वह कला है जो निःसन्देह एक व्यावहारिक उद्देश्य के प्रति सम्बोधित है लेकिन अन्य दो कलाओं—चित्रकला और मूर्तिकला—की तरह ही इसका भी अंतिम ध्येय वही है : इसे हमें स्पन्दित करना चाहिए, हमारा उन्नयन करना चाहिए, हमें भावनात्मक तुष्टि, प्रसन्नता और उत्तेजना देनी चाहिए।"[1]

---

१. Great architecture is art, addressed no doubt, to a practical purpose, but has the same ultimate aim as the other two arts, painting and sculpture : it must move us, elate us, give us an emotional satisfaction, delight and excitement.

—Charles Fabri, An Introduction to Indian Architecture (1963), p. 55.

स्थूल रूप से हम भारतीय वास्तुकला पर मुग़ल प्रभाव नवीं शताब्दी से सत्रहवीं शताब्दी के मध्य मान सकते हैं लेकिन यह प्रभाव पन्द्रहवीं शताब्दी के बाद ही पूरे ज़ोर पर नज़र आता है। मुग़ल वास्तुकला की विशेषताएँ उसके गुम्बद, मेहराबें, शिखायुक्त चाप, कंगूरे, बेल-बूटों का अंकन है जो सहज ही पहाड़ी कला में भी प्रतिफलित हुआ है। किन्हीं एक चित्रों के विषय विशुद्ध हिन्दू पौराणिक गाथाओं से उद्धृत होने पर भी उनमें कुछ रोचक मुग़ल प्रभाव देखे जा सकते हैं। जैसे यमुना के तट पर नन्द के शिविर का दृश्य है और उसमें खेमे नज़र आते हैं।[1] यह मुग़ल सेना के हरमखाने जैसा दृश्य है।

वास्तु-अंकन के संदर्भ में गुम्बद हमारा ध्यान आकर्षित करते हैं जो सम्पन्न और वैभवपूर्ण प्रासादों व भवनों के निर्माण में देखे जा सकते हैं। ये गुम्बद दो प्रकार से चित्रित हुए हैं—पहला, वर्गाकार चार दीवारी के ऊपर और दूसरा खम्भों पर उठा हुआ नज़र आयेगा। इसकी उपयोगिता चौबारों या हवाघरों के रूप में समझी जा सकती है।

यहीं मेहराबों का अंकन नज़र आयेगा जिनमें अधिकांशत: शिखायुक्त हैं जो छोटे-छोटे वृत्त-खण्डों को मिलाकर बनी हैं। ये मेहराबें दरवाज़ों और खिड़कियों के ऊपर बनी हैं और इनका प्रतिकृति-अंकन दीवारों पर उन्हें सज्जित करने के लिए भी हुआ है।

कंगूरों का निर्माण सुरक्षा की दृष्टि से हुआ करता था। महल व दुर्गों की बाहरी दीवारों पर बने कंगूरों के पीछे छिपकर उनमें से धनुष और बन्दूकों से निशाना साधा जाता था। लेकिन बाद में दीवारों के ऊपर सज्जा को निखारने की दृष्टि से भी उनका निर्माण होने लगा। पहाड़ी चित्रकला में जहाँ भी भवन-चित्रण नज़र आएगा वहाँ गुम्बद, मेहराबें, शिखाकार चापें, कंगूरे उसकी विशेषता बन गई हैं।

बिना यथेष्ट वातावरण के किसी महान् कलाकृति का जन्म नहीं हो सकता। एक अर्से तक पश्चिमी हिमालय में ऐसा वातावरण बना रहा जहाँ मात्र चित्रकला का ही उद्भव और विकास न हुआ किन्तु सम्पूर्ण जीवन में ही कलात्मकता प्रतिष्ठित रही। लोककला की एक बहुत ही समृद्ध परम्परा यहाँ बनी रही है और जहाँ भी, जो कुछ भी निर्माण हुआ उसमें कला-सौष्ठव स्पष्ट झलकता है। वास्तुकला के क्षेत्र में अनेक दुर्ग, राजप्रासाद, देवालय, मन्दिर तथा अन्य इमारतें महत्त्वपूर्ण हैं जिनमें काँगड़ा और मण्डी जैसी तराइयों में स्थित पाषाण-मन्दिर और दूर-दराज़ भीतरी भागों (मिन्धल, छत्राड़ी, भरमौर, मनाली, पराशर, करसोग, सराहाँ, सराहन, मूरंग तथा किल्बा) के काष्ठ-मन्दिर विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। किलों में सुरक्षित धन-वैभव और मन्दिरों में देवताओं का सोना-चाँदी इतनी मात्रा में एकत्र था कि उसका लेखा-जोखा देना सहज नहीं। मुग़लों के आक्रमण से इन मन्दिरों और दुर्गों पर भारी प्रहार हुए, धन-सम्पत्ति की लूट-खसोट बड़ी बेदर्दी से हुई, फिर भी उन लोगों ने अपनी चारित्रिक सम्पन्नता को क्षीण होने नहीं दिया।

आज भी अनेक मन्दिर और भव्य कलात्मक मूर्तियाँ देखी जा सकती हैं लेकिन उनका संरक्षण सभ्यता के बढ़ते चरणों से भयाक्रान्त है। दुर्गों और मन्दिरों की दीवारें मूर्तियों से भरी पड़ी हैं लेकिन यह दुःख का विषय है कि मूर्तियाँ गायब हो रही हैं और सुना जाता है कि ये चोर-बाज़ारी में बिककर विदेशों में पहुँच रही हैं। इस पावन धरोहर को सुरक्षित रखना हमारा कर्तव्य है और आज के युग में उसके सायास संरक्षण की आवश्यकता है। पहले इन चीज़ों का संरक्षण धार्मिक आस्था के कारण हुआ था। आज जब मशीनी युग

---

१. M. S. Randhawa, Kangra Paintings of the Bhagavata Purana.
—National Museum of India (1960), p. 31.

में आस्था-पुंज बुझ गये हैं, इनके संरक्षण की आवश्यकता आधुनिक-युगीन कला-रुचि के कारण अनुभव की जा रही है। लेकिन यह रुचि जन-सामान्य में नहीं, वर्ग-विशेष में है। सामान्य नैतिकता की ह्रासोन्मुखता प्राचीन कला के अस्तित्व के लिए भी एक भारी चुनौती है।

पहाड़ी लोग

पहाड़ी संस्कृति आज तक गौरव के साथ अपना अस्तित्व रखे हुए है। यद्यपि आज मैदानों की अपेक्षा पहाड़ी इलाके और लोग भौतिक दृष्टि से पिछड़े हुए हैं लेकिन इस पिछड़ेपन के बावजूद जिस संस्कृति का यहाँ परिचय मिलता है वह वंदनीय है और लोग सहज ही उस पर गर्व और गौरव कर सकते हैं। स्वतंत्रता से पूर्व भी पहाड़ी लोगों के अनेक गुणों को लेखकों और विद्वानों ने सराहा है। काँगड़ा के ही एक पुराने जिलाधीश श्री बार्निस ने यहाँ की जीवन-कला को सराहा है। उन्होंने स्थानीय लोगों की बहादुरी, सचाई और शान्तिप्रियता का उल्लेख किया है। काँगड़ा गजेटियर में भी काँगड़ा के निवासियों के आचार-व्यवहार का संतुलित ब्यौरा मिलता है :

"यहाँ के लोग सीधे, परिश्रमी, मितव्ययी और ईमानदार हैं—व्यवहार में खरे, मिलनसार और हमेशा ही विश्वासपात्र हैं—पूरे स्वामीभक्त, आतिथ्य-परायण और सहनशील हैं—इन्हें विश्वास और दायित्व के स्थान पर निःसन्देह रखा जा सकता है—सिक्ख-राज्य में इन्हें विश्वास का ऊँचे से ऊँचा स्थान प्राप्त था—इनके वार्तालाप के ढंग में यद्यपि हिन्दुस्तानियों की-सी दिखावे की नफासत नहीं, तथापि उसमें शिष्टता, शालीनता और सहजता पूरी तरह से पायी जाती है। सच्चाई पर दृढ़ रहना यहाँ के व्यवहार-शील का विशेष गुण है। जिलाधीश के नाते पाँच वर्ष की मेरी अवधि में मुझे एक भी घटना की याद नहीं जब किसी ने जान-बूझकर झूठी गवाही दे दी हो।—वे वचन के धनी हैं—लेन-देन-व्यवहार में लिखित इक़रारनामा कभी-कभार ही करते हैं—जबानी वचन इतना ही पक्का समझा जाता है जितना लिखित बांड—चोरी यहाँ नाम मात्र भी नहीं, यदि कहीं है भी तो छोटी जातियों में और वह भी अत्यन्त मामूली वस्तुओं की—फौजी सिपाही के रूप में छावनियों में इनका व्यवहार और रहन-सहन संयमित और अनुशासनबद्ध है। वहाँ की असुविधाओं को धैर्य से चुपचाप सहने और आज्ञाकारिता की सदा सराहनीय रिपोर्टें मिली हैं—ये षड्यंत्रकारी और आन्दोलनप्रिय नहीं हैं—इन गुणों के विरुद्ध 'दुर्गुण' के नाम पर कुछ भी बताने को नहीं है। 'बुराई' के नाम पर इतना ही कहा ज़ा सकता है कि ये लोग बहुत ही अन्धविश्वासी हैं—छुआछूत और जाति-पाँति की कुप्रथाओं से ग्रस्त हैं—जादू-टोने, भूत-प्रेत, शकुन-अपशकुन की मान्यता है—बीमारी, आपत्ति, यहाँ तक कि फसल-संबंधी असफलता को भी किसी देवी-देवता या पीर-फकीर का प्रकोप मानते हैं।—अपनी इज्जत और आबरू की रक्षा के लिए बड़े-से-बड़ा बलिदान कर देते हैं—अपमान या अशिष्टता का एक शब्द या अन्यायपूर्ण व्यवहार उनके सदा के असहयोग या वैर के लिए पर्याप्त है।"[१]

पहाड़ी लोगों के चरित्र के सम्बन्ध में कोई मत-वैभिन्नय नहीं। लेकिन अंग्रेजों के समय में लिखे गये गजेटियर के उपर्युक्त वर्णन से यह स्पष्ट होता है कि पहाड़ी लोगों की चारित्रिक उज्ज्वलता और विशेषतः ईमानदारी के लिए उनकी स्वाभाविक प्रतिबद्धता पर किसी भी व्यक्ति के लिए संदेह की गुंजाइश नहीं थी।

पहाड़ी लोगों का सबसे बड़ा गुण उनका अपनी धरती से लगाव है। अपनी इस पावन मिट्टी से अपने लगाव का एहसास उन्हें खूब है जिसे उन्होंने खुले दिल से स्वीकारा है, मुक्त कण्ठ से स्वर दिया है। जिस

१. Kangra Gazetteer (1904), pp. 92-93.

धौलाधार के सौन्दर्य और गरिमा से पहाड़ी कलाकार अभिभूत रहा और जो उसकी अनगिनत कृतियों में भूमिका के रूप में चित्रित हुई, वह यहाँ के जन-मानस में किस प्रकार प्रतिष्ठित है यह लोकगीत की निम्न कड़ियाँ प्रस्तुत करेंगी। धौलाधार को ही लोक-कवि दुर्गा-माँ का मूर्त रूप मान बैठा है—

तैं काँगड़ी धौलीधार माता तैं बैकुण्ठ बनाया।
पान सुपारी मैया धजा ले नरेला
पहलड़ी भेंट चढ़ाया मैया
तैं बैकुण्ठ बनाया है काँगड़ी धौलीधार माता
सूहा सूहा चोला मैया अंग बिराजे
केसरी तिलक चढ़ाया मैया
तैं बैकुण्ठ बनाया काँगड़ी धौलीधार माता।

धौलाधार को दुर्गा का प्रतिरूप मानने पर उस मिट्टी का रूप निखर आता है जिससे अधिक पावन पहाड़ी लोगों के लिए अन्य कुछ नहीं। धौलाधार में माँ का महत्त्व है लेकिन वह शक्ति का प्रतिरूप भी है। ऐसा अनन्य रूप अपनी मातृभूमि का सभी लोगों ने नहीं देखा है, इस रूप में इस रिश्ते की पहचान पहाड़ी लोगों के लिए जितनी सहज है उतनी अन्य लोगों के लिए नहीं। जिस भावभीने ढँग से लोककवि ने उपर्युक्त वाणी को मुखर किया है, उसी ढँग से पहाड़ी चितेरों ने धौलाधार को भी चित्रित किया है और माँ दुर्गा के भी अनेक चित्र प्रस्तुत किए हैं। यहाँ हमें एक बात सहजता से हृदय में पैठती हुई-सी लगती है कि कलाकार की कृति की पृष्ठभूमि में सहज संस्कृत व हिन्दी साहित्य का ही ज्ञान नहीं था, उसने तो अपनी धरती की गरिमा और सौन्दर्य को भी खूब पहचाना था और वही उसके लिए सबसे बड़ी बात बन गई। धरती के साथ ऐसी आत्मीयता ही उसकी कला को निखार गयी अन्यथा उसका कला-कौशल बौद्धिक स्तर से भावनात्मक स्तर पर न उतरता।

चित्रों का आदान-प्रदान

पहाड़ी राजा जहाँ आपस में एक-दूसरे के साथ लड़ते-झगड़ते रहते थे और अवसर मिलने पर पड़ोसी राज्य का कुछ भाग हथिया लेना उनकी तत्कालीन प्रतिष्ठा व पराक्रम का परिचायक था, वहाँ किसी अन्य बढ़ती हुई ताकत के प्रति उनके आपस में गठजोड़ भी चलते रहते थे। इन गठजोड़ों पर जब रिश्तेदारी की मुहर लग जाती तो ये और भी पक्के हो जाते। एक राज्य की राजकुमारी का विवाह दूसरे राज्य में उसके राजा या कुँवर के साथ जब कर लिया जाता था[1] तो सामान्यतः वे राज्य आपस में शान्ति से रहते थे। लेकिन रिश्ते-नातों के बावजूद उनके आपस में टकराने और धोखेबाज़ी के अनेक उदाहरण[2] मिलते हैं।

---

१. मण्डी के राजा सूरजसेन की पुत्री का विवाह जम्मू के हरिदेव के साथ हुआ था।

२. एक उदाहरण : नूरपुर के राजा जगतसिंह(१६१६-४६ ई०)ने धोखे से मण्डी राज्य पर काबू करना चाहा। यों भी मण्डी पर उसका दबदबा छाया हुआ था और दिल्ली के बादशाह को मण्डी राज्य से जो नज़राना जाया करता था उसकी उगाही जगतसिंह करता था। जगतसिंह ने अपनी पुत्री के विवाह का राजा सूरजसेन से स्वांग रचा। विवाह की धूमधाम में वह उसे मारना चाहता था। जब सूरजसेन गुलेर पहुँचा तो इस षड्यन्त्र का पता जगतसिंह की सुहृद रानी ने चुपके से दे दिया। वह चुपचाप मण्डी वापस भाग निकला। जब जगतसिंह को भेद के खुल जाने का पता लगा तो उसने पैंतरा बदला और अपनी लड़की को अपने बड़े लड़के राजरूप के साथ मण्डी भेज दिया। स्पष्ट रूप से अब सूरजसेन की जान के लिए खतरा टल गया था। कुछ विलम्ब के पश्चात् विवाह सम्पन्न हो गया।

राजकुमारी के विवाह पर जो दहेज दिया जाता था उसमें अनेक बहुमूल्य वस्तुओं के अतिरिक्त कुछ लोक-कला की वस्तुएँ भी दी जाती रही हैं। ऐसी वस्तुओं में चित्र और रूमाल भी सम्मिलित थे। कभी-कभी राजकुमारी के साथ-साथ कोई चितेरा भी निकल जाता था। इसके दो कारण थे। कुछ चितेरों का राज-घरानों में बहुत आना-जाना रहता था। कुछेक राजकुमारियाँ भी चित्रकला में रुचि रखती थीं और सधे हुए चितेरों से यह कला सीखती थीं। विशेषकर रूमालों में राजघरानों व अन्य उच्च व सम्पन्न घरानों की औरतों की रुचि रही है। चित्रकारों की मदद से अथवा उनके निर्देशन में औरतें रूमालों में कढ़ाई किया करती थीं। कभी ऐसा भी होता था कि राजकुमारी का किसी चितेरे में व्यक्तिगत रुचि होने से वह उसके साथ चल
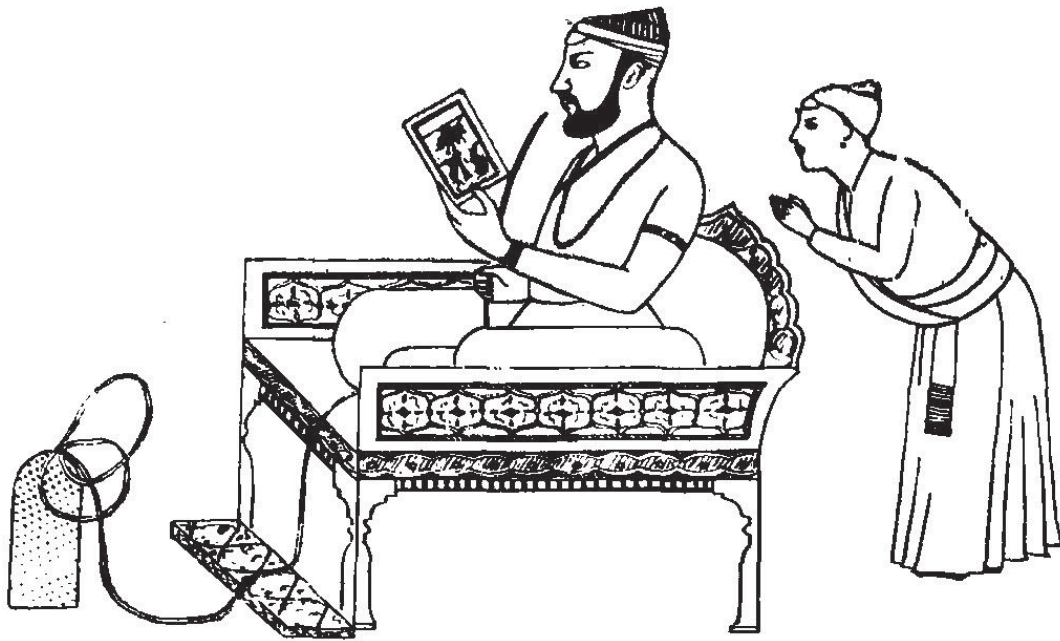
देता था। दूसरा कारण अपना कोई सधा हुआ चितेरा एक राजा दूसरे राजा के यहाँ भेजने में गौरव अनुभव करता था। ये चितेरे एक प्रकार से सांस्कृतिक दूत का काम किया करते थे। दूसरे राज्य में जब ये चितेरे बस जाते थे तो उन्हें भी अपने कला-कौशल का प्रदर्शन करने में खुशी होती थी और उनके पूर्व अभिभावक की तथा इसी दृष्टि से राजकुमारी की प्रतिष्ठा भी बढ़ जाती थी। राजकुमारी के साथ एक राज्य से दूसरे राज्य में चितेरे के स्थानान्तरण से कला के विकास और लोकप्रियता में बड़ी मदद मिली।

एक राजा के दूसरे राजा के साथ रिश्ते-नाते के हमें अनेक उदाहरण मिलते हैं। मण्डी शहर के साथ ही एक गाँव कहनवाल है। काँगड़ा की राजकुमारी का विवाह जब मण्डी के राजा सूरजसेन (१६३७ ई०) से हुआ तो दहेज के रूप में कहनवाल भी मण्डी को सौंप दिया गया।

राजा श्यामसेन (१६६४ ई०) के समय में मण्डी और चम्बा रियासतों में परस्पर मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध रहे। सूरजसेन के शासनकाल के अन्तिम दिनों में श्यामसेन बनारस और जगन्नाथ की यात्रा पर निकल गया था और वहाँ से आने पर वह चम्बा में रहने लगा था। जब वह राजा बना तो चम्बा के पृथ्वीसिंह मण्डी में पर्याप्त समय तक रहे।

मण्डी का राजा शमशेरसेन (१७२७-८१ ई०) जब पाँच वर्ष की आयु में गद्दी पर बैठा तो चम्बा के राजा उग्रसेन (१७२०-३५ ई०) ने अपनी लड़की की सगाई उससे कर दी। इसी समय का एक चित्र भी उपलब्ध है। ऐसे रिश्तों की ओर संकेत मात्र से इस बात की पुष्टि होती है कि कलाकारों को एक स्थान से दूसरे स्थान में जाने के अवसर मिलते रहे हैं और इन अवसरों में कला को प्रश्रय मिला है, उसे मान्यता मिली है, वह पनपी है।

३

विषय-वस्तु
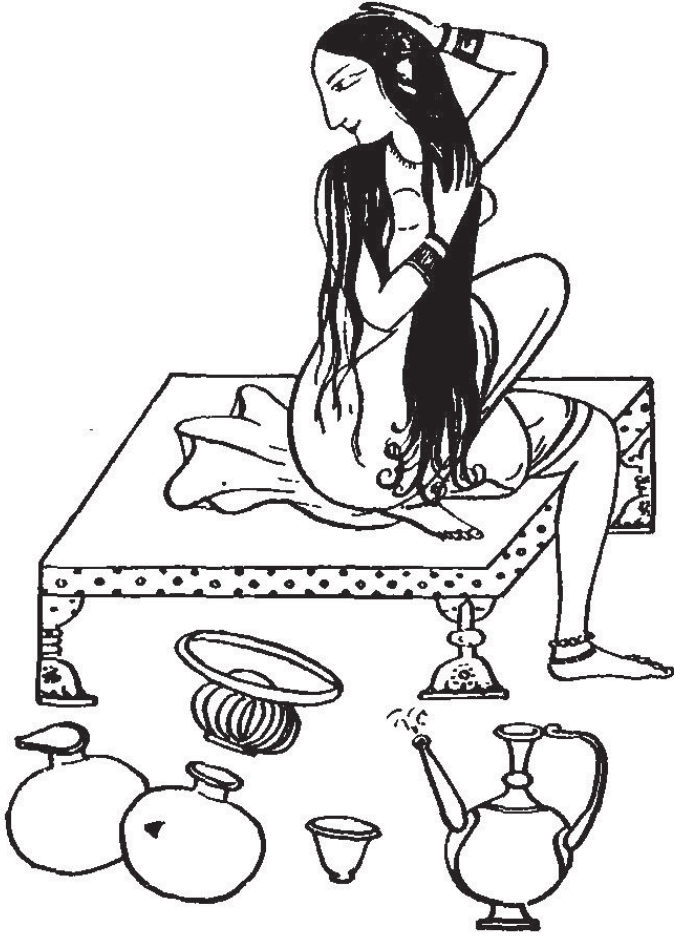
ग्यारहवीं शताब्दी में हिन्दू-धर्म के अन्तर्गत वैष्णव मत का उदय हुआ। कृष्ण की पूजा का प्रचलन बढ़ा। कृष्ण-भक्ति में रँगे-पगे अनेक कवियों ने अपने-अपने ढंग से काव्य रचा। जहाँ कृष्ण—विष्णु के अवतार—उनके आराध्य थे वहाँ उन्होंने एक सखा के रूप में भी कृष्ण के सामीप्य को पहचाना। यही भावाभिव्यक्ति अनेक भक्त-कवियों के हाथों सुन्दर भक्ति-काव्य का रूप ले बैठी। वैष्णव-भक्ति के इन कवियों में जयदेव, चैतन्य, सूरदास, केशवदास, मीराबाई आदि प्रमुख थे जिन्होंने कृष्ण को अपनी-अपनी अभिरुचि और कल्पना के साथ अत्यन्त मौलिक और रसात्मक रूप से मुखरित किया।

बारहवीं सदी से लेकर सोलहवीं सदी के बीच जो संस्कृत तथा हिन्दी के कवि हुए और वैष्णवमत से प्रभावित रहे उन्हीं के काव्य को पश्चिमी हिमालय की पहाड़ी रियासतों तथा राजस्थान के चितेरों ने अपनी कला का विषय बनाया। रसात्मकता, उदात्तता तथा भावभीने इन्द्रियात्मक सौन्दर्य जैसी काव्यनिहित विशेषताओं से चितेरे अभिभूत रहे और उन्होंने शब्द-चित्रों को कूची तथा रंगों की सहायता से अंकित कर डाला।

पहाड़ी चित्रकला की विषय-वस्तु अत्यन्त विस्तृत है। रायकृष्णदास के मत में "हिन्दी के प्रमुख और

साधारण कवियों से लेकर जीवन की दैनिक चर्या और शबीह तक, ऐसा एक भी विषय नहीं जिसे इस शैली के चित्रकारों ने छोड़ा हो।" लेकिन जहाँ साहित्य के चित्रण का सम्बन्ध है, वहाँ पहाड़ी चित्रकला में हिन्दी-साहित्य की अपेक्षा संस्कृत साहित्य अधिक मुखरित हुआ है।

सुविधा की दृष्टि से हम पहाड़ी चित्रकला की विषय-वस्तु को तीन विभागों में बँटी पाते हैं। पहले विभाग में हमारा धार्मिक साहित्य है जिसमें रामायण, महाभारत और पौराणिक साहित्य है। रामायण और महाभारत के अनेक विषयों का चित्रण पहाड़ी कला में उपलब्ध है लेकिन रामायण के राम से अधिक कृष्ण की जीवन-लीला का अंकन पहाड़ी चितेरों का सबसे प्रिय विषय रहा। कृष्ण-लीला का वर्णन अनेक कवियों ने किया है और इस सम्बन्ध में सर्जित सम्पूर्ण साहित्य पहाड़ी कलम में निखर आया है। यहाँ जयदेव लिखित संस्कृत-काव्य 'गीत-गोविन्द' और बिहारी लिखित 'बिहारी सतसई' विशेष रूप से गण्य हैं। यों तो पौराणिक साहित्य के अनेक विषयों को पहाड़ी चितेरों ने चित्रित किया है लेकिन जहाँ पौराणिक साहित्य में कृष्ण-चरित का वर्णन है और विशेषकर कृष्ण की राधा और गोपियों के साथ प्रेम-क्रीड़ा का, वहाँ तो कलाकृतियाँ भरपूर सजीवता और रंगीनियों के साथ उभर आयी हैं। दूसरे विभाग में ऐसे बहुतेरे चित्र मिलेंगे जिनमें पहाड़ी कलम के आश्रयदाताओं, उनके क्रिया-कलाप तथा रंगीनियों के चित्र उभरे हैं। तीसरे विभाग में ऐसे चित्रों को सम्मिलित किया जा सकता है जिनमें लोकजीवन प्रतिबिम्बित हुआ है।

पहाड़ी कला की पृष्ठभूमि में जो साहित्यिक अथवा धार्मिक ग्रंथ चित्रित हुए हैं, उनमें विशेष रूप से गण्य हैं—जयदेव लिखित 'गीत-गोविन्द', बिहारी लिखित 'बिहारी सतसई', भागवत पुराण, रामायण, महाभारत, बारहमासा और रागमाला। कृष्ण-लीला और नायक-नायिका सम्बन्धी चित्र विशेष रूप से अपना महत्त्व रखते हैं लेकिन उनके अतिरिक्त नल-दमयन्ती और सत्यवान-सावित्री जैसी कथाओं को भी पहाड़ी कलाकारों ने चित्रित किया है। नल-दमयन्ती सम्बन्धी रेखाचित्रों की एक चित्रावलि पहली बार कुमारस्वामी ने प्रकाशित की थी। रामायण सम्बन्धी चित्र आकार में अन्य चित्रों की अपेक्षा बड़े हैं और उनमें आकृतियों के अतिरिक्त वनस्थलियों का चित्रण भी बड़े मनोहारी ढंग से प्रस्तुत हुआ है।

पहाड़ी चित्रकला का विषय-क्षेत्र बहुत विस्तृत रहा। मध्यकालीन भक्ति और शृंगारप्रधान जीवन का इतना सरस, अंतरंग, आकर्षक और रोचक परिचय पहाड़ी चित्रों में मिलता है कि जिन्हें देखकर आश्चर्य होता है। उसमें जहाँ संस्कृत और हिन्दी कवियों की कृतियों को लेकर चित्र बने वहाँ लोककथा सम्बन्धी चित्र भी कई संग्रहों में उपलब्ध हैं जिनमें हमीरहठ, विक्रम-वेताल-चरित्र, माधवानल-कामकंदला, सोनी-महीवाल विशेष रूप से गण्य हैं। भागवत के दशम स्कन्ध में कृष्ण के बाल्य और यौवन का बहुत ही मनोहारी और उन्मुक्त वर्णन मिलता है जिसका चित्रण पहाड़ी चित्रशैली के सहस्रों चित्रों में मिलता है। कृष्ण-लीला में गोचारण, वंशी की मोहिनी तान, कालिय-दमन, गोवर्धन-धारण, दान-लीला आदि के अनेक चित्र हैं। भोजन, वसन, शृंगार, ताम्बूल-वितरण, आखेट, नौका-विहार, वनवाटिका-विहार-जैसी कितनी ही क्रीड़ाएँ और प्रणय-प्रसंग हैं जिनका पहाड़ी चितेरों के लिए अदम्य आकर्षण रहा है। राधा और कृष्ण को लक्ष्य बनाकर जीवन की इतनी बहुविध लीलाओं का आलेखन हुआ है कि लगता है जीवन का शायद ही कोई पक्ष छूटा हो। रंग और रेखाओं के सौन्दर्य में से प्रस्फुटित होते हुए ये चित्र मुक्तकाव्य-से लगते हैं।

नायक-नायिकाओं सम्बन्धी केशवदास की कविताएँ उनके 'बारहमासा' में संकलित हैं। इन कविताओं ने कलाकारों की कल्पना को सींचा और उसे समर्थ अभिव्यक्ति मिली। पहाड़ी कलाकारों के हाथ नायिकाओं को चित्रित करने में तो समर्थ प्रतीत होते ही हैं, उन्होंने भारतीय जीवन की प्रतिष्ठित नारियों

जैसे राधा, सीता, पार्वती,उषा,दमयन्ती आदि के अंकन में श्रद्धा और कला के समन्वय को उच्चतम उपलब्धि दी है। जिस प्रकार साहित्य में इनका वर्णन मिलता है उसी प्रकार उनका इतना समर्थ अंकन केवल पहाड़ी चित्रकला में ही संभव हुआ। ये सुन्दर आकृतियाँ कैसे उभर पायीं, यह समझना कठिन नहीं। इन श्रद्धामयी व आदर्श नारियों के चित्रण में काँगड़ा घाटी की ही सुन्दर युवतियाँ अपने सौन्दर्य व सजीवता में प्रतिबिम्बित हो आयी हैं।
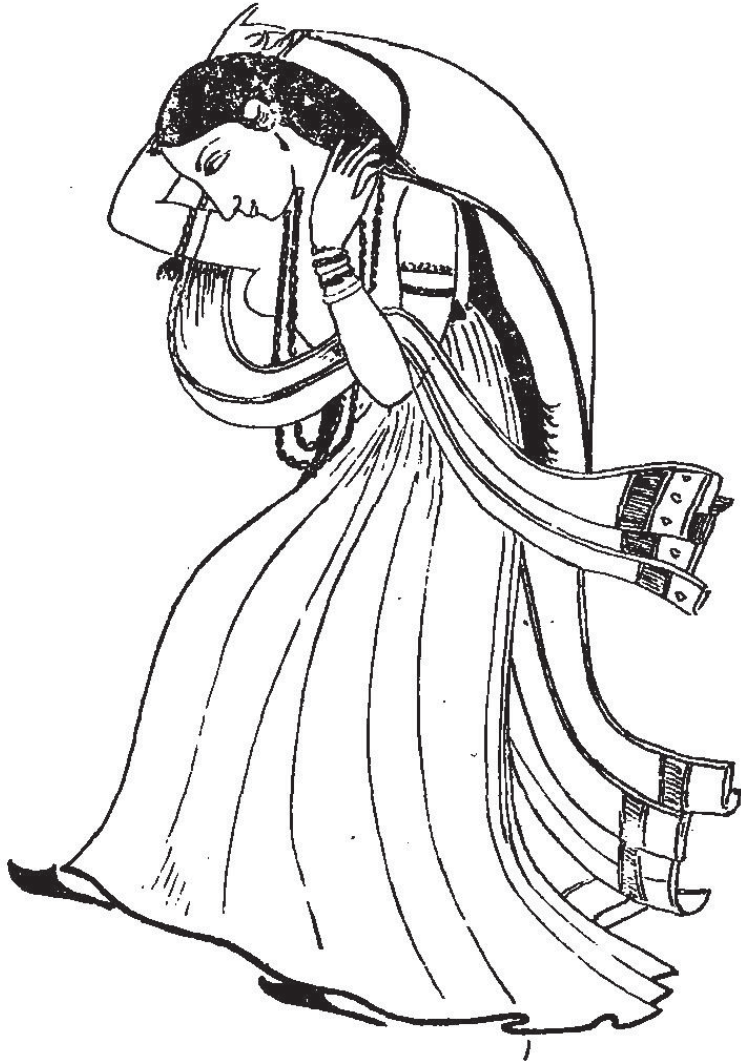
प्रेम और शृंगार, संयोग और वियोग की स्थितियों और परिस्थितियों में उभरती-उतरती नारी के सौन्दर्य का अंकन पहाड़ी चित्रकला का ध्रुव-बिन्दु है। ऐसी ही नारी के इर्द-गिर्द हज़ारों की संख्या में बिखरे चित्रों का जाल बिछा हुआ है। दूसरे शब्दों में नारी का अष्टयाम और बारहमासी जीवन ही पहाड़ी चित्रशैली का ताना-बाना है।

पहाड़ी चित्रकला में पुरुषों की अपेक्षा नारी का अंकन अधिक कलात्मक ढंग से हुआ है। यह कहना कोई अत्युक्ति नहीं कि किसी एक चित्रशैली में ऐसा अंकन अन्यत्र उपलब्ध नहीं। चित्रों को देखने से ऐसा लगता है कि पुरुष तो महज़ नारी के ही प्रभाव को बढ़ाने के लिए अंकित हुए हैं। जहाँ राधा और कृष्ण लीला के चित्र हैं, वहाँ से कृष्ण की आकृति हट जाने से उतना फर्क नहीं पड़ता जितना राधा की आकृति के हट जाने से। कृष्ण तो काँगड़ा चितेरों के नायक थे, आराध्य थे अन्यथा नारी के सौन्दर्य के सन्मुख किसी अन्य पुरुष की भव्यता ध्यान-आकर्षण न कर पाती।

रीतिकाल के कवियों ने सूरदास से लेकर मतिराम, देव और बिहारी के समय तक शब्दों द्वारा सौन्दर्य के जो प्रतिमान स्थापित किए हैं उन पर पहाड़ी कला की नायिका बखूबी उतरती है। यदि रीतिकालीन साहित्य को पढ़कर उसमें वर्णित नायिका के चित्रमय दर्शन के लिए आँखें तरसती हों तो आँखों की यह प्यास पहाड़ी कला के चित्रों को देखकर तृप्त की जा सकती है। नारियों के अंकन में कलाकार का ध्यान नख-शिख और अंग-प्रत्यंग पर बराबर बना रहा है। उजले रंग और बारीक लयात्मक रेखाओं के सामंजस्य से उभरती आकृति सौन्दर्य की निर्मल प्रतिमा है। इन सुकुमार आकृतियों में स्त्री की अपार सुषमा है, शरीर की लावण्य-

प्रभा है और मुख एक विशिष्ट कांति से दीप्त है। इन चित्रों को देखकर चित्रकार की सौन्दर्य-दृष्टि पर आश्चर्य होता है। नायक-नायिकाओं के प्रेममय जीवन का भरापूरा अंकन यहाँ देखने में आता है। इस प्रेम-लीला के पात्र साधारण जीवन के पात्र नहीं जहाँ प्रेम का छिछला रूप देखने में आता हो; इसके केन्द्र-बिन्दु तो राधा-कृष्ण हैं जो युग-युगान्तर से कोटि-कोटि जन-मन के आराध्य हैं। और फिर इस आराध्य का जहाँ देवोपम रूप देखने को मिलता है, वहाँ वह मानवीय रंगों में भी ऐसा रँगा है कि सहज ही साधारण जन उसमें निजी जीवन की

निकटता देख सकता है। कृष्ण-लीला का यह रूप चितेरों के लिए आकर्षक रहा। और कृष्ण-लीला सम्बन्धी ये कलाकृतियाँ संसार-भर के कला-इतिहास में प्रतिष्ठित होकर अपना विशेष स्थान रखती हैं। कृष्ण के जीवन का स्वरूप पहचानने पर ऐसा लगता है कि वह धर्म की सँकरी गलियों में समा नहीं पाता, वह तो विश्व-मानव के जीवन का प्रतीक मात्र है। इसका शैशव, कैशोर्य और यौवन वय के अनुरूप इतना उन्नत है कि अन्यत्र दुनिया की संस्कृति व इतिहास में वह अपना समकक्ष नहीं रखता। पहाड़ी चित्रकला में राधाकृष्ण की लीला, विशेषतः किशोर-किशोरी का जीवन अत्यन्त सजीवता से अंकित हुआ है। और चित्रों की यह भाषा किसी वर्ग-विशेष के लिए नहीं, सभी स्त्री-पुरुष और पढ़-अनपढ़ के लिए है। प्रबुद्ध व्यक्ति इनके जीवन-दर्शन को ऐसी रंगीन और समर्थ शैली में देखकर आश्चर्य-चकित रह जाता है।

धर्म की भूमिका

कोई भी कला युग-बोध को नकार नहीं सकती। आज जब 'धर्म' शब्द हमारे मानस अथवा चिन्तन से अपदस्थ हो चुका है और धर्म को प्रचलित लेकिन अनुचित रूप में साम्प्रदायिकता का पर्यायवाची समझा जा

रहा है, कला के अध्ययन-विवेचन में भी धर्म की भूमिका के महत्त्व को सहजता के साथ स्वीकारना कठिन हो गया है। अतीत में धर्म अपने व्यापक रूप में जीवन का तौर-तरीका रहा है जो मानवीय मूल्यों में निहित किसी शाश्वत चेतना से नियमित होता रहा। जो कला युग-धर्म के ऊपर भी अपना अस्तित्व बनाए रही है, वही वास्तविक कला है और ऐसी कला सर्वदा ही शाश्वत धर्म से अनुप्राणित व अनुप्रेरित रही है। ऐसी कला जीवन के उन्नयन में सहायक है, यही कला जीवन-दृष्टि को समृद्ध करती है।

कलाकारों की धर्म के प्रति प्रतिबद्धता ने उनकी भावनाओं को कुंठित नहीं किया है बल्कि कला को एक चेतनामय स्वरूप दिया है। ई० बी० हावेल तो कलाकार को एक साथ धर्मगुरु और कवि मानते हैं।

पहाड़ी कला के समीक्षक एम० एस० रंधावा ने भी धर्म की महत्ता को स्वीकार करते हुए लिखा है, "हर महान् कला धर्म से प्रेरणा पाती है, धर्म वह भावावेग है जो मानवता को पार्थिव स्तर से ऊपर उठाता है। काँगड़ा कलाकार महज़ शिल्पकार ही नहीं थे, वे ऐसे अनुप्रेरित व्यक्ति थे जो वास्तविक धार्मिक व कवित्वमय जीवन व्यतीत करते थे जिसे हम नैसर्गिक जीवन की संज्ञा दे सकते हैं। यह एक बड़ा तत्त्व है जिससे हमें मुग़ल चित्रकला के मुकाबले में काँगड़ा चित्रकला की उच्च-स्तरीय उपलब्धि का पता चलता है।"[१]

कला के उन्नयन में धर्म की भूमिका को डॉ० आनन्द के० कुमारस्वामी ने भी स्वीकार किया है। लेकिन चार्ल्स फैब्री धर्म की भूमिका पर मत-वैभिन्न्य प्रकट करते हुए से लगते हैं, "डॉ० आनन्द के० कुमारस्वामी के कृतित्व के सम्बन्ध में मैं खुलकर नहीं कह सकता। वे हमारे सर्वमान्य वयोवृद्ध हैं और इस पीढ़ी के हम सभी लोगों ने उनकी पुस्तक पर निर्भर किया है। फिर भी एक तथ्य यह है कि उनके सामने काल और व्यवस्था की सुनिश्चितता पर आधारित निर्माण का एक ऐसा वृहत् कार्य था कि कलात्मक सौन्दर्य सम्बन्धी उनका मत स्वतंत्र नहीं हो पाया। अभी भी उनके कार्य का अधिकांश पुरातत्व तथा मूर्तिकला की खोजबीन ही है, और वे पंडितों की इस वर्तमान धारणा से ग्रस्त हैं कि समस्त भारतीय कला को धार्मिक दृष्टिकोण से ही देखा जाना चाहिए। उन्होंने ही एक दृढ़ आधार पर इस नियम की स्थापना की कि भारतीय कला को आध्यात्मिक अभिव्यक्ति के रूप में देखना चाहिए और धार्मिक मूल्यों का निकट अध्ययन ही कलात्मक मूल्यांकन का आधार है। इस विचारधारा से तो ऐसा लगता है जैसे पैट्रिस्टिक क्रिश्चियन साहित्य की मदद से हम गोथिक कैथेड्रल के सौन्दर्य को पहचान पाएँगे।"[२]

---

१. All great art is inspired by religion, which is an emotion that lifts humanity from the earthly plane. The Kangra artists were not mere artisans, but inspired men who led a real religious political life and as we may say, the life of Zen. This is one major factor which explains the high level of achievement which we see in Kangra painting as compared with Mughal painting.

—M. S. Randhawa, Kangra Paintings of the Bhagavata Purana, p. 35.

२. Of Dr. Anand K. Coomaraswamy's work I speak with hesitation. He was in many ways, our universal uncle and all of us, of this generation, were brought up on his book. The fact remains, nevertheless, that he had such a gigantic task to erect an edifice of chronological and systematic order that his aesthetic judgements are far from free. Most of his work is still archaeological

यहाँ हम स्थिति को यों स्पष्ट करना चाहेंगे : कला को समझना-बूझना तो कलात्मक दृष्टिकोण अपनाने पर ही सम्भव है लेकिन भारत में कला जीवन से रहित नहीं और एक सुन्दर उद्देश्यपूर्ण जीवन-पद्धति का संकेतक धर्म है। जो 'धर्म' पंडितों के हाथों रूढ़िग्रस्त हो गया है, जिसमें जीवन-प्रवाह नज़र नहीं आता उसके साथ कला के रिश्ते को स्वीकारना वास्तव में ही असंगत है और इसी को दृष्टिगत रखते हुए चार्ल्स फैब्री ने तर्क के आधार पर डॉ० आनन्द के० कुमारस्वामी के दृष्टिकोण से सहमति प्रकट नहीं की है। इस बात से हम इन्कार नहीं कर सकते कि कला के सम्बन्ध में कोई धारणा बनाने से पहले हमें उस धर्म और साहित्य का ज्ञान रखना आवश्यक है जो उस कला के पीछे बराबर सतर्क-सक्रिय रहा हो। यहाँ कला, धर्म और साहित्य की जीवन के प्रति अलग-अलग दृष्टि नहीं, अपने अंतिम व समन्वयात्मक रूप में वह शाश्वत चेतना की एक प्रबुद्ध अभिव्यक्ति है।

वैष्णव परम्परा

वैष्णव धर्म मध्यकाल में अर्थात् ग्यारहवीं शताब्दी में खूब पनपता नज़र आता है। यही बाद में पहाड़ी कला के लिए एक सम्पन्न सांस्कृतिक भूमिका बना है। वैष्णव धर्म के अनुयायियों ने संस्कृत तथा क्षेत्रीय भाषाओं के विकास में महत्त्वपूर्ण योग दिया है। वैष्णव धर्म के आचार्यों ने जिन सरस और भक्तिभावपूर्ण पदों की रचना की है उनसे कृष्ण और राम भक्ति का प्रचार वर्गीय भेदभाव की उपेक्षा कर हुआ है। यहाँ जाति-पाँति की जर्जर ज़ंजीरें टूटती नज़र आती हैं। चैतन्य और वल्लभ आचार्यों के अनुयायियों में मुसलमान भी सम्मिलित थे। वैष्णव धर्म का प्रचार-प्रसार जन-साधारण के लिए था। यह कर्मकाण्ड की जटिलता और ज्ञान-मार्ग की दुरूहता से दूर था जिससे आम लोगों के लिए आध्यात्मिकता की ओर उन्मुख होना संभव हो गया था। आध्यात्मिकता में किन्हीं संस्कारों की रूढ़िता पर बल न देकर भावों की पवित्रता, भक्ति की निर्मलता और हृदय की सहज ग्राह्यता पर बल रहा। इस प्रकार का भक्ति-आन्दोलन मुग़ल-सत्ता की दमनपूर्ण नीतियों की प्रतिक्रियास्वरूप पनपा जिसे भारतीय समाज ने हृदय से अपनाया।

वैष्णव धर्म में कृष्ण-भक्ति भारतीय समाज में खूब प्रतिष्ठित हुई थी। कृष्ण को विष्णु का अवतार माना गया है। जहाँ पहाड़ी चित्रकला ने वैष्णव धर्म को विस्तृत रूप से चित्रित किया है, वहाँ कृष्णलीला तो उसका सर्वाधिक प्रिय विषय रहा।

सांस्कृतिक पटल पर ही देखें तो वैष्णव धर्म शंकर के अद्वैतवादी सिद्धान्तों की प्रतिक्रियास्वरूप जन्म लेता नज़र आता है। इसके प्रमुख आचार्यों में रामानुज, निम्बार्क आदि गण्य हैं। रामानुज (१०१६-

---

and iconographical; and he fell victim to the punditic belief of today that all Indian art must be viewed from a religious point of view : it was he who established the principle on a firm basis that Indian art must be viewed as a spiritual utterance, and a close knowledge of Indian religious tenets is the basis of artistic evaluation. As if the knowledge of Patristic Christian literature would help us to see that aesthetics of a Gothic Cathedral.

—Dr. Charles Fabri, A History of Art History in India, Design, October, 1963, p. 40.

११३७ ई०) ही ऐसे पहले व्यक्ति थे जिन्होने ब्राह्मणों के साथ शूद्रों और अंत्यजों को भी वैष्णव धर्म में दीक्षित होने का अधिकार दिया। सामाजिक समता में उनका दृढ़ विश्वास था।

शंकराचार्य ने उपनिषदों में 'अद्वैत' की जिस रूप में व्याख्या की है रामानुज ने अपने ग्रंथ 'वेदार्थ संग्रह' में उसका खण्डन किया है। 'गीता की टीका' में भी उन्होंने भक्ति पर ही बल दिया है। वेदान्त-सूत्र के श्रीभाष्य में वेदान्त सूत्रों की व्याख्या करके वैष्णव धर्म व भक्ति दर्शन को प्रस्तुत किया है। रामानुज ने ब्रह्म के स्थान पर ईश्वर को मान्यता दी है। रामानुज की दृष्टि में ईश्वर, जीव और प्रकृति एकाकार हुए हैं और परस्पर इस रूप में मिले हैं कि इन तीनों में से एक को भी अलग नहीं देखा जा सकता। उनकी मान्यता है कि 'मैं' परमात्मा का अंश है, आत्मा का परमात्मा से तभी मिलन संभव है जब आत्मा प्रेम के मार्ग पर अग्रसर हो, भक्ति का आँचल पकड़े और जिस परम सत्ता से वह अलग हुई है उसी में विलीन होने के लिए उसमें अन्तर्निहित आकुलता हो, जो भक्ति-मार्ग पर बढ़ा है उसे स्वर्ग-प्राप्ति की इच्छा नहीं होनी चाहिए, उसे परम सुख की प्राप्ति अपने आराध्य के गुण गाने में ही हो सकती है। उनके मत में ज्ञान, कर्म और भक्ति, तीनों में भक्ति श्रेष्ठ है और यही प्रपत्ति का सबसे सुगम साधन है।

भक्ति के मुख्य आधार ग्रंथ 'भागवत' की रचना ६०० ई० के आसपास मानी जाती है और रामानुज उसके पर्याप्त बाद में आए। सातवीं से नवीं शताब्दी तक दक्षिण में भक्ति की लहर चली। इन दिनों आलवार संतों का बोलबाला रहा। ये संत निम्न जातियों के थे लेकिन अपने चरित्र की पवित्रता और हृदय की गुण-ग्राह्यता के कारण लोकप्रिय हुए। रामानुज पर आलवार संतों का प्रभाव स्पष्ट नजर आता है। भक्ति का जो स्वरूप आलवार संतों से लेकर रामानुज और निम्बार्क तक नज़र आता है उस पर इस्लामी प्रभाव कतई नहीं है।

वैष्णव भक्ति के बाद रहस्यवादी संतों की अनुभूतियाँ हमारा ध्यान आकृष्ट करती हैं। यहाँ रहस्यवाद के जिन कवियों पर ईरानी सूफियों का प्रभाव नज़र आता है उनमें जायसी, कुतबन और उस्मान गण्य हैं। रहस्यवाद संबंधी पद्धति में आत्मा का 'प्रेमी' और परमात्मा का 'प्रेमिका' के रूप में परिचय मिलता है। यह 'प्रेमी' एक राजकुमार है और 'प्रेमिका' राजकुमारी। इनके बीच की कड़ी गुरु है जो राजकुमारी के रूप का वर्णन कर राजकुमार के हृदय में उसके प्रति प्रेम को सजग करता है। राजकुमार राजकुमारी को पाने के लिए उत्सुक है और मिलन की राह में कई व्यवधान पैदा होने से आकुल हो उठता है। अनेक बाधाएँ आती हैं जिन्हें सूफी भाषा में माया के रूपक और शैतान के खेल माना गया है। लेकिन अन्ततोगत्वा मिलन होता है। राजकुमार और राजकुमारी दाम्पत्य सूत्र में बँधते हैं। लेकिन विवाह के बाद दोनों बिछुड़ते हैं—यह वियोगावस्था है जिसमें मिलन की उत्कट इच्छा बेचैनी की सीमा तक पहुँचती है। प्रतीकों के अनावरण पर राजकुमार और राजकुमारी कोई अन्य नहीं, वे आत्मा और परमात्मा हैं। आत्मा की परमात्मा को पाने की बेचैनी बराबर बनी रहती है। पहाड़ी चित्रकला में यही प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति एक सुन्दर, सहज, कलात्मक संसार का सृजन करती है।

सूफियों ने परमात्मा को सौन्दर्य का प्रतीक माना है और आत्मा को उसकी प्राप्ति की राह। इसी को कथा में रूपांतरित करने वाले जायसी थे और चित्रों में पहाड़ी कला के चितेरे। सूफी सौन्दर्य और प्रेम के उपासक थे, शारीरिक सौन्दर्य को शब्दचित्रों द्वारा व्यक्त करने में उन्हें कमाल हासिल था। सौन्दर्य और प्रेम दो ऐसे बिन्दु रहे जिनका अंकन और पारस्परिक संबंध की स्थापना पहाड़ी कला ने बखूबी की है।

कबीर, दादू और नानक से जो रहस्यवाद अभिहित होता है, वह उपर्युक्त रहस्यवाद से भिन्न है

लेकिन इसकी चर्चा अनावश्यक है क्योंकि निर्गुण भक्ति से इनका संबंध रहा और पहाड़ी कला की पृष्ठभूमि में जो चिन्तन रहा उसमें किसी रूप में इनका योगदान नहीं देखा जा सकता।

भक्त-कवियों को तीन प्रकार की श्रेणियों में देखा जा सकता है। एक तो ऐसी श्रेणी है जिसके कवि कथा-काव्य की प्रणाली में रहस्यवाद को अभिव्यक्ति देते रहे। इस श्रेणी के प्रमुख कवि जायसी थे। दूसरी श्रेणी में निर्गुण कवि आते हैं जिनमें कबीर अग्रणी हुए। तीसरी श्रेणी में विद्यापति, चण्डीदास, सूरदास और तुलसीदास सम्मिलित किए जा सकते हैं जिन्होंने भक्त होने के साथ मनुष्य के प्रेम को अपने चिन्तन में प्राथमिकता दी। तीसरी श्रेणी के कवियों की पदावलियाँ पहाड़ी कला के चितेरों का चिन्तन बनीं और उसी चिन्तन में उन्होंने अपने चित्रों की सर्जना की। जिन हिन्दी कवियों के काव्यांशों को पहाड़ी कला के चितेरों ने विशेष रूप से चित्रित किया उनमें केशवदास भी गण्य हैं। लेकिन इन सबसे ऊपर 'गीत-गोविन्द' और 'बिहारी सतसई' है जिसके चित्रण में पहाड़ी चित्रकला की विशिष्टतम उपलब्धियाँ संभव हुई हैं।

काव्य, चित्रकला और संगीत का समन्वय

पहाड़ी चित्रकला की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि अत्यन्त सम्पन्न है। पहाड़ी चित्रकला में काव्य, संगीत और चित्रकला का समन्वय संसार-भर की कलाओं में एक अद्वितीय उपलब्धि है। चीन और जापान में भी हमें काव्य और चित्रकला के समन्वय का पता चलता है लेकिन पहाड़ी चित्रकला में तो काव्य, संगीत और चित्रकला के सुखान्त समन्वय के पीछे भारतीय संस्कृति का अत्यन्त समृद्ध दर्शन है। रंधावा के शब्दों में, "काव्य का चित्रकला में रूपान्तर ही काँगड़ा कला का अद्वितीय गुण है। काव्य की पीठिका में प्रवहमान लयात्मक रेखाओं ने काँगड़ा कला को गेयता दी है। इसे सहज ही शान्त संगीत कहा जा सकता है। यह वह कला है जो मोजार्त के संगीत की तरह आपको मंत्रमुग्ध करती है। इन चित्रों के मौन संगीत में प्रशामक गुण है और मानसिक व्यथा के कठिन क्षणों में आप इन चित्रों में सान्त्वना पा सकते हैं। यह वह कला है जो मन को सुखकर प्रतीत होती है और आत्मा को ऊँचा उठाती है।"[१]

काँगड़ा चित्रकला से पूर्व राजस्थानी चित्रकला में हम पाते हैं कि वहाँ चितेरों ने केशवदास, सूरदास और बिहारी की कविता से प्रेरणा पायी और इनके काव्य के अनेक पदों को चित्रित किया। सत्रहवीं शताब्दी में रागमाला चित्रों का सृजन हुआ जिनमें साहित्य, संगीत और चित्रण का घना सम्बन्ध नज़र आता है। इस चित्रण में राग और रागिनियाँ अपने प्रवहमान अवयवों में मुखरित हुईं। विभिन्न राग और रागिनियाँ कहीं अलग-अलग और कहीं ग्रंथचित्रण में संयुक्त रूप से अंकित हुई हैं। राग और रागिनियों के लिए यथेष्ट वातावरण का अंकन इन चित्रों की विशेषता है। बहुत से चित्रों पर, विषय को ध्यान में रखते हुए रीतिकालीन

१. The translation of poetry into painting is a unique feature of Kangra painting. The background of poetry coupled with the flowing rhythmical line has given Kangra painting a lyrical quality. It may be aptly described as frozen music. It is an art which like Mozart's music casts a spell on you. The silent music of these paintings has a soothing quality, and in moments of severe mental distresss you can turn to them for comfort. It is an art which pleases the mind and elevates the soul.

—M. S. Randhawa, Kangra Paintings of the Bhagavata Purana, p. 35.

कवियों के सम्बद्ध पदों का उल्लेख रहता है और अनेक बार रागों के लक्षण भी लिखे रहते हैं।

भारतीय कला के इतिहास में राजस्थानी चित्रों में रागमाला का अंकन जाना-पहचाना था। पर्याप्त समय तक यह धारणा बनी रही है कि रागमाला की ओर पहाड़ी चितेरों का सीधा ध्यान नहीं गया है। लेकिन पिछले सोलह-सत्रह वर्षों से भारत के अनेक संग्रहालयों में ऐसे चित्र भी संकलित हुए हैं जो प्रत्यक्ष ही राग-माला के बोधक हैं और ऐसा भी नहीं कहा जा सकता कि पहाड़ी चित्रकला के अन्य लोकप्रिय विषयों को चित्रित करते हुए किन्हीं राग और रागिनियों का चित्रण अनायास अथवा अनजाने में हो गया हो क्योंकि इन चित्रों के पीछे राग और रागिनियों के नामों का स्पष्ट उल्लेख है। रागमाला के चित्रण में कलाकार का ध्यान उन विशेषताओं की ओर गया है जहां किसी राग अथवा रागिनी के लिए यथेष्ट वातावरण एक अपेक्षा बन जाती है। और साथ ही राग-रागिनियों के अन्य गुण भी किन्हीं विविध अवयवों और प्रतीकों द्वारा इन चित्रों में उभरे हैं।
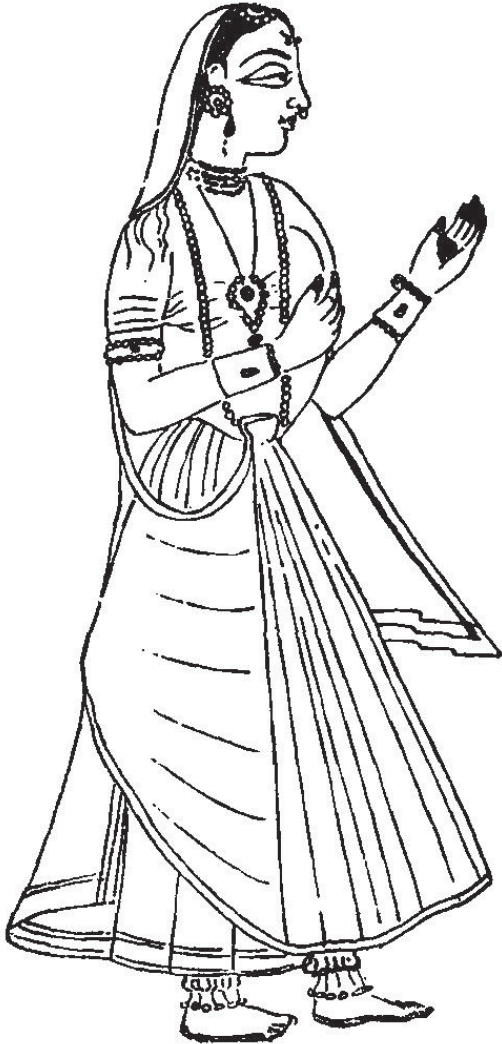
जिस-जिस कला-क्षेत्र में स्थानीय बोली के लिए टाँकरी लिपि का उपयोग होता था, वहाँ अनेक चित्रों पर टाँकरी लिपि के लेख हैं। ऐसे चित्रों में रामलीला और रासलीला के अलावा रागमालाएँ भी भिन्न रीति से उद्धृत हुई हैं। साहित्य और चित्रकला जिस अन्य विषय पर समन्वयात्मक रूप से मुखरित हुई है, वह नायक-नायिका भेद का चित्रण है। इस शैली के चित्र सत्रहवीं-अठारहवीं शताब्दी में बने, जो प्रतिकृतिपरक कला की सुन्दरतम कृतियाँ हैं। शृंगार रस की सुन्दर अभिव्यक्ति पहाड़ी कला में खूब हुई है। शृंगार रस रति स्थायी भाव पर आधारित है और यह भाव स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध में मुखरित होता है। इस प्रकार स्त्री-पुरुष के रति-सम्बन्ध की अनेक स्थितियाँ शृंगार के आलम्बन के रूप में प्रकट होती हैं और इन्हीं के आधार पर नायक-नायिका-भेद विकसित होता है। इस विषय पर सबसे पहले वात्स्यायन के 'कामसूत्र' में प्रकाश डाला गया है। 'कामसूत्र' में नायक, नायिका, सखी और दूतियों का विस्तारपूर्वक वर्णन मिलता है। पहाड़ी कलम में भी ये चित्र बखूबी उभरे हैं। हिन्दी में नायिका-भेद साहित्य के दो प्रमुख स्रोत संस्कृत का काव्य-शास्त्र और कृष्ण-साहित्य हैं। कृष्णभक्ति के विकास में ही रस-सिद्धान्त का प्रभाव प्रकट हुआ है। काँगड़ा कलाकृतियाँ कृष्णलीला को अपनी भरपूर रंगीनियों के साथ मुखरित करती हैं। शृंगार के प्रति कला का आकर्षण बराबर बना रहा है और कृष्णलीला के अंकन में जहाँ पहाड़ी कलाकारों ने अपने आराध्य कृष्ण के प्रति श्रद्धा का परिचय दिया है, वहाँ उसी कलेवर में उनकी स्वाभाविक शृंगारप्रियता का परिचय भी मिलता

है। कृष्ण, राधा तथा गोपियों की कल्पना और उससे उद्भूत साहित्य नायक और नायिका-भाव के विकास का परिचायक भी है। इनकी प्रेम-क्रीड़ाओं में राधा और गोपियों का चरित्रांकन नायिकाओं के रूप में हुआ है। भक्ति-साहित्य में कृष्ण के प्रति राधा और गोपियाँ जिन मधुर भावनाओं को लेकर उभरती हैं, वही विभिन्न नायिकाओं की स्थितियों के विकास का आधार बन जाता है। हिन्दी का सम्पूर्ण नायक-नायिका भेद साहित्य, काव्य और कला की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। उक्त काव्य में माधुर्य, व्यंग्यार्थ, छन्दप्रवाह तथा अलंकारों का सुन्दर प्रयोग तो है ही, उसमें सूक्ष्म कल्पना-शीलता भी निहित है और इन सबका ज्ञान चितेरों की कल्पना को सहेजता है, उनके कलात्मक बोध को समृद्ध बनाता है। जिस प्रकार कवियों ने नायिका के सौन्दर्य-वर्णन तथा प्रेम-सम्बन्धी अनेक स्थितियों और परिस्थितियों के मध्य उसका मानसिक चित्रण किया है उसी प्रकार चितेरों ने रंग और रेखाओं के माध्यम से उसे सजीव किया है। कृष्ण और गोपियों के प्रेम का सबसे अधिक सजीव वर्णन बारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में जयदेव द्वारा रचित संस्कृत-काव्य 'गीत-गोविन्द' के शब्द-चित्रों में उपलब्ध होता है।

पहले संकेत किया जा चुका है कि पहाड़ी कला एक समन्वयात्मक सांस्कृतिक पृष्ठभूमि पर खड़ी है। उसी के निरूपण से यह भी स्पष्ट होता है कि काँगड़ा कला का विकास एक ऐसी सामंजस्यात्मक स्थिति से हुआ जिसमें मुग़ल शैली की छाप है, जो वैष्णव धर्म से अनुप्रेरित है, संस्कृत-काव्य से अनुप्राणित है; जिसमें हिमालय की गरिमा है और जिसमें काँगड़ा घाटी का प्राकृतिक सौन्दर्य ही नहीं, यहाँ के सुन्दर लोगों—विशेषत: नारियों का भी चित्रण हुआ है।

४

रंग और रेखाएँ

पहाड़ी चित्रकला के उपकरण और चित्र तैयार करने की विधि

पहाड़ी चित्रकला किस उद्देश्य से प्रेरित हुई और जो लघु आकार उसका रहा है वही क्यों उपयुक्त था ? वास्तव में पहाड़ी राजा अथवा सामान्य जनता धार्मिक संस्कारों में पले थे। वे वैष्णव धर्म के अनुयायी थे। कलाकारों ने लघु चित्र अत्यधिक संख्या में बनाने आरम्भ किए थे जो महज़ राजाओं व अन्य धनी-मानी लोगों तक ही सीमित न रह जाएँ अपितु उनका उपयोग जन-साधारण के लिए भी हो। जहाँ जन-साधारण की आवश्यकता और उपयोग की बात थी वहाँ चित्रों का अत्यधिक संख्या में बनने की बात समझ में आती है। चित्र घर-घर में पहुँचे जहाँ उन्हें सुरक्षित रखा गया। इन चित्रों का धार्मिक आस्था से प्रेरित होकर संकलन और संरक्षण हुआ और इन्हें पूज्य समझा गया। जो चीज़ पूज्य है, वह पवित्र भी है, उसकी रक्षा तो होनी ही चाहिए।

आश्चर्य होता है कि इतने सूक्ष्म, सुन्दर और कलापूर्ण चित्रों का निर्माण इतनी बड़ी संख्या (डॉ० राधा-कमल मुकर्जी के अनुसार जो पहाड़ी चित्र आज बचे हैं उनकी संख्या पचास हज़ार है) में कैसे हुआ ? संभवतः आज के युग में भी किसी एक कला-आन्दोलन के अन्तर्गत इतनी संख्या में चित्र नहीं बन पाए।

पहाड़ी चित्रों के इतनी अधिक संख्या में अंकन का कारण एक व्यवस्था थी जिसके सम्बन्ध में सोचने पर हमारा ध्यान प्राचीन गुरुकुलों की ओर जाता है। गुरुकुलों की ही भाँति कुछ कलाकेन्द्र उभर आए थे जो गुरु-केन्द्रित थे। इन कलाकेन्द्रों में सिद्धहस्त कलाकार (गुरु) के यहाँ कला सीखने के प्रयोजन से कुछ नवयुवक इकट्ठे हो जाते थे। गुरु आरंभ में रेखाचित्र स्वयं बनाया करते थे और शिष्यों को अपनी देखरेख में रंग भरने की शिक्षा देते थे। कुछ शिष्य रेखाचित्र बनाने में दक्ष हो जाते थे। कुछ अपूर्ण चित्र भी देखने में आए हैं जिनसे इन चित्रों के विकास व निर्माण का पता चलता है। इन चित्रों से यह भी प्रकट होता है कि अनेक चित्र नौसिखियों के बनाए हैं। इन अपूर्ण चित्रों में कतिपय ऐसे रेखाचित्र हैं जिनमें भरे जाने वाले रंगों के नाम दिए गए हैं या रंग के थोड़े से आलेप द्वारा ही संकेत दे दिया गया है। रंगों के चयन पर हम अलग से प्रकाश डालेंगे। यहाँ मात्र इतना कहना पर्याप्त है कि रंगों सम्बन्धी सूझ-बूझ नौसिखियों के लिए सहज न थी, इसलिए वे गुरु से इस सम्बन्ध में आवश्यक निर्देश लेकर रेखाचित्रों पर ही कभी-कभी रंगों के नाम लिख डालते थे। अनेक रेखाचित्र पहले से ही तैयार कर लिए जाते थे और जब किन्हीं चित्रों की मांग आती तो उसके अनुसार रंग भरकर

चित्र प्रस्तुत कर दिए जाते थे। ऐसी अवस्था में कुछ अदल-बदल की गुंजाइश भी रहती थी। एक ही चित्र की अनेक प्रतियाँ भी देखने में मिली हैं और कुछ चित्रों में इतनी समानता भी नज़र आती है कि ध्यान से देखने पर ही उनमें किंचित भेद प्रकट होता है। वास्तव में जब एक रेखांकन तैयार होता था तो वह ड्राइंग सुरक्षित रख ली जाती थी। यह मूल ड्राइंग हिरण की चमड़ी पर बनायी जाती थी। विविध चित्रों की ऐसी अनेक ड्राइंगें तैयार कर ली जाती थीं जिन्हें बहुत सँभाल कर रखा जाता था। कलाकार की यह सामग्री कई पीढ़ियों तक हस्तांतरित होती जाती थी। पहाड़ी चित्रकला में जो रंग प्रयुक्त हुए हैं, उन्हें चितेरे स्वयं तैयार करते थे। अधिकांश रंग फूलों, फलों और वनस्पतियों से बनाए जाते थे। रंगों की इस विधि को कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने भी अपनाया था। कपड़ों को छापने के रंग भी स्थानीय रूप से तैयार होते थे। यह परम्परा काफी लम्बे अर्से तक चली आयी। आर्ट स्कूल के प्रिंसिपल श्री लौकवुड किपलिंग ने सन् १८८३ में लिखा था—"यह विद्या काँगड़ा की असाधारण विशेषता है। यहाँ के छपे हुए कपड़ों में निश्चय ही दिल्ली से भी अधिक सफाई पायी जाती है।"

चित्रों के लिए जिस प्रकार के कागज़ का उपयोग होता था वह कुटीर उद्योग का उत्पादन था और सामान्यतः सियालकोटी कागज़ के नाम से जाना जाता था। यह कागज़ मशीनी कागज़ की तरह चिकना और सफ़ेद नहीं था बल्कि कुछ मटियाले रंग पर रहता था। जिन व्यक्तियों ने पहाड़ी कलाकृतियों की मुद्रित अनुकृतियाँ मात्र देखी हैं उन्हें प्रत्यक्षतः चित्र में प्रयुक्त हुए कागज़ का अनुमान नहीं हो सकता। इस कागज़ पर तूलिका (ब्रुश) से हल्के लाल रंग में एक आरंभिक रेखाचित्र बना लिया जाता था। इस कागज़ को किसी सफ़ेद रंग से पोतकर और घटाई करके चिकना बना लिया जाता था। फिर भूरे अथवा काले रंग से रेखाएँ

लगा ली जाती थीं। इस प्रकार जब एक रेखाचित्र अपनी सम्पूर्णता के साथ उभर आता था तो इसमें रंग भरने का काम शुरू होता था—पहले पृष्ठभूमि में रंग भरे जाते थे और फिर आकृतियों में। अब इन रेखाओं को पुनः ब्रुश से गहराया जाता था। इस प्रकार चित्र अपने अंतिम रूप में तैयार हो जाता था।

पहाड़ी कलम के चित्रों में लाल, पीला, नीला और काला रंग समान रूप से बरता गया है। रंगों का उजलापन आज भी देखते ही बनता है। आश्चर्य है कि दो-तीन सौ साल के लम्बे अन्तराल में भी इन रंगीन चित्रों की चमक-दमक सुरक्षित रही है। रंगों पर ध्यान देने से उनकी मूल प्रखरता, तेजस्विता और आभा का सहज आभास होता है। उनके अन्य आकर्षण उनमें निहित सौन्दर्य है, और सौन्दर्यात्मक भावावेग है। भारतीय चित्रकला को ई० बी० हावेल ने खूब समझा था। रंगों पर उनकी निम्न टिप्पणी अत्यन्त सार्थक, रोचक और महत्त्वपूर्ण प्रतीत होती है, "जिस प्रकार भारतीय संगीत में लयात्मकता सम्बन्धी उलझन नहीं बल्कि उसमें वेगयुक्त स्वर-माधुर्य का सूक्ष्मतापूर्ण प्रवाह है उसी प्रकार चित्रकला में भी भारतीय कलाकार गहरे साये, टूटे हुए रंगों का उपयोग नहीं करता। वह तो अपने रंग-संगीत की पूर्ण सधी हुई ताल के द्वारा प्रकाश और वातावरण का प्रभाव उत्पन्न करता है।"[१] चित्रकला में भारतीय परम्परा के उन्नायक सुप्रसिद्ध चित्रकार असितकुमार हालदार[२] ने सत्त्व गुण, रजोगुण और तमोगुण को क्रमशः सृष्टि (ब्रह्मा), स्थिति (विष्णु) और प्रलय (महेश्वर) के रूप में माना है और रंगों में क्रमशः लाल, नीला और सफेद रंग उनके बोधक हैं। संस्कृत काव्यालंकार-शास्त्र के अनुसार तीन गुण (सत्व, रजस् और तमस्) अथवा तीन रंग (लाल, नीला और सफेद) नौ विभिन्न प्रकार के रस-भावों में विभाजित हैं। लाल रंग शांति, करुण और वात्सल्य का, नीला रंग वीर, शृंगार और हास्य रस का तथा सफेद रंग अद्‌भुत, वीभत्स और रौद्र रस का बोधक है। रंग और भाव के सम्बन्ध में यह निरूपण कोई अंतिम नुक्ता नहीं समझ लेना चाहिए अन्यथा उससे भ्रान्ति हो सकती है। यों परम्परागत भारतीय चित्रकला में रंगों की सार्थकता को समझने में भावों के साथ इनका रिश्ता महत्त्वपूर्ण अवश्य है।

पहाड़ी कला अपने लयात्मक रंगीन चित्रों में अपनी सूक्ष्मता के साथ बखूबी उभरी है। इस सूक्ष्मता को उभारने में कलाकार की तूलिका और उसके अभ्यस्त हाथ खूब सक्षम थे। ये कूचियाँ गिलहरी के पूँछ के बालों की बनती थीं। चित्रों के बनाने में एक बाल के ब्रुश तक का उपयोग हुआ है। सूक्ष्मता में विस्तार देखने को मिलता है—इतनी सूक्ष्मता और नफासत उभर आयी है कि उन्हें ठीक तरह से देखने के लिए मैग्नीफाइंग ग्लास की आवश्यकता प्रतीत होने लगती है।

भित्तिचित्रों पर प्रयुक्त हुए रंगों पर कुछ कला-मर्मज्ञों ने प्रकाश डाला है। जयपुर के भित्तिचित्रों के सम्बन्ध में ई० बी० हावेल ने अपनी पुस्तक 'द आर्ट हैरिटेज ऑफ़ इंडिया' में रंगों के निम्नांकित नाम[३] दिए हैं :

---

१. Just as in Indian music there are no complicated harmonies, but a subtle flow of pure intensive melody, so in painting, too, the Indian artist eschews strong shadows and broken colours, producing an effect of light and atmosphere by the perfect rhythm of his colour music.

E. B. Havell, The Art Heritage of India, pp. 94-95,

२. असितकुमार हालदार : भारतीय चित्रकला (इतिहास), पृ० ५८।

३. इन रंगों की सूची उन्होंने इस प्रकार बढ़ा दी है—

Raw siena, Burnt siena, raw umber, Naples Yellow, Venetian red, Green oxide of chronium, Cobalt blue.

हाज़ा पत्थर, पीला पत्थर, लाजवर, हिंगुल, सिंदूर, नील, काजल, कोयला और चूना।

दूसरे कला-मर्मज्ञ जगदीश मित्तल ने चम्बा भित्तिचित्रों में प्रयुक्त हुए रंगों का ब्यौरा इस प्रकार दिया है :

खनिज पदार्थों से बने रंग—

१. मुलतानी मिट्टी
२. गेरु
३. हरमुंजी
४. लाजवर
५. संग्राफ
६. हड़ताल

रासायनिक पदार्थों से बने रंग—

१. सिन्दूर
२. काजल
३. सफेदा

वनस्पति से बने रंग—

१. नील
२. महावर

रेखाएँ

आधुनिक युग में रंग और रेखाओं की सुनिश्चित योजना नज़र नहीं आती। शान्तिनिकेतन से सम्बन्धित अथवा उससे प्रभावित शैली को छोड़कर अधिकांश कलाकारों के चित्रों पर जो यूरोपीय प्रभाव नज़र आने लगा है उसके अनुरूप बने चित्रों में रंगों का भरपूर प्रयोग हुआ लेकिन रेखाओं की सीमाओं को बन्धन मानकर उन्हें त्याग दिया गया है। कलाकार कोई बन्धन नहीं मानता। आधुनिक जीवन अपनी जटिलताओं और कुहासे में दबा कोई स्पष्ट चित्र प्रस्तुत नहीं कर सकता। ऐसे दुरूह जीवन की अभिव्यक्ति कलाकार के लिए एक चुनौती है और उसके लिए परम्परागत शैली असमर्थ प्रतीत होती है। रेखाओं का अस्तित्व

किन्हीं कलाकारों के लिए एक बन्धन नहीं, वह तो कला का एक अनुशासन है जो कला के उभार और निखार

में अत्यन्त सहायक है। वर्तमान भारत के अनेक चित्रकारों के लिए रंग और रेखाओं का यह अनुशासन सहज स्वीकार्य है और उन्होंने वर्तमान भारतीय जन-जीवन की बहुविध यथार्थवादी झलकियाँ प्रस्तुत करने में बड़ी ही समर्थ अभिव्यक्ति दी है।

रेखाओं के महत्त्व को स्वीकार करते हुए ब्लेक ने लिखा है—"प्रकृति में बाह्य रेखा का अंकन नहीं लेकिन कल्पना में अवश्य है।"[१] ब्लेक ने आकार-संकेतक रेखाओं के महत्त्व पर बहुत ही बल दिया है जिसे सुप्रसिद्ध कला-समीक्षक हर्बर्ट रीड ने भी स्वीकार किया है। आकार-संकेतक रेखाओं को वह जीवनव्यापी महत्त्व देते हुए लिखते हैं, "कला और जीवन का एक बहुत बड़ा नियम यह है : आकार-रेखाएँ जितनी ही स्पष्ट, बारीक और घुमावदार होंगी उतनी ही वे कलापूर्ण होंगी। और वे रेखाएँ जितनी कम प्रखर और कम बारीक होंगी उतनी ही वे कमज़ोर कल्पना, नकल और अदक्षता का प्रमाण देंगी। यह निश्चित और सीमासूचक आकृति का अभाव कलाकार के मन में भावनाओं की कमी और कला की सभी शाखाओं में नकल को प्रकट करता है। इस बाह्य रेखा के बिना हम ओक वृक्ष और बीच वृक्ष तथा घोड़े और बैल के अन्तर को कैसे पहचान सकते हैं ? इसी बाह्य रेखा और इसके अनगिनत रूप और गति के अभाव में एक चेहरा दूसरे चेहरे से कैसे पहचाना जाएगा ? वह कौन-सी चीज है जिससे एक घर का निर्माण होता है और एक बाग लगता है—क्या यह वही (रेखा) नहीं जो सुनिश्चित और निर्धारित है। वह क्या चीज़ है जो ईमानदारी को धूर्तता से अलग करती है, यह वही तो कार्यकलाप और संकल्प में सदाचार और निश्चितता की दृढ़ और पुष्ट रेखा है। इस रेखा को हटा लो और तुम जीवन से ही किनारा कर लेते हो।"[२]

रंग—विभिन्न शैलियों में

पहाड़ी कला की विभिन्न शैलियों में रंगों का वैविध्य देखा जा सकता है अर्थात् काँगड़ा कलम में रंगों का चयन और उपयोग जिस ढंग से हुआ है वह बसोहली कलम से भिन्न है। बसोहली कलम में मुख्य व प्राथमिक रंगों (लाल, नीला और पीला) का ही अधिकांशतः प्रयोग हुआ है लेकिन काँगड़ा व गुलेर कलम के चित्रों

---

१. Nature has no outline but imagination has.

२. "The great and golden rule of art, as well as of life, is this : That the more distinct, sharp and wiry the bounding line, the more perfect the work of art, and the less keen and sharp, the greater is the evidence of weak imagination, plagiarism, and bungling---The want of this determinate and bounding form evidences the want of idea in the artists' mind, and the pretence of plagiary in all its branches. How do we distinguish the oak from the beech, the horse from the ox but by the bounding outline ? How do we distinguish one face or countenance from another but by the bounding line and its infinite inflections and movements ? What is it that builds a house and plants a garden but the definite and determinate ? What is it that distinguishes honesty from knavery but the hard and wiry line of rectitude and certainty in the actions and intentions ? Leave out this line and you leave out life itself.—Blake.

Harbert Read—The Meaning of Art.

में इन रंगों के विभिन्न मिश्रण तथा आभा नज़र आती हैं। बसोहली की पृष्ठभूमि का अंकन किसी एक रंग या अधिक रंग की एक ही घसीट में हुआ है लेकिन काँगड़ा अथवा गुलेर की पृष्ठभूमि में रंगों की विविधता है और साथ ही सूक्ष्मता भी। दोनों शैलियों की अग्रभूमि में भी बड़ा भेद है।

बसोहली कलम में प्राथमिक व मुख्य रंगों के अधिकांश उपयोग से यह सीधा संकेत मिलता है कि यह शैली काँगड़ा कलम की अपेक्षा लोककला के अधिक नज़दीक रही है। काँगड़ा कलम तो पहाड़ी कला का अत्यन्त परिष्कृत रूप था लेकिन बसोहली तथा उससे प्रभावित अन्य कलमें जैसे मण्डी, कुल्लू आदि लोककला की परम्परा में रहीं जिससे रेखा और रंगों दोनों में ही सूक्ष्मता का अभाव है। वास्तव में सूक्ष्मता का यह अभाव कोई कलागत अभाव नहीं बल्कि एक शैलीगत विशेषता है। चम्बा कलम में बसोहली और गुलेर का मिला-जुला प्रभाव देखा जा सकता है या यों कहें कि चम्बा कलम पनपते हुए अपने बसोहली ऐसे गुणों को छोड़कर कुछ अन्य गुण ग्रहण कर बैठी है जो उसे पूर्ववत् रूप के मुकाबले में अधिक सूक्ष्म बना देते हैं।

बसोहली तथा उस जैसी शैली को छोड़कर जब हम काँगड़ा, बिलासपुर, गुलेर शैलियों में बने चित्रों को देखते हैं तो उनका एक स्पष्ट गुण, उनका सूक्ष्म और विस्तारपूर्ण होना नज़र आता है। इसका कारण समझना कठिन नहीं। बाहर से विशेषतः मुग़ल दरबार के चितेरे जब पहाड़ी रियासतों की ओर मुड़े तो सबसे पहले इन्हीं रियासतों में बसे। यहाँ वे मुग़ल राज्य के अन्तर्गत अर्जित विशेषताओं और गुणों को प्रदर्शित करते रहे। सूक्ष्मता और विस्तारपूर्ण आलेखन तथा चित्रण विशिष्टतः मुग़ल शैली की ही देन है। बाद में अपने प्रश्रयदाताओं की अभिरुचि के अनुकूल उन्होंने न केवल अपने विषयों को ही चुना बल्कि मुग़लकालीन कला की अपेक्षा रंग और रेखाओं के प्रयोग में अधिक दक्षता का परिचय भी दिया।

रेखाएँ—विभिन्न शैलियों में

रेखाओं के सम्बन्ध में भी बसोहली और काँगड़ा शैलियों के चित्रों में पर्याप्त अन्तर देखा जा सकता है। बसोहली शैली की रेखाकृतियाँ काँगड़ा शैली की रेखाकृतियों की तरह सूक्ष्म व सुघड़ नहीं अपितु स्थूल हैं। काँगड़ा कलम की रेखाएँ बसोहली की अपेक्षा अधिक सुन्दर, सूक्ष्म, प्रवहमान, लयात्मक, सजीव तथा आकर्षक हैं। वहाँ हर रेखाकृति हर प्रतिमान से संतुलित है लेकिन बसोहली की रेखाकृतियों में यह संतुलन नहीं। यहाँ यदि कलाकार ने आँखें आकर्षक बनाने के लिए उन्हें बड़ा बनाया है तो वे इतनी बड़ी बन गई हैं कि सम्पूर्ण आकृति से उनका तालमेल नहीं बैठता। नारी अथवा पुरुषों की सम्पूर्ण आकृतियाँ इतनी मांसल हैं कि काँगड़ा कलम की आकृतियों के मुकाबले में वे स्थूल नज़र आएँगी। काँगड़ा कलम में नारी की आकृतियाँ तो सुघड़ रेखाओं से बनी इतनी आकर्षक लगती हैं जैसे उनकी उपमा ढूंढने पर भी नहीं मिले। जहाँ काँगड़ा कला की आकृतियों में रेखाएँ प्रवहमान नज़र आती हैं वहाँ बसोहली कला में रेखाओं का प्रवाह किन्हीं कोणों के समावेश से अवरुद्ध-सा हो गया है। यह शैलीगत गुण तो माना जा सकता है लेकिन काँगड़ा कलम की अपेक्षा हीन ही होगा। यह कोणाकार अंकन केवल किन्हीं आकृतियों के अंगों में ही नहीं, प्रकृति के अंकन में भी दिखाई पड़ता है। वृक्ष तथा पत्तों तक का अंकन नुकीले ढंग से हुआ है। काँगड़ा कलम में रेखाओं की यह चुभन नहीं। पहाड़-पहाड़ियों का अंकन हो अथवा वृक्ष-पत्तों का, रेखाएँ इन कोणों से बचती हुई प्रवहमान हुई हैं। यहाँ सम्पूर्ण लयात्मकता प्रवाहपूर्ण है।

भित्ति-चित्र

कला-मर्मज्ञों ने भित्तिचित्रों का अध्ययन कर उन्हें तीन प्रकारों में बांटा है—१. टैम्परा (Tempera),

२. फ्रैस्को (Fresco) और ३. फ्रैस्को-सिक्को (Fresco-Secco)। इन तीनों प्रकारों के लिए अंग्रेज़ी में एक समान नाम 'वाल पेंटिंग' है। टैम्परा ढंग से बने भित्तिचित्रों को अंग्रेजी में मूरल्स (Murals) कहा गया है। भारत में जो प्राचीनतम भित्तिचित्र जैसे बाघ और अजन्ता हैं वे मूरल्स हैं। आज भी पुराने मूरल मिश्र, बैबीलोन, यूनान, भारत, लंका, चीन और जापान में देखने में आए हैं। इन मूरल के बनने में एक ही तरह की बाध्य-सामग्री प्रयुक्त हुई हो, ऐसा नहीं माना जा सकता। इस सामग्री में अंडे की जर्दी, चावल का निशास्ता (स्थानीय बोली में पिच्छ), वनस्पति गोंद, सीरा, सरेस (जानवरों की हड्डियों अथवा चमड़ी से निकाला गया) सम्मिलित हैं। टैम्परा शैली में प्रांगारिक पदार्थ (आर्गनिक मैटीरियल) प्रयुक्त होने के कारण वह बहुत अधिक लम्बे समय तक नहीं ठहर पाती।

अब हम पहाड़ी भित्तिचित्रों पर प्रकाश डालेंगे। ऐसे चित्रों के लिए सतह धज्जी दीवारों पर तैयार की जाती थी। पहाड़ी मकानों में ये धज्जी दीवारें लकड़ी की तख्तियों से बने ढाँचों में छोटे-बड़े अनघड़ पत्थरों को मिट्टी व चूने के गारे के साथ भरकर बनाई जाती थी। फिर उस पर अंतिम रूप में एक प्लस्तर लगाया जाता था जो अधिकांशतः मिट्टी (सफेद मिट्टी) और पिच्छ के मिश्रण से तैयार किया जाता था। इस पर घोटनी से घुटाई की जाती थी। पुनः इसी मिश्रण की पुताई करके फिर घुटाई की जाती थी। यह क्रम तब तक दोहराया जाता था जब तक इस प्लस्तर की मोटाई कम से कम आधा इंच और अधिक से अधिक एक इंच तक न हो जाती थी। इस प्रकार एक परत के ऊपर दूसरी परत जम जाती थी जिसकी एक बड़ी उपयोगिता यह थी कि उस भित्ति पर दरारों की संभावना बहुत कम हो जाती थी। इस भित्ति पर फिर जस्त की भस्म या खड़िया मिट्टी को बाध्य पदार्थ (जानवर या वनस्पति से निकाला गया गोंद) में मिलाकर लेप किया जाता था और उस पर घुटाई दोहराई जाती थी। घुटाई के लिए गोल या अंडाकार चिकनी सतह वाले पत्थर जो व्यास और

सतलुज के किनारे पाए जाते हैं इस्तेमाल किए जाते थे। इस कार्य के लिए सुलेमानी पत्थरों का भी प्रयोग होता था। इस कार्य के लिए प्रयुक्त हुए पत्थर को घोटनी का नाम दिया गया है।

टैम्परा शैली में भित्तिचित्रों को बनाने की एक और विधि प्रकाश में आयी है। लैट्राइट (Laterite) पत्थर की दीवार पर रेत व चूने का पलस्तर कर दिया जाता था। उसके ऊपर सुधा लेप कर दिया जाता था ताकि पलस्तर की गई सतह में दरार न पड़े या गिरने न पाए। सुधा लेप को एक विशेष विधि से तैयार किया जाता था। शंख को जलाकर उसे बारीक पीस लिया जाता था और इस चूर्ण को चौथाई भाग शीरे और माश की दाल में भिगो दिया जाता था। एक चौथाई भाग रेत को उबाले हुए कच्चे केले में मिलाकर अच्छी तरह मिलाया जाता था। इस मिश्रण को कई दिनों तक हिलाया जाता था। अन्त में इस मिश्रण को थोड़ी मात्रा में ग्रेनाइट की शिला पर रखकर सिरे का घोल उस पर छिड़का जाता था और उसको इतनी अच्छी तरह पीसा जाता था कि वह मक्खन-सा लगने लगे। इसे ही सुधा लेप कहते थे।

इस तरह तैयार की गई दीवार को सूख जाने पर ठंडे पानी से धोया जाता था। उसके बाद उस पर सफेदी कर दी जाती थी। सुधा लेप की सतह एक इंच के दसवें भाग से लेकर एक इंच तक मोटी होती थी।

टैम्परा के लिए तैयार की गई दीवार के अच्छी तरह सूख जाने पर ही उस पर चित्रांकन का काम आरंभ किया जाता था। रेखाचित्र कई बार सीधे ही दीवार पर बनाए जाते थे या कागज़, कपड़ा अथवा चमड़े को स्टैंसिल के रूप में इस्तेमाल करके बनाए जाते थे। पहाड़ी चित्रकला के संदर्भ में एक बात ध्यान देने योग्य है। यहाँ कई बार भित्तिचित्र लघुचित्रों का विस्तृत रूप हुआ करते थे और कभी-कभी लघुचित्रों में प्रयुक्त होने वाले प्रांगारिक रंगों का ही प्रयोग भित्तिचित्रों में कर दिया जाता रहा लेकिन ऐसे रंग अस्थायी हैं, वे अधिक समय तक नहीं टिक पाए हैं या उनका टिकना मुश्किल हो गया है।

भित्तिचित्रों के निर्माण का दूसरा तरीका फ्रैस्को है। फ्रैस्को का इतालवी भाषा में अर्थ है—पेंटिंग ऑन फ्रैश, अर्थात् किसी गीली भूमि पर चित्रांकन। यह तरीका यूरोप—विशेषतः रोम में ईसा-पूर्व प्रयोग में आता रहा। इस तरीके में दीवार पर चूने का पलस्तर कर दिया जाता था और जब यह भूमि गीली ही होती है उस पर खनिज रंगों से मोटे रूप में चित्रांकन कर लिया जाता था और उसके बाद उस अंतिम रूप में चित्रित करना शुरू कर दिया जाता था। यह अंतिम चित्रण भूमि के गीली रहने तक ही सम्पन्न करना होता था इसलिए कलाकार पूरे चित्र को अनेक भागों में पूरा करता था। हर भाग को वह एक ही बैठक में पूरा कर लेता था लेकिन उससे एक भाग का चित्रण दूसरे भाग के चित्रण से कुछ भिन्न हो जाता था। यही इस शैली का एक बड़ा दोष था। इस शैली की विशेषता इसका दीर्घजीवी होना है। भित्तिचित्रों की तीन शैलियों में सबसे अधिक देर तक यही चित्र टिके रहते थे।

भित्तिचित्रों की तीसरी विधा फ्रैस्को-सिक्को है। यह विधा उपर्युक्त दोनों विधाओं का मिश्रण है। इसके लिए पलस्तर की हुई सूखी दीवार भूमिका का काम देती थी और चूने के पानी में खनिज रंगों को घोलकर उससे चित्रांकन किया जाता था। यह विधा फ्रैस्को की एक कमी को पूरा करती थी जिससे इसमें फ्रैस्को की तरह के अलग-अलग भाग नहीं करने पड़ते थे। इस विधा में बने चित्र टैम्परा से अधिक लेकिन फ्रैस्को से कम टिकाऊ होते थे।

भित्तिचित्रों में काम आने वाले ब्रश बड़े हुआ करते थे और उनका प्रयोग गाढ़े मिट्टी, खनिज तथा वनस्पति रंगों में होता था जिससे उनमें लघु-चित्र-शैली की अपेक्षा स्थूलता का आभास होता है।

५

प्रतीक
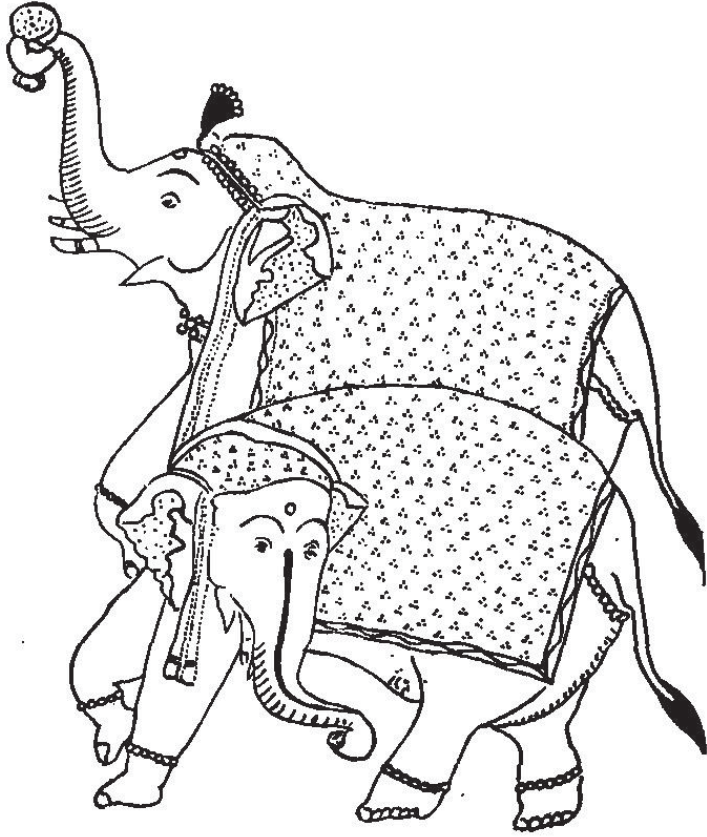
भारतीय दर्शन में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष जीवन के व्यापार की ओर संकेत करते हैं। जीवन का अंतिम ध्येय मोक्ष है और भारतीय कला का उद्देश्य मोक्ष की प्राप्ति में सहायक होना है। मोक्ष 'अनन्त' नहीं है लेकिन अपने आपका अनन्त से तारतम्य स्थापित करने का तरीका है और अंत में उसी में समा जाने का प्रयास है। मोक्ष जीवन में ही प्राप्त हो सकता है, मृत्यु में नहीं। यही कारण है कि भारतीय कला कदापि जीवन की अथवा शरीर की उपेक्षा नहीं कर पायी, विशेषतः पहाड़ी कला तो जीवन के विभिन्न आयामों को स्पर्श करती हुई एक प्रबुद्ध स्तर पर स्थापित होती है, शरीर उसके क्रिया-कलाप और उसकी भाव-भंगिमाओं का अत्यन्त सुन्दर कलात्मक अंकन मन्दिरों संबंधी वास्तुकला के अतिरिक्त पहाड़ी कला में ही संभव हो सका है।

भारतीय कला में मानवीय और दैविक तत्त्वों के मध्य जो संबंध-व्यवहार नजर आता है वही कला की आत्मा है और वह अपनी अभिव्यक्ति में लक्षण, प्रतीक और बिम्बों का सहारा लेती है। सत्-चित्-आनन्द में सौन्दर्य-सृष्टि की व्याख्या मिलती है। आदि स्रष्टा ने अपने सृजन व निर्माण में 'सत्' कला से द्रव्य लिया, 'चित्' कला से प्राण-रस लिया और इस प्रकार 'आनन्द' अवस्था में उसने सौन्दर्य-सृष्टि की। ब्रह्मा ने सृष्टि को जन्म दिया था, विष्णु उसका पालक बना और महेश उसका संहारक। सृष्टि के पालक विष्णु की पत्नी शक्ति है जो

अपने विशुद्ध सौन्दर्य के प्रतिनिधि के रूप में लक्ष्मी के नाम से परिचित है। शक्ति के रूप में जहाँ वह मातृस्थानीया है, लक्ष्मी के रूप में वह सौन्दर्य-वैभव को रूपायित करती है। विष्णु स्वयं जिन अलंकरणों व उपादानों से विभूषित हैं वे प्रत्यक्षतः ही सार्थकता लिए हुए हैं। विष्णु की मूर्त्ति अथवा चित्र में जितना महत्त्व शंख, चक्र, गदा तथा पद्म का है उतना उनकी वेशभूषा का नहीं है। यही उपादान उनके व्यक्तित्व को अपनी सम्पूर्णता में प्रस्तुत करते [हैं। यहाँ शंख ऐश्वर्य, चक्र संगठन, गदा वीरता और कमल वैराग्य के भाव को परिलक्षित करता है।

मुग़लकाल के व्यवधान के बावजूद भारतीय कला के विकास में पहाड़ी कला-काल एक ऐसा पड़ाव रहा है जब परम्परागत सांस्कृतिक विशेषताएँ बख़ूबी उभर आयी हैं, जब चित्रकला ने साहित्य की भाषा और संगीत के स्वर को बख़ूबी समझा है और सूक्ष्म और लयात्मक रेखाओं और अद्‌भुत रंगविधान द्वारा नायक-नायिका के कोमल मनोभावों की अत्यन्त लालित्यपूर्ण अभिव्यक्ति हुई है। पहाड़ी चित्रकला सम्पूर्ण विश्व की चित्रकला के इतिहास में विशिष्ट स्थान रखती है क्योंकि रंग और रेखाओं की ज़बानी भावना और भंगिमाओं की ऐसी निकटता, सघनता अथवा एकता तथा शारीरिक और आध्यात्मिक मूल्यों का ऐसा सुन्दर संयोग अन्यत्र नज़र नहीं आता। कृष्ण की लीला और राधा तथा अन्य गोपियों का अनुराग, गायन, नृत्य, काव्य, चित्रकला अथवा मूर्त्तिकला सभी में व्यक्त हुआ है। ऐसे प्रेम-नाटक का इतना निर्मल, इतना स्वच्छ, इतना उज्ज्वल और इतना आकर्षक रूप अन्यत्र नहीं। इसी प्रेम-नाटक का अंकन पहाड़ी चित्रकला ने जिस सार्थक, बिंबपूर्ण रूप से किया है वह उसकी अपनी विशेषता बन गई है। चित्रों का अंकन अपने-आप में इतना गठित है कि उसकी एक भी चीज़ फालतू नहीं—यह गठन अग्रभूमि और पार्श्वभूमि दोनों में सधा हुआ है। पार्श्वभूमि में प्रकृति का अंकन भी अत्यन्त सजीव व सार्थक है। जहाँ कृष्ण और राधा हैं वहाँ प्रकृति अपने अवयवों के साथ उनकी भाव-भंगिमाओं का अपनी प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति में पूरा समर्थन करती है, यही बात सम्पूर्ण नायक-नायिका संबंधी चित्रों में हुई है और रागमाला के चित्रों में भी प्रतीकात्मकता और समन्वयात्मकता सहज द्रष्टव्य है। प्रकृति की उत्फुल्लता मानवीय व्यवहार के परिप्रेक्ष्य में अत्यन्त मनमोहक लगती है। धूप और वर्षा में जहाँ प्रकृति अपने रंग बदलती है वहाँ राधा, कृष्ण, गोपियों, गोपालों तथा गौओं की क्रीड़ापूर्ण भूमिका सहज निखरती जाती है। साहित्य में जो वृन्दावन के निकुंजों की सघन छाया, शीतल चाँदनी, यमुना तट पर कदम्ब वृक्षों का फलना-फूलना, श्यामल तमाल वृक्षों पर बादलों का आवारा घूमना, पक्षियों का कलरव और पशुओं की चापल्यपूर्ण क्रीड़ा का वर्णन मिलता है वही सुरम्य घाटी काँगड़ा और उसके पार्श्ववर्ती क्षेत्र में पहाड़ी चित्रकार के लिए साक्षात् व साकार हो उठा है। इसी प्रकार शिव-पार्वती संबंधी चित्रों के लिए जिन कठोर, गगनचुम्बी हिम-मण्डित पर्वत-श्रृंगों का दूर बैठे कवियों ने वर्णन किया है उनका भी प्रत्यक्ष दर्शन पहाड़ी चित्रकार ने किया है क्योंकि वह तो उसी हिमालयी क्षेत्र का वासी है। अपने वातावरण के सौन्दर्य को जिन आँखों से पहाड़ी चितेरों ने देखा था वह कलाकार के लिए श्रेय की बात है। सूर्य की पहली किरण से सूर्यास्त तक प्रकृति जिन रंगों से गुज़रती है, उन पर तो पहाड़ी चितेरों की आँख रही ही है लेकिन उसके अतिरिक्त रात्रि का सौन्दर्य भी अपने आयामों में खूब खिला है, फिर चाहे यह तारों-भरी रात्रि का मूक सौन्दर्य था अथवा बादलों से छितराती चाँदनी, वर्षातुर मेघों का मंडराना और बिजली का कड़कना था या दिन के उजाले में पावस की फुहार थी। अमावस की रात्रि का गहन अंधियारा हो या शुक्ल-पक्ष की दुधिया चाँदनी, अभिसारिका अवधारित मिलन के लिए निकलती है। उस वक्त उसे न भयानक जानवरों की आशंका है, न राह में मिलते सर्पों, बिच्छुओं का भय। वह तो बराबर बढ़ती जाती है। इस समस्त सृजन में गहन अनुभूति तथा मनोभावों के अनुरूप ऋतु और वातावरण की लाक्षणिकता

और मूर्तता रूपायित हुई है। प्रकृति और व्यक्ति चित्रण में मुद्राओं का अंकन और रंगों का चयन जिस ढंग से हुआ है वह भावाभिव्यक्ति को अत्यन्त समर्थ व सक्षम बनाता है। यहीं प्रतीकात्मकता और बिम्बविधान का अन्तर्निहित रहस्य भी मुखरित होता हुआ देखा जा सकता है।

भारतीय संस्कृति में अनन्त आत्मा की व्याख्या का सतत प्रयत्न नज़र आता है। संसार या जीवन की उपमा चक्र से दी गई है। जिस प्रकार चक्र गति का बोधक है उसी प्रकार जीवन का अर्थात् उसके सुख और संताप का। चक्र में वृत्त के नत और उन्नत भाग जीवन के उतार और चढ़ाव के प्रतीक हैं। आत्मा अमर, अजर और अनन्त है। आत्मा में स्थिति है जैसे पहिये के आरे, धुरे और घेरे में, लेकिन उसका कर्म और धर्म चलना है। व्यक्ति की रचना की उपमा भी चक्र से दी गई है जिसमें हृदय धुरा है, आरे शक्ति हैं और घेरे पर उसके मिलन का स्थान ज्ञान और कृति की इन्द्रियाँ हैं। संसार को गतिमान रखने में सूर्य का महत्त्व स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है, इसलिए सूर्य को ही विष्णु या किसी अज्ञात संचालक शक्ति का प्रतीक माना गया है। सूर्य की किरणों में सात रंगों का समावेश है जिसकी प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति ऋग्वेद के स्तोत्रों में सूर्य का सात घोड़ों वाले रथ पर सवार होना है। भगवान कृष्ण भी अर्जुन को गीतोपदेश युद्धभूमि में खड़े रथ पर ही देते हैं जिसमें रथ मनोवैज्ञानिक गाड़ी के समान है और घोड़े ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। रास ज्ञानेन्द्रियों को वश में रखने की शक्ति है। कोचवान मन है और सारथी आत्मा।

कला में रस परिपाक की एक परम्परागत विधा रही है। चित्रकला में रूप और रंग की विचित्रता मन पर जो अपना समन्वयात्मक प्रभाव छोड़ती है, वही सौन्दर्य है और इस सौन्दर्य की अनुभूति का नाम सौन्दर्य-चेतना है। सौन्दर्य से जिस अनूठे आनन्द की प्राप्ति होती है उसे साहित्यशास्त्र में 'रस' का नाम दिया गया है। हिन्दी साहित्य में रस-सिद्धान्त पर केशव ने 'रसिक-प्रिया' की रचना की थी, पहाड़ी चित्रकला की भाव-भूमि पर इस ग्रन्थ का स्पष्ट प्रभाव ही नहीं पड़ा बल्कि इसी को विषय मानकर अनेक चित्रों की सर्जना भी हुई। इस ग्रन्थ में शृंगार रस को रसराज माना गया है और उसका सविस्तार विवेचन हुआ है। जिस प्रकार रस-विषयक ग्रन्थों में रसराज शृंगार का सांगोपांग वर्णन मिलता है और अन्य रसों का हल्का-सा परिचय मात्र ही, उसी प्रकार चित्रकला में भी शृंगार-प्रधान चित्रों का बाहुल्य है।

पहाड़ी चित्रकला में जिस खूबी से नारी-सौन्दर्य को आँका गया है उस खूबी से पुरुष का चित्रण नहीं हुआ है। नारी की आकृतियाँ अपने-आप में तो आकर्षक हैं ही किन्हीं प्रतीकों के उपयोग से सोने पर सुहागे का काम हो गया है। वन में जहाँ कहीं केले के पत्तों का बिछावन के रूप में उपयोग हुआ है, नारी की मांसलता के संस्पर्श की यह प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति मानी जा

सकती है। लता का पेड़ के इर्द-गिर्द लिपटना भी स्त्री और पुरुष के संसर्ग की ओर संकेत करता है। नायक-नायिका अथवा कृष्ण और राधा को रूपायित करने वाले चित्रों में पक्षियों का जोड़ा भी दिखाई देगा। कृष्ण रंग से काला है और राधा गोरी। कृष्ण और राधा की इन चारित्रिक विशेषताओं के समर्थन में समस्त प्रकृति में अत्यन्त सामंजस्यात्मक ढंग से किन्हीं प्रतीकों की सार्थकता पहचानी जा सकती है जैसे दो वृक्षों में एक श्याम और दूसरा गौरवर्ण। पहाड़ी चित्रों में नदी का अंकन भी निरर्थक नहीं। व्यास कुल्लू, मण्डी और काँगड़ा क्षेत्र की प्रमुख नदी है जिसकी मान्यता पहाड़ी लोगों के चिन्तन में रूढ़ हुई है। यों भी प्राचीन साहित्य में पहाड़ों और नदियों की महिमा खूब गाई गयी है जिसमें हिमालय और उससे निकलने वाली नदियाँ तो विशेष रूप से चर्चित हैं। इन नदियों की उपयोगिता और सौन्दर्य का खूब वर्णन हुआ है और जिस क्षेत्र में पहाड़ी कला पनपी है वहाँ नदी और उसका आंचल चितेरों की दृष्टि से कैसे ओझल हो पाता। विपाशा की उफनती धारा और उसका कलकल निनाद आँखों के लिए अतीव सुन्दर और लुभावना दृश्य है, सुनने में कर्णप्रिय है, प्रकृति की नीरवता में यह समस्त सौन्दर्य छितराता है। उसका स्वर और वेग अपनी प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति में प्रेम सम्बन्धी उद्वेलित भावनाओं की ओर संकेत करता है। पावन सरिताओं के निर्मल जल की स्वच्छ धारा का उन्मुक्त सौन्दर्य भला किससे छिपा है और फिर पहाड़ी चितेरों के पास तो अपनी मिट्टी का दर्द था, कलात्मक सूझ-बूझ थी, सौन्दर्य-दृष्टि थी। उन्होंने प्रकृति को उसके समस्त व अवयवी रूप में खूब देखा-पहचाना। वृक्ष और लताओं, फल और फूलों का अत्यन्त सजीव अंकन पहाड़ी चित्रों में देखा जा सकता है। कमल तो भारतीय संस्कृति में सनातन रूप से आरूढ़ है। लक्ष्मी को कमला भी कहा गया है। पानी में उत्पन्न कमल पानी से ही सृष्टि की उत्पत्ति का बोधक भी है। पहाड़ी चित्रों में फूलों, विशेषतः कमल का समावेश प्रेम का आनन्द के रूप में विस्फोट का परिचायक है। प्रेम की अभिव्यक्ति अनेक रूपों में हुई है और उसके लिए चितेरों ने सुन्दर प्रतीक का चयन किया है। प्रेम के ही रास्ते में जब प्रेमिका अथवा प्रेमी रूठ पड़ता है, धीरज खो डालता है, कुछ कर-कराने अथवा मिटने-मिटाने की नौबत ले आता है तो उसके लिए प्रकृति में आँधी और तूफान आदि से प्रतीकों का सहारा लेकर पहाड़ी कला की भावभूमि सम्पन्न की गई है।

क्योंकि पहाड़ी कला समस्त भारतीय कला के विकास में एक पड़ाव है, इसलिए परम्परानुसार भारतीय साहित्य अथवा कला के आदि प्रतीकों का प्रचलन यहाँ भी बराबर बना रहा। इन प्रतीकों में कमल, हंस और हाथी प्रमुख हैं जो अनेक देवी-देवताओं के साथ संयुक्त दिखाई देते हैं। इन प्रतीकों का बहुतायत से प्रयोग होता रहा है, इसलिए इनके आधार पर हम किसी अंश तक किसी कलाकृति की यह पहचान कर सकते हैं कि वह भारतीय है अथवा अभारतीय। बिना किसी विशेष ज्ञान के जन-सामान्य की आँखें भी इन प्रतीकों के प्रति इतनी अभ्यस्त हैं कि वे उसके जाने-अजाने में रूढ़ हो गए हैं। इन प्रतीकों का अंकन कहीं भी कभी भी किसी भारतीय को विस्मय में नहीं डालता बल्कि उनका किसी परम्परागत कलाकृति से तिरोहित होना उसे बुरी तरह से अखर सकता है। भारतीय कला-चेतना और भाव-कल्पना इन प्रतीकों में केन्द्रित है और उन्हीं के सहारे उसे आवश्यक उद्‌बोधन मिलता है।

इन तीनों ही प्रतीकों का सम्बन्ध जल से है और जल ही सृष्टि का आदि तत्त्व है। कमल की उत्पत्ति जल से ही है, हाथी का सम्पर्क जल और थल से रहता है तथा हंस जल, थल और आकाश तीनों में विचरण करता है। हाथी और हंस कमल से सम्पर्क रखते हैं। हंस और कमल का परस्पर सम्पर्क स्त्रीत्व की कोमलता को व्यंजित करता है और हाथी और कमल का पुरुष की शक्ति-सामर्थ्य को।

पहाड़ी कला की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में वैष्णवधर्म है और 'कमल' से उत्पन्न 'कमला' वैष्णव कला

और कल्पना में भी आरूढ़ हो गई है। लक्ष्मी की समस्त रूप-कल्पना का आधार 'कमल' है और इसी की पुष्टि में हमें पद्मा देवी के लिए अनेक नाम मिलते हैं जैसे पद्म-संभवा, पद्मवर्णा, पद्माक्षी, पद्मिनी, पद्ममालिनी, पद्म-ऊरु, पुष्करिणी इत्यादि। लक्ष्मी अथवा कमला विष्णु की पत्नी हैं, अपने प्रतीक रूप में 'कमल' विष्णु के चार आयुधों में भी एक नजर आता है।

हिन्दी और संस्कृत काव्य में तो सुन्दरी के हाथ और पैरों की उपमा बराबर कमल से दी गई है। उसके मुखश्री को भी कमल के समान बताया गया है। उसकी बाँहों को कमल की नाल के रूप में देखा गया है। और कमल-सरोवर के किनारे जब राधा और कृष्ण को देखा जाता है तो वे भी कमल और उसके पत्तों के समान ही समस्त प्रकृति की छटा के ही अवयव नज़र आते हैं। आँखों की सुन्दरता के लिए तो सबसे सहज लेकिन समर्थ व अचूक उपमान कमल है।

भारतीय संस्कृति का अन्य महत्त्वपूर्ण प्रतीक हाथी है जो शक्ति और वैभव की ओर संकेत करता है। गजराज इसी अर्थ का बोधक है। राजाओं की शान-शौकत की हाथी के बिना कल्पना भी नहीं की जा सकती थी। युद्धों में उसकी भूमिका महत्त्वपूर्ण थी। वैदिक साहित्य में इन्द्र की तुलना हाथी से की गई है। और शिव-पार्वती के पुत्र गणेश को तो सिर ही हाथी का मिला हुआ है। कोई भी मंगलोत्सव हो गणेश की पूजा सब से पहले होती है। गणेश 'विघन विदारन' है, इसलिए हाथी को रक्षक के रूप में मान्यता मिली है। इन्द्र का हाथी ऐरावत माना गया है जो समुद्र-मंथन से मिले चौदह रत्नों में से था। ऐरावत स्वर्ग के ऐश्वर्य की विशिष्ट वस्तु मानी गई है। भारतीय जन-मानस में आज भी आकाश-गंगा इन्द्र के हाथी के पथ के रूप में रूढ़ है। कालिदास को भी रामगिरि से मेघों का टकराना गज-क्रीड़ा लगी थी।

आषाढस्य प्रथम दिवसे मेघमाश्लिष्टसानुम्।
वप्रक्रीडा-परिणत - गज - प्रेक्षणीयं ददर्श ॥

कमल की तरह ही हाथी का सम्बन्ध जल से माना गया है। 'मोतंगलीला' में हाथी से सम्बद्ध एक रोचक कथा मिलती है। ऐरावत की उत्पत्ति ब्रह्मा के दायें हाथ में पकड़े अंडार्ध से हुई थी और इसी में से आठ हाथी और आठ हथिनियाँ उत्पन्न हुईं, जिनमें से दिग्गज भी निकले। ऐसी मान्यता है कि दिशाओं के ये हाथी आकाश-रूपी चादर को अपने पैरों से दबाए हैं।

हाथी को लेकर गुजराती कृष्ण-काव्य में नारी-कुंजर का वर्णन आता है। कृष्ण ने वन-कुंजों में गोपियों से खेलते हुए राधा से कहा कि उन्हें सवारी के लिए हाथी चाहिए। राधा ने तत्परता दिखाई और सखियों को इकट्ठा कर हाथी का रूप बना लिया। चार सखियाँ हाथी की टाँगें बनीं, एक सूंड बनी और एक कुंभ, एक ने पीठिका का रूप लिया और अन्य सखियों ने मिल-मिलाकर हाथी के रूप को पूरा कर डाला।

समस्त भारतीय साहित्य में हाथी अनेक प्रसंगों में आया है। यहाँ उसकी चर्चा न कर कुछ संकेत मात्र प्रस्तुत करना ही हमारा तात्पर्य था। अन्य प्रमुख प्रतीक हंस है जिसका जल, थल और आकाश तीनों से प्रत्यक्ष सम्बन्ध नज़र आता है। कमल के साथ भी हाथी और हंस दोनों का संबंध नजर आता है। दोनों ही कमल को तोड़ते हैं, एक बल और सामर्थ्य का परिचय देता है तो दूसरा एक अदा है। भारतीय चित्रकार दोनों ही के व्यवहार के प्रति सचेत हैं।

भारतीय देवी-देवता वाहन के साथ ही दिखाई देते हैं और हंस आदि वेदज्ञ ब्रह्मा के वाहन के रूप में दिखाई पड़ता है। परम्परागत जन-मानस में हंस नीरक्षीर-विवेकी है और उसका आदि-वेदज्ञ ब्रह्मा से खूब मेल बैठता है। जितने भी देवी-देवता हैं उनके वाहन का उनके गुण, शक्ति और सामर्थ्य के आधार पर खूब ताल-मेल

देखा जा सकता है। गणेश अथवा गणपति अपने-आप में एक अर्थबोधक है। हाथी-सी सामर्थ्य वाले गणपति का वाहन चूहा है। प्रत्यक्ष में यह विरोधाभास लगेगा लेकिन चूहा लाखों-करोड़ों अर्थात् अत्यन्त मामूली से जीव-जन्तुओं का प्रतीक है और लाखों-करोड़ों जीव-जन्तुओं तथा मनुष्यों की रक्षा का भार हाथी-सी सामर्थ्य वाला गणपति ही वहन कर सकता है। इसी प्रकार जल और वर्षा के देवता इन्द्र की अनुरूपता भी ऐरावत अथवा हाथी के साथ सहज ही देखी जा सकती है। देवी अथवा दुर्गा का वाहन सिंह है। देवी दुष्टदलनी है और सिंह जैसा जानवर ही दुष्टों के संहार में शक्ति का प्रबल प्रतीक हो सकता है।

हंस सरस्वती देवी का वाहन भी है। सरस्वती ब्रह्मा की पुत्री और प्रेयसी दोनों के ही रूप में नजर आती है। सरस्वती विद्या की अधिष्ठात्री है। विद्या जिस ज्ञान-विस्तार, विवेक, रस, अमरत्व और व्यापकता के अर्थ को समेटती है उसी का प्रतीक हंस है, संगीतमयता उसका विशिष्ट गुण है। हंस और परमहंस किसी ज्ञानी-ध्यानी और असाधारण गुणों वाले व्यक्ति को जब कहा जाता है तो उसकी प्रतीकात्मकता और व्यापक हो जाती है। हंस का वर्ण-विधान ही कितना सुन्दर और अर्थसूचक है। श्वेत वर्ण, शालीनतापूर्ण ग्रीवा-भंगी और गंभीर मुद्रा सभी कुछ मिलाकर ज्ञान का अत्यन्त सार्थक प्रतीक बनता है। काव्य की अधिष्ठात्री सरस्वती है, और सरस्वती का वाहन हंस काव्य में शोभा-श्रृंगार का प्रतीक है, नायिका की मंथर गति की हंस की गति से तुलना की गई है।

पहाड़ी चित्रकला में घड़े का अंकन मात्र उसकी पौराणिक अथवा साहित्यिक पृष्ठभूमि के कारण नहीं है, बल्कि वह जन-जीवन की देन भी है। पहाड़ी क्षेत्रों में आज भी मिट्टी के बर्तनों का अत्यधिक प्रचलन है और जहाँ कृष्ण की बाल-लीला का ग्रामीण परिप्रेक्ष्य में अंकन हुआ है, घड़ा उस जीवनचर्या का अनिवार्य अंग है। यों भी घड़ा सुख-मंगल का प्रतीक है। पहाड़ी चित्रकला में उसकी यह प्रतीकात्मकता दब जाती है और यह प्रेमी हृदयों का एक अत्यन्त समर्थ प्रतीक बन जाता है। राधा-कृष्ण की प्रणय-लीला, जो पहाड़ी चित्रकला का मुख्य विषय है, के संबंध में घड़ा विशेष सार्थकता रखता है। श्रृंगार-प्रसाधनों में टोंटी वाली सुराही और लम्बी पतली कोमल गर्दन वाली शीशी नजर आएगी, जो आर्चर के मत में असंतुष्ट प्रेम की पीड़ा का प्रतीक है। उनके मत में योनी और इन बर्तनों के आमुख परस्पर मेल खाते हैं और कामाग्नि को प्रतिबिम्बित करते हैं। ये प्रसाधन नायिका के आगे नजर आएँगे और शीशे में अपनी परछाईं को देखकर वह अपनी केश-राशि को सँवार रही है। नायिका की नग्नता को अन्य सखियों ने मिलकर चादर या दुपट्टे आदि की दीवार बनाकर ढांपना चाहा है और यह अवगुंठन ही तो कृष्ण को चुपके से कहीं खिड़की में से झाँकने को विवश करता है। सखियों की परवाह नहीं, नायिका को कृष्ण की इस हरकत का पता चल ही गया होगा और यहीं उसका शरीर और मन सिहर उठता है। कृष्ण की नजरों के तीर अपने नग्न शरीर पर वह अत्यन्त भावोद्वेलित मन से सहन ही नहीं करती बल्कि मन ही मन उनसे जूझने में उसे अतीव आनन्द मिलता है।

पहाड़ी चित्रों की पीठिका में जहाँ प्रकृति का अंकन हुआ है वहाँ भी अग्रभूमि में व्यक्त पात्रों के क्रिया-कलाप के समर्थन में अनेक प्रतीक ढूंढे जा सकते हैं। क्योंकि इन चित्रों में प्रेम ही मुख्य विषय है इसलिए प्रेम के अनुराग और विराग के अनेक गीत गाने वाला पपीहा सामान्यतः नजर आएगा। पपीहा-युगल कृष्ण और राधा के सम्बन्ध को बखूबी मुखरित करता है। कलाकार ने इन पक्षियों को चित्रित करने में अत्यन्त सूझ-बूझ से काम लिया है। यदि नायक और नायिका अथवा कृष्ण और राधा आमने-सामने होने पर भी किसी दूरी को महसूस कर रहे हैं तो यह पक्षी-युगल भी ऐसी ही किसी स्थिति में होगा। यदि वे आपस में सटकर बैठे हैं तो पपीहा युगल भी एक-दूसरे से सटकर बैठा होगा। ऐसी ही प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति सारस युगल, तोता-

मैना, चकोर-चकोरी, मोर-मोरनी, बैल-गाय के अंकन में सरुचि देखी जा सकती है। यदि कृष्ण और राधा एक-दूसरे से रूठकर एक-दूसरे से पीठ कर बैठे हैं तो उन्हीं के समर्थन में गाय और बैल को भी देखा जा सकता है।

पेड़ और पौधे के अंकन में प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति अत्यन्त रुचिकर है। केले का पौधा राधा अथवा नायिका के मांसल सौन्दर्य का प्रतीक है जो पहाड़ी चित्रों में सहज ही देखने को मिलेगा। केले का तना कुमारी अथवा नायिका की जंघा के समान है। राधा अथवा नायिका के बालों की उपमा सहज सरोवर अथवा नदी की लहरों में देखी जा सकती है। राधा ही के सौन्दर्य को प्रतिबिम्बित करता हुआ कचनार का पौधा है जो गुलाबी फूलों से लदा हुआ है। छलकते यौवन, जिसका अपना रंग भी गुलाबी है, के लिए कचनार एक अत्यन्त सुन्दर व सामान्य प्रतीक है। सरपत अथवा सरई के पेड़ पहाड़ों में साधारण रूप से 'मजनू' पेड़ के नाम से भी जाने गए हैं जो जैसा कि नाम से स्पष्ट है भावोन्मत्त प्रेम का सार्थक प्रतीक है। आम, जामुन, बड़, सरु, सेमल, तेजपात आदि के पेड़ प्राकृतिक सौन्दर्य में तो योग देते ही हैं लेकिन उसके अतिरिक्त कहीं-कहीं नायक कृष्ण की भूमिका का भी समर्थन करते हैं। इसी प्रकार लता का वृक्ष के इर्द-गिर्द लिपटना अथवा वृक्ष का सहारा लेना राधा और कृष्ण के प्रेम को प्रतीकात्मक रूप से समर्थ बना डालता है। ऐसे ही पहाड़ी चित्रों में मिलन और विरह के समर्थन में प्रकृति बराबर सक्रिय सहयोग देती हुई देखी जा सकती है।

मेघों का उमड़ना, बिजली का कड़कना और वर्षा की फुहार पात्रों की भूमिका को अधिक सार्थक बना देते हैं। बादलों का उमड़ना नायिका के हृदय में प्रेम की भावनाओं की ओर संकेत करता है। बिजली का कड़कना भावावेगों से उद्वेलित संघर्ष के समान है और जब भावावेग को हृदय समाने में असमर्थ हो जाता है तो वह फूट पड़ता है—नायिका की आँखों की राह। वर्षा की फुहार किन्हीं अर्थों में इस बात की सूचक भी है। बिजली का कड़कना और बादलों का बरसना नायक-नायिका के क्रिया-कलाप में प्रणयोन्माद और संसर्ग के संकेत हैं।

६

मुख्य चिन्तन-स्रोत

गीत-गोविन्द

संस्कृत काव्य 'गीत-गोविन्द' अपनी शैली के लिए एक श्रेष्ठ कृति मानी गई है। जिस प्रकार दिलवाड़ा, खजुराहो, उदयपुर, भुवनेश्वर और कोणार्क के मन्दिरों को भारतीय वास्तुकला में श्रेष्ठ स्थान प्राप्त है, उसी प्रकार 'गीत-गोविन्द' को संस्कृत-काव्य में। संस्कृत की इस प्रसिद्ध कृति के लेखक जयदेव थे जो ग्यारहवीं सदी में बंगाल के राजा लक्ष्मणसेन के राजकवि रहे। जयदेव विष्णु-स्वामी सम्प्रदाय से थे। 'गीत-गोविन्द' में भाषा और भाव का सुन्दर सामंजस्य पाया जाता है। जो लोग संस्कृत नहीं जानते वे भी इसकी अनेक पंक्तियाँ हृदयंगम कर रसास्वादन में गाकर झूमने लगते हैं। आज भी बंगाल में इसके गीत गाये जाते हैं। उक्त कृति इस बात की परिचायक है कि किस प्रकार जन-साधारण पदबन्ध-पद्धति से संगीत का मज़ा लेते हैं। संगीतशास्त्र की दृष्टि से 'गीत-गोविन्द' में श्रेष्ठता ढूँढना वांछनीय नहीं, इसके संगीत की लोकप्रियता का कारण सर्वसाधारण के लिए इसकी ग्राह्यता है। अब यह एक व्यापक मत है कि 'गीत-गोविन्द' के संगीत का आधार लोकगीत है। सर्व-साधारण के लिए 'गीत' वह है जिसे सुनकर कोई भी व्यक्ति झूम उठे, भले ही वह उसके अर्थ को समझता हो अथवा नहीं। इस दृष्टि से 'गीत-गोविन्द' अपने आप में एक सुन्दर कृति है।

जयदेव : जयदेव के पिता का नाम भोजदेव था। माँ के सम्बन्ध में दो-तीन नाम मिलते हैं—राधादेवी, रामादेवी और वामादेवी। जयदेव के सम्बन्ध में कहा गया है कि छोटी ही अवस्था में उनके माता-पिता का देहान्त हो गया था। उनके विवाह के सम्बन्ध में एक चमत्कारिक घटना प्रचलित है। एक ब्राह्मण सन्तति-प्राप्ति की इच्छा से जगन्नाथ के मन्दिर में पूजा किया करता था। उसके घर एक कन्या उत्पन्न हुई जिसका नाम उसने पद्मावती रखा। जब वह बड़ी हुई तो ब्राह्मण को स्वप्न में जगन्नाथजी ने आदेश दिया कि उसका विवाह भक्त जयदेव से करना होगा। ब्राह्मण ने जब जयदेव के समक्ष यह प्रस्ताव रखा तो वह उस पर राजी न हुए। ब्राह्मण देव द्वारा दिए गए आदेश के पालन-हेतु पद्मावती को जयदेव के पास छोड़कर स्वयं चला गया। जयदेव ने पद्मावती से उसकी इच्छा पूछी। पद्मावती ने कहा, "अभी तक पिता की इच्छा की अनुगामिनी रही, अब आपकी हूं, त्यागिये अथवा स्वीकारिये।" जयदेव निरुत्तर थे और उन्होंने पद्मावती का पाणिग्रहण कर लिया।

पद्मावती से विवाह करने से पहले भी, जयदेव का एक विवाह हुआ था लेकिन उनकी पत्नी मर चुकी थी। जब वह अकेले पुरुषोत्तम क्षेत्र में रहने लगे थे वहीं पद्मावती उन के सम्पर्क में आयी थी। पद्मावती के जीवन-काल में ही जयदेव ने 'गीत-गोविन्द' लिखा था जिसका उल्लेख उक्त काव्य के आरम्भ में हुआ है।[1] विवाहोपरान्त जयदेव तीर्थयात्रा, भ्रमण तथा धर्मोपदेश के उद्देश्य से घर से बाहर निकले। वृन्दावन से जब वह जयपुर जा रहे थे तो रास्ते में डाकुओं ने उन्हें लूटने की गरज़ से उनके हाथ-पाँव काट डाले। किसी धर्मपरायण राजा ने उन्हें उस असहाय अवस्था में देखकर उठवा लिया। राजा की देख-रेख में चिकित्सा तथा उपचार से वे स्वस्थ हो गये। किसी दिन डाकू साधु के वेश में राजा के यहाँ ठहरे। जयदेव ने उन्हें पहचान लिया लेकिन उस पर भी राजा से उन्हें बहुत-सा धन दिलवाकर विदा किया। डाकुओं को यह आशंका रही कि कहीं जयदेव बाद में उनका रहस्य न खोल दे। उन्होंने राजा के कर्मचारियों को बताया कि जयदेव पहले किसी राजा के यहाँ आश्रय पा रहा था। वहाँ उसके घृणित कार्य पर राजा ने उसे मार डालने का आदेश दिया था लेकिन उन्होंने (डाकुओं ने) उसे जान से नहीं मारा, उसके केवल हाथ-पांव ही काटे। इस सम्बन्ध में एक किंवदन्ती प्रचलित है कि डाकुओं ने ज्यों ही अपनी बात समाप्त की त्यों ही धरती फटी और उन्हें निगल गई। जयदेव स्वस्थ हो गये—पूर्ववत् हाथ-पाँव सहित।

पद्मावती की पति-परायणता देखकर एक बार रानी ने उससे कहा कि कवि जयदेव राजा के साथ आखेट खेलने गये थे, वहाँ उनकी मृत्यु हो गई। बात झूठ थी लेकिन इससे पद्मावती को इतना धक्का पहुँचा कि उसने प्राण त्याग दिए। जयदेव लौटे तो उन्होंने भगवान कृष्ण का स्मरण कर उसे पुनः जिला लिया। पद्मावती ने आँखें खोलते हुए कहा कि उसे उनके सम्मुख संसार से विदा लेने में सुख है। कवि ने सजल होकर कहा, 'तेरी इच्छा।' और पति-परायणा पद्मावती सदा के लिए विदा ले गई।

पद्मावती की मृत्यु पर जयदेव अत्यन्त दुःखी हुए और वे अपने जन्म-स्थान केन्दुली लौट आए। यहीं इनकी समाधि बनी है।

गीत-गोविन्द : 'गीत-गोविन्द' जयदेव की एकमात्र उपलब्ध कृति है। जर्मन कवि गेटे ने 'शाकुन्तल'

---

१. वाग्देवताचरितचित्रितचित्तसद्मा
पद्मावतीचरणचारणचक्रवर्ती
श्री वासुदेवरतिकेलिकथासमेत-
मेतं करोति जयदेवकविः प्रबन्धम्।

और 'मेघदूत' के समान ही 'गीत-गोविन्द' को भी सराहा है। डॉ० कीथ का कहना है कि प्रेम-काव्य के रूप में 'गीत-गोविन्द' भारतीय साहित्य में अप्रतिम है। जोन्स इसे 'गोप-नाट्य' मानते हैं। लसन इसे गीति-नाट्य समझते हैं। वान श्रोडर ने इसे यात्रा-प्रबन्ध के रूप में स्वीकार किया है। पिशाल लेवी के लिए यह 'मैलोड्रामा' है। कहने का तात्पर्य यह है कि 'गीत-गोविन्द' वह कृति है जिसकी भारतीय साहित्य के अनेक विद्वानों ने समान रूप से प्रशंसा की है।

'गीत-गोविन्द' ने युग-युगान्तर साहित्य मानस को आकर्षित और प्रभावित किया है। यही कारण है कि इस कृति के अनुकरण पर अनेक ग्रन्थों की रचना हुई जैसे भानुदत्त कृत 'गीत गौरीपति,' विष्णुसुत कल्याण कृत 'गीत गंगाधर', श्रीनाथ भट्ट सुतराम या रामजित कृत 'गीत गिरीश' और मैथिली कृष्णदत्त कृत 'गीत गोपी पति'।

'गीत-गोविन्द' की साहित्यिक-लोकप्रियता का एक यह भी प्रमाण है कि यह कृति संसार की अनेक सभ्य भाषाओं में अनूदित हो चुकी है जिनमें अंग्रेज़ी, जर्मन, फ्रैंच, लैटिन आदि उल्लेखनीय हैं। सबसे पहले अंग्रेज़ी में विलियम जोन्स ने इसका रूपान्तर किया। अंग्रेज़ी में ही आर्नाल्ड ने इसका जो भावानुवाद प्रस्तुत किया है वह 'सौंग ऑफ़ द सौंग्स' (Song of the Songs) के रूप में सामने आया है। भारतीय भाषाओं में भी इसके अनुवाद उपलब्ध हैं जिनमें बंगला में गिरिधर का (१७३६ ई०), गुजराती में ध्रुव का (१८२४ ई०) और मराठी में चेतोहरदेव का (१८८६ ई०) रूपान्तर उल्लेखनीय है। इसके अतिरिक्त पद्य और गद्य में भी कुछ अनुवाद हैं। हिन्दी में रायचन्द नागर (१७७५ ई०), भक्त-रत्न हरिदास, बाबू हरिश्चन्द्र ने अनुवाद प्रस्तुत किए हैं। इसके अतिरिक्त अन्य अनेक सफल प्रयास हुए हैं, जिनमें एक विनयमोहन शर्मा का 'गीत-गोविन्द' है।

'गीत-गोविन्द' में केवल तीन पात्र हैं—राधा, कृष्ण और दूतिका (सखी)। विषय है दो प्रमुख पात्रों की विरह-वेदना। प्रेम आध्यात्मिकता से प्राणान्वित हुआ है पर उससे कहीं भी शारीरिक मांसलता ओझल नहीं हुई। भक्ति और शृंगार के अद्भुत मिलन से कवि की कल्पना सिंचित हुई है। दूतिका प्रेम-पगे विरही हृदयों को मिलाने वाली शृंखला है। यह दूतिका राधिका की परिचारिका है और राधा और कृष्ण के सन्देश एक-दूसरे तक पहुँचाती है। यह सिलसिला बँधा रहता है। यह दूतिका भारतीय परम्परा में मान्यता-प्राप्त गुरु का प्रतीक है जो शिष्य के आत्मिक विकास का माध्यम बनता है और मानव की आत्मा का परमात्मा से संयोग कराता है। काव्य में विप्रलम्भ (शृंगार-रस का वह भेद जिसमें नायक-नायिका के विरहजन्य सन्ताप का वर्णन रहता है) शृंगार की विविध मनःस्थितियों का चित्रण हुआ है। राधा के अनेक रूप सामने आते हैं—कभी मानिनी, कभी वासकसज्जा, कभी विप्रलब्धा, कभी खण्डिता तो कभी अभिसारिका। कवि के शब्द-चित्र तीन पात्रों की अनेक प्रतिमाएँ आँखों के सामने प्रस्तुत करते हैं। पहाड़ी कला के चित्रकारों ने इन शब्द-चित्रों को अपने मन में श्रद्धा और कल्पना के आधार पर मूर्तिमान किया है और कागज़ पर रंग और कूची के सहारे भावभीने चित्र प्रस्तुत किए हैं।

'गीत-गोविन्द' में शृंगार-रस के वर्णन से चित्रकारों को विभिन्न भावांकन में बड़ी मदद मिली है। जयदेव को कालिदास और जगन्नाथ की तरह ही शृंगार-वर्णन में कमाल हासिल था। कहीं-कहीं तो कालिदास

और जयदेव की कल्पनाएँ भी आपस में मेल खा जाती हैं। 'गीत-गोविन्द' का रास-वर्णन श्रीमद्भागवत के वर्णन से मेल खाता हुआ देखा जा सकता है जिसे हम एक उदाहरण से स्पष्ट करते हैं—दशावतार का वर्णन श्रीमद्भागवत के सूत्र १० अ० ४० में अक्रूर-स्तुति में निहित है। 'गीत-गोविन्द' में दशावतार का वर्णन प्रथम सर्ग के स्तुति-वर्णन में आता है। दोनों में किसी हद तक साम्य देखा जा सकता है।

'गीत-गोविन्द' के पदों में निहित आकर्षण सम्बन्धी एक रोचक घटना सुनने में आती है। वसन्त ऋतु के एक प्रभात में पुरी-स्थित जगन्नाथ के मन्दिर से स्वर सुनाई पड़ रहा था—

ललितलवङ्गलता परिशीलन कोमलमलय समीरे
मधुकर-निकरकरम्बित कोकिल कूजितकुञ्जकुटीरे।
विहरति हरिरिह सरसवसन्ते
नृत्यति युवतिजनेन समं सखि विरहिजनस्य दुरन्ते।

हिन्दी में इसका अनुवाद है :

ललित लवंग लता परिचुम्बित कोमल मलय समीर,
मधुकर-निकर कलित कोकिल से कूजित कुंज कुटीर।
लहर उठता रमणी का चीर,
नाचते हैं हरि सरस अधीर।[1]

मन्दिर की ओर बढ़ते हुए संन्यासी चैतन्य इतने भाव-विभोर हो उठे कि वह गायक को आलिंगन करने दौड़ पड़े। लेकिन यह तो एक देवदासी का स्वर था। चैतन्य को उनके साथियों ने न रोका होता तो भावावेश में स्त्री के स्पर्श से उनके संन्यासगत व्रत पर चोट पड़ती। ऐसा आकर्षण था, 'गीत-गोविन्द' के पदों में।

राधा और कृष्ण के पारस्परिक प्रेम के अभ्युदय की झलक 'गीत-गोविन्द' की आरंभिक पंक्तियों में मिलती है :

मेघैर्मेदुरमम्बरं वनभुवः श्यामास्तमालद्रुमै-
र्नक्तं भीरूरयं त्वमेव तदिमं राधे गृहं प्रापय।
इत्थं नन्दनिदेशतश्चलितयोः प्रत्यध्वकुञ्जद्रुमं
राधामाधवयोर्जयन्ति यमुनाकूले रहः केलयः।

हिन्दी में इसका अनुवाद है :

मेघ भरित अम्बर अति श्यामल तरु तमाल की छाया,
कान्ह भीरु ले जा राधे ! गृह, व्याप्त रात की माया।
पा निर्देश यह नन्द महर का हरि-राधा मदमाते,
यमुन-पुलिन के कुंज-कुंज से क्रीड़ा करते जाते।[2]

इन पंक्तियों को पढ़कर कौन भाव-विभोर नहीं होगा ! सामान्य व्यक्ति की आँखों के सामने ही जब प्रणय-युगल का एक चलचित्र-सा घूम जाता है तो सुधि व सहृदय चितेरों के लिए अपनी कल्पना को इस भावभूमि पर खड़ा करना कितना आनन्ददायक रहा होगा। और फिर कृष्ण और राधा तो उनके प्रातः स्मरणीय आराध्य हैं। वे उनके लिए विष्णु व लक्ष्मी के अवतार तो थे ही पर अपने चित्रांकन में कवि ने उन्हें

१. विनयमोहन शर्मा, गीत गोविन्द, १९५५, पृ० ६
२. वही, पृ० ३

मानवीय परिप्रेक्ष्य में सहजता के साथ रखा है जो पहाड़ी चितेरों की कूची के लिए एक दुर्निवार आकर्षण रहा, एक असंवरणीय लोभ रहा। कवि की निम्न पंक्तियों को भी चितेरों ने चित्रों में आबद्ध किया है :

प्रथम समागम लज्जितया पटुचाटुशतैरनुकूलम्
मृदुमधुरस्मितभाषितया शिथिलीकृतजघनदुकूलम्

हिन्दी में इस पद का अनुवाद है :

प्रथम मिलन की वेला आयी चढ़ व्रीड़ा के स्पन्दन री।
किन्तु मधुर बोलों से उनके बनी स्वयं रस-रंजन री॥[1]

यहाँ राधा कह रही है, "यह हमारा प्रथम मिलन था। मैं लज्जित थी, लेकिन कृष्ण अपनी बातों से फुसलाता रहा। मैंने मधुर मुसकान और प्रलाप में उत्तर दिया तो उसने भावावेश में मेरे वस्त्रों को ढीला कर दिया।"

ऐसे ही अन्य अनेक पदों को पहाड़ी-चितेरों ने चित्रित किया है। उन्होंने अपने आराध्य की विशुद्ध मानवीय परिवेश में कल्पना की। 'गीत-गोविन्द' में वर्णित कृष्ण के प्रेमाचार को चित्रित करना उनका सबसे अधिक प्रिय विषय रहा। 'गीत-गोविन्द' के निम्नांकित अंश में एक सखी राधा से कहती है कि वह लज्जा न करे, कुञ्ज में चले जहाँ माधव उसकी प्रतीक्षा कर रहे हैं। अपने प्रतीकार्थ में यह आत्मा के परमात्मा से मिलन को अभिव्यक्त करता है :

मञ्जुतरकुञ्जतलकेलिसदने
विलस रतिरभसहसितवदने
प्रविश राधे ! माधवसमीपमिह !
नव भवदशोकदल शयनसारे
विलस कुचकलशतरलहारे
प्रविश राधे माधवसमीपमिह
कुसुमचयरचित शुचिवासगेहे
विलस कुसुमसुकुमारदेहे प्रविश राधे !
माधव समीपमिह।

हिन्दी में अनुवाद :

मंजु कुंजतल अति मनभावन
विहंस विलस रति केलि-सदन में
चल राधा ! पिय-ढिग उपवन में
नवल अशोक-दलों की मृदुतर

१. विनयमोहन शर्मा, गीत-गोविन्द, १९५५, पृ० १९

शैया झलक रही है मनहर
तरल हार धर विलस उरज पर—
विविध सुमन से सजे भवन में
चल राधा ! पिय-ढिग उपवन में।[1]

'गीत-गोविन्द' में कृष्ण और राधा के सौन्दर्य का वर्णन है जिसके अनुकूल पहाड़ी चित्रों में इन पात्रों की रूप-छवि देखी जा सकती है। एक पंक्ति है, "चन्दन चर्चित नीलकलेवर पीतवसन वन माली।"[2]

जैसा कि अन्यत्र संकेत दिया जा चुका है जयदेव के 'गीत-गोविन्द' का एक आकर्षण यह भी रहा कि कवि ने अपने आराध्य को सहज मानवीय पृष्ठभूमि पर खड़ा किया है। प्रेम अपने उन्नयन में महज़ मस्तिष्क ही की उपज न रह जाये इसलिए कवि का प्रेमाख्यान शारीरिक आकर्षण की उपेक्षा नहीं करता।[3]

काँगड़ा-कलम के अनेक उत्कृष्ट चित्रों में 'गीत-गोविन्द' के अनेक पदों का चित्रण देखा जा सकता है। कुछ पदों से सम्बद्ध चित्र एम० एस० रंधावा लिखित व नेशनल म्यूज़ियम, नई दिल्ली द्वारा प्रकाशित 'काँगड़ा पेंटिंग्स ऑफ़ द गीत-गोविन्द' में देखे जा सकते हैं।

इन चित्रों से स्पष्ट होता है कि कला अपने सर्वोत्मुखी विकास के लिए कलाकार की स्वच्छन्दता की अपेक्षा रखती है—ऐसी स्वच्छन्दता जहाँ उसकी कल्पना आकाशी उड़ानें भरती हो, उसकी श्रद्धा अतल गहराइयों में पहुँचती हो और जहाँ उसका विवेक किसी प्रकार का समझौता न करता हो।

लगता है कहीं-कहीं तो काँगड़ा-कलम किसी राज्य-प्रश्रय के बन्धनों से ऊपर उठकर अभिव्यक्ति की गरिमा पाने में अवश्य सफल हुई है।

प्रेम के दो पक्ष हैं—मिलन और विरह। कवि ने विरह में राधा की आकुलता का बड़ा ही मार्मिक चित्र प्रस्तुत किया है, जिसे काँगड़ा-कलम के चितेरों ने भी रेखाओं व रंगों में आबद्ध करने का सफल प्रयास किया है :

---

१. विनयमोहन शर्मा, गीत-गोविन्द, १९५५, पृ० ७१

२. पूरा पद इस प्रकार है :

चन्दनचर्चित नीलकलेवर पीतवसन वन माली
केलिचलन्मणिकुण्डलमण्डितगण्डयुगस्मितशाली
हरिरिह मुग्धवधूनिकरे विलासिनी विलसति केलिपरे।
पीनपयोधर भारभरेण हरि परिरभ्य सरांग
गोपवधूरनुगायति काचिदुदञ्चितपञ्चरागम्।
कापि विलासविलोलविलोचन खेलन जनितमनोजम्
ध्यायति मुग्धवधूरधिकं मधुसूदन वदनसरोजम्

३. व्याकोशः केशपाशस्तरलितमलकैः स्वेदमोक्षौ कपोलौ
क्लिष्टा बिम्बाधर श्री : कुचकलशरुचा हारिता हारयष्टिः।
काञ्चीकान्तिर्हताशा स्तनजघन पदं पाणिनाच्छाद्य सद्यः
पश्यन्ती सत्रपा सा तदपि विलुलिता मुग्धकान्तिर्धिनोति।।

है विरह की पीर भारी
छीजती जाती 'बिचारी'
हार उर का भार बनता,
मलय विष का सार बनता।
श्वास का आधार बनता,
दहन का उपचार बनता।
है विरह की पीर भारी,
छीजती जाती 'बिचारी'।

आँख में आँसू उमंगते
कमल-कण सर में तरंगते।
खोजती दिशि-दिशि सहमते-
पिय ! कहाँ हो तुम विरमते ?

है विरह की पीर भारी
छीजती जाती 'बिचारी'।

पल्लवों की सेज लखती,
आग सी-कहती-'सुलगती।'
हाथ पर हनु धर सरसती
बाल-विधु शोभा बरसती।

पर विरह की पीर भारी
छीजती जाती 'बिचारी'।

अहर्निश हरि-नाम जपति
मृत्यु क्षण-क्षण झलक टलती
गीत में 'कवि' भींगते हैं
हरि स्वयं आ रीझते हैं

है विरह की पीर भारी
छीजती जाती 'बिचारी'।[1]

राधा की विरह-वेदना काँगड़ा-कलम के चितेरों के चिन्तन का विषय बनी है। 'गीत-गोविन्द' सम्बन्धी काँगड़ा-कलम के चित्रों को देखने से पता चलता है कि चित्रकारों ने उस वेदना को अपनी कला के माध्यम से बड़ी ही सक्षम व हृदयस्पर्शी अभिव्यक्ति दी है। जहाँ 'गीत-गोविन्द' के शब्दचित्र अपने भाव-प्रेषण में अचूक हैं, वहाँ 'गीत-गोविन्द' सम्बन्धी काँगड़ा-कलम के नयनाभिराम और हृदयग्राही चित्रों की पहुँच भाषा की सीमाओं व बन्धनों से ऊपर उठकर सभी रसिक व्यक्तियों तक है।

---

१. विनयमोहन शर्मा : गीत-गोविन्द, १९५५ ई०, पृ० ३१

'गीत-गोविन्द' के सचित्र व ललित लिपियुक्त संस्करण तैयार करने की परम्परा का आरम्भ पन्द्रहवीं शताब्दी की पश्चिमी जैन-शैली से ही हो गया था जो राजस्थानी और पहाड़ी चित्रशैली में भी जीवित रही। पहाड़ी चित्रशैली में तो 'गीत-गोविन्द' सम्बन्धी चित्र अपने भरे-पूरे आकर्षण व सजीवता के साथ उभरे।

पहाड़ी चित्रकला में 'गीत-गोविन्द' विषयक चित्र दो शैलियों में देखे जा सकते हैं—बसोहली और काँगड़ा। दोनों में बसोहली प्राचीनतर है। बसोहली शैली के ये चित्र डब्ल्यू० जी० आर्चर के अनुसार

१७३० ई० में मानक द्वारा बनाए गये। इसके अतिरिक्त मालिनी का नाम आता है जिसके सम्बन्ध में विद्वानों के विभिन्न मत हैं। एक मत के अनुसार ये चित्र रानी मालिनी की प्रेरणा से बने।

बसोहली शैली और काँगड़ा शैली में बने 'गीत-गोविन्द' विषयक चित्रों में बहुत अन्तर नज़र आता है। दोनों में अपनी शैलीगत विशेषता है लेकिन काँगड़ा शैली के चित्र अपेक्षतया अधिक सुन्दर और संतुलित हैं।

काँगड़ा शैली में 'गीत-गोविन्द' विषयक चित्रों को ध्यान से देखने पर कुछ विविधता दिखने लगती है जिससे ऐसा लगता है कि 'गीत-गोविन्द' के विभिन्न चित्र केवल एक ही चित्रकार के नहीं पर अनेक चित्रकारों के हाथों गुज़रे हैं। यह विविधता आकृति-अंकन, रंग-चयन आदि से स्पष्ट हो जाती है। कहीं कोई आकृति छोटी नज़र आती है और कहीं लम्बी। मुकुट का अंकन भी अलग-अलग ढंग से हुआ है। लगता है विभिन्न चित्रकारों का अपना-अपना कला-बोध है और कुछ अपनी-अपनी शिल्पगत विशेषताएँ भी।

'गीत-गोविन्द' सम्बन्धी चित्रों की विशिष्टता प्रकृति का सूक्ष्म व मुखर अंकन है। आकृतियों तथा

उनकी भूमिका को हटाकर भी यदि हम इन चित्रों को देखें तो वे अपूर्ण मालूम नहीं देते। वनस्थली और उसके अंग-प्रत्यंग जैसे वृक्ष-लताएँ, फल-फूल, पशु-पक्षी, पर्वत-सरिताएँ, आकाश और उसमें उमड़ते बादल सभी कुल मिलाकर अपने लिए एक ऐसे सुन्दर सार्थकचित्र मय संसार का सृजन करते हैं जिसमें अपनी कहानी अपने आप कहने की सामर्थ्य है। प्रकृति विभिन्न ऋतुओं तथा दिन की विभिन्न घड़ियों व पहरों में जो रूप-रंग ग्रहण करती है, उसका अत्यन्त सजीव अंकन हुआ है। इस अंकन में ये कलाकृतियाँ बेजोड़ मालूम देती हैं। वातावरण पर इतनी पकड़ और उसको सशक्त व सक्षम ढंग से उद्धृत करना इन चित्रों की विशेषता बन गई है। प्रकृति-चित्रण में छोटी-बड़ी सभी वस्तुओं की ओर पूरा-पूरा ध्यान गया है, कहीं ऐसा नहीं कहा जा सकता कि यहाँ उपेक्षा बरती गई है अथवा यहाँ भूल हुई है। सम्पूर्ण चित्र एक संतुलन में बँधा रहता है। यहाँ प्रकृति का हर अंग योग देता है। कुछ भी उससे अलग या टूटा हुआ नहीं लगता। यहाँ चितेरे ने कहीं प्रत्यक्ष में प्रकृति अथवा वनस्पति को देखकर चित्र बनाया नहीं लगता है बल्कि प्रकृति अथवा वनस्थली का जो एक भावपूर्ण संतुलित चित्र उसके मानस में बना है, उसे ही उसने रंग और कूची से उकेरा है। लेकिन ये चित्र यथार्थ से दूर और अकृत्रिम मालूम देते हों, ऐसा नहीं कहा जा सकता। अपनी कलात्मक दृष्टि से चितेरे ने प्रकृति के सौष्ठव की रचना की है, वह कुछ चित्रित नहीं किया है जो उस वातावरण के प्रभाव की सघनता को छितराता हो।

'गीत-गोविन्द' के चित्रों में जब हमारा ध्यान रंगों की ओर जाता है तो उनकी सार्थकता हमें समझ आती है। 'गीत-गोविन्द' काव्य में कृष्ण की प्रणय-लीला की भूमिका सौम्य वनस्थली, उन्मुक्त प्रकृति और सघन वन हैं जिनके अंकन में धरती की हरीतिमा और आकाश की व्यापकता को चित्रित करने के लिए क्रमशः हरे और नीले रंग अपने विविध कोमल प्रयोगों में निखरे हैं। इन रंगों का उपयोग इतने सुन्दर ढंग से हुआ है कि समस्त दृश्यावली मुखरित हो उठी है और यही कृष्ण की प्रणय-लीला को एक सजीव पृष्ठभूमि प्रदान करती है। वनस्थली-चित्रण में आम, तमाल, बाँस, खजूर, मजनू, केले आदि के वृक्षों तथा उनसे लिपटी, फूलों से लदी लताओं का अंकन एक विशिष्ट वातावरण पैदा करता है। इसी वनस्थली में चकोर, पपीहा, सारस, पेण्डुकी आदि पक्षियों का चित्रण उसे सम्पूर्णता देता है। इन पक्षियों ने वातावरण को गेयता दी है। इन पेड़-पौधों और पशु-पक्षियों के अंकन से कलाकार की प्रकृति के सुरुचिपूर्ण अध्ययन की वृत्ति का पता चलता है।

बिहारी सतसई

काँगड़ा-चित्रकला से पूर्व राजस्थानी-चित्रकला में हम पाते हैं कि वहाँ चितेरों ने केशवदास, सूरदास और बिहारी की कविता से प्रेरणा पायी और इनके काव्यों के अनेक पदों को चित्रित किया। लेकिन बिहारी-लिखित 'सतसई' जिस रूप में काँगड़ा कलाकार खुशाला के हाथों चित्रित हुई वह अधिक परिष्कृत और अनुपम थी। रेखाओं व रंगों के माध्यम से कलाकार की तन्मयता, एकाग्रता और भावुकता ने सतसई के चित्रों में अद्भुत आकर्षण पैदा कर दिया है। 'गीत-गोविन्द' से सम्बन्धित जो चित्र पहले प्रकाश में आए थे, उन्हें देखकर यह धारणा बनी थी कि समस्त पहाड़ी-चित्रकला में सबसे अधिक कलात्मक चित्र वही हैं लेकिन ज्यों-ज्यों अधिक चित्र प्रकाश में आते गये हैं त्यों-त्यों इस धारणा की पुष्टि नहीं हो सकी है। इतना अवश्य है कि 'गीत-गोविन्द' के चित्रों में प्रकृति अथवा वनस्थली इतने सघन, सुन्दर और रोचक ढंग से अंकित हुई है जिसे हम पहली ही दृष्टि में नयनाभिराम पाते हैं। लेकिन जहाँ पुरुष और स्त्री, राधा और कृष्ण अथवा नायक और

नायिका की आकृतियों का प्रश्न है, वे अपेक्षतया 'बिहारी सतसई' सम्बन्धी चित्रों में अत्यन्त कलात्मक और आकर्षक हैं, विशेषतया नारियों की आकृतियाँ तो अत्यन्त सौम्यपूर्ण नज़र आती हैं। उनमें रेखाओं की लयात्मकता तथा रंगों का मनभावना और रुचिपूर्ण चयन अपनी विशिष्टता परिलक्षित करते हैं। विभिन्न परिस्थितियों में नायिका की मुद्राएँ सहज ही ध्यान आकर्षित करती हैं। उनकी मुखमुद्राएँ तो देखते ही बनती हैं। 'बिहारी सतसई' की नायिका को चित्रित करते हुए चित्रकार ने रंग और रेखाओं के माध्यम से उसे प्रेमावेग के प्रति सजग पाया है। वह प्रेम और प्रणय की अनेक स्थितियों से गुज़रती है। प्रेम, लगाव और आकर्षण की अभिव्यक्ति में पहाड़ी-चित्रकार अपने रंग-चयन में लाल रंग को प्रमुखता दे गया है। अधिकांशतः नायिका का कोई न कोई परिधान रक्तवर्णी है और पृष्ठभूमि में प्रकृति, विशेषतः व्योम में छाये बादलों पर स्वर्णिम आभा, का अंकन भी उसी ओर संकेत करता है।

'गीत-गोविन्द' ओर 'बिहारी सतसई' के चित्रों को देखने से कलाकारों के रंग-चयन की भिन्नता पर भी प्रकाश पड़ता है। 'गीत-गोविन्द' सम्बन्धी चित्र मानक ने चित्रित किए थे और उनका झुकाव गहरे रंगों के प्रति रहा। इसके विपरीत खुशाला ने 'बिहारी सतसई' के चित्रों में हल्के रंगों का उपयोग किया है।

महाकवि बिहारी हिन्दी के मध्यकालीन कवियों में गण्यमान्य रहे हैं। 'सतसई' उनकी एकमात्र उपलब्ध कृति है।

बिहारी के जीवनवृत्त के सम्बन्ध में एक मत नहीं मिलता। अधिकांश विद्वान् किसी हद तक जहां सहमत हुए हैं, उसके अनुसार उनका जन्म सं० १६५२ में ग्वालियर में हुआ। उनके पिता केशवराय स्वयं एक अच्छे कवि थे जिसका पुत्र की शिक्षा-दीक्षा पर अनुकूल प्रभाव पड़ा। ये अपने बचपन में ही अपने पिता के साथ ओरछा चले गये थे जहाँ इन्होंने नरहरिदास का शिष्यत्व ग्रहण किया। संवत् १६७५ में शाहजहाँ स्वामी हरिदास के दर्शनार्थ वृन्दावन पहुँचे। यहीं बादशाह के सम्मान में हुए दरबार में महन्त के निर्देश पर बिहारी ने कविता सुनाई जिसे सुनकर शाहजहाँ अत्यन्त प्रसन्न हुए और कवि को अपने साथ राजधानी आगरा ले गये। यहीं बिहारी का अब्दुर्रहीम खानखाना से परिचय हुआ और सम्पर्क बढ़ा। अब्दुर्रहीम खानखाना स्वयं हिन्दी के सुप्रसिद्ध कवि थे। बिहारी ने नरहरिदासजी के शिष्यत्व में संस्कृत तथा शास्त्रों का खूब अध्ययन किया था और शाहजहाँ के साथ आगरा पहुँचने पर उन्हें अरबी, फारसी शेर तथा ग़ज़ल आदि का भी साधिकार अध्ययन करने का अवसर मिला। शाहजहाँ के यहाँ अनेक राजा अपना आदर-सत्कार देने आया करते थे। राजधानी में अनेक अवसर-उत्सवों पर बिहारी को कविता-पाठ का मौका मिलता। शाहजहाँ के

यहाँ पुत्र के जन्मोत्सव पर हिन्दुस्तान-भर के राजा व उच्चाधिकारी शरीक होने पहुँचे थे। यहाँ बिहारी ने अपना कमाल दिखाया जिससे राजा लोग उनसे अत्यन्त प्रसन्न हुए। 'राजा जयसिंह उन्हें अपने साथ ले गये थे। यहाँ राजघराने में उनका आना-जाना बराबर बना रहा। यहीं 'सतसई' की रचना हुई जिससे सम्बद्ध घटना यों प्रचलित है : राजा जयसिंह ने एक सुन्दर कुमारी से विवाह किया और उसी के साथ भोग-विलास में डूब गये। उन्हें राजकाज की भी कोई चिन्ता व परवाह न रही। इससे मंत्रिगण तथा महारानी अनन्तकुमारी को चिन्ता हुई। उन्होंने बिहारी से भी परामर्श किया। बिहारी को एक युक्ति सूझी। उन्होंने एक दोहा लिखा :

नहिं परागु नहिं मधुर मधु, नहिं विकासु इहिं काल,
अली, कली ही सौं बंध्यौ, आगै कौन हवाल।

—ओ भौंरे, अभी इस कली में न तो पराग है, न ही मधुर रस है और न ही यह अभी पूरी तरह विकसित हुई है। अभी से ही तू इस कली से इतना बंधा हुआ है तो आगे जाने क्या हाल होगा।

एक कागज़ पर यह दोहा लिखकर फूलों के बीच में छुपाकर प्रतिदिन की भाँति राजा का शयन-मंच फूलों से सजा दिया गया। सुबह के वक्त जब फूलों की शैया पर कागज़ अखरा तो उन्होंने उसे देखकर उपर्युक्त दोहा पढ़ा। राजा को आश्चर्य हुआ और अपनी कर्त्तव्य-विमुखता और विलासिता पर दुःख और पश्चात्ताप भी। राजा कवि की सूझ-बूझ पर अभिभूत था। उन्होंने अपने दरबार में बिहारी को सम्मानित किया और उनसे कहा कि यदि प्रतिदिन वह राजा को एक नया दोहा प्रस्तुत करें तो उन्हें हर दोहे के लिए सोने की एक मुहर मिला करेगी। बिहारी प्रतिदिन यही करते---इस प्रकार सात सौ दोहों का 'सतसई' के रूप में एक संकलन प्रस्तुत हुआ।

बिहारी अनेक राजाओं के सम्पर्क में रहे थे जिससे वे तत्कालीन राजघरानों के तमाम कार्य-कलापों तथा घटना-चक्रों से अच्छी तरह परिचित हो गये थे। उनके दोहों में हमें बहुविध नीति-रीति और आचार-व्यवहार का अत्यन्त सुरुचिपूर्ण वर्णन मिलता है। वे पर्याप्त दिनों तक ससुराल भी रहे थे जिससे ससुराल-आवास का उन्हें अच्छा अनुभव था। बिहारी ने जहाँ निकट से राजकीय झलकियाँ देखी थीं वहाँ धार्मिक आन्दोलन के उत्थान-पतन भी। राजनीति में योग्य व्यक्तियों की उपेक्षा और अयोग्य व्यक्तियों को पुरस्कृत होते देखा था। ये सब अनुभव बिहारी की काव्य-प्रतिभा को निखारते रहे।

बिहारी की कविता पर केशव का प्रभाव बहुत स्पष्ट रहा। उनके दोहों में व्यक्त भावों का 'रामचन्द्रिका', 'कविप्रिया' और 'रसिकप्रिया' के पदों से मेल देखा व समझा जा सकता है।

बिहारी अपने तारुण्य में मथुरा-स्थित निधुवन आश्रम में रहे जहाँ नरहरिदास से शिक्षा-दीक्षा ग्रहण की थी। हरिदास के सम्प्रदाय में काव्य, संगीत, चित्रकला आदि ललित-कलाओं की विधिवत शिक्षा का अवसर मिल जाता था। बिहारी प्रतिभावान छात्र तो थे ही, उन्होंने संस्कृत का अधिकारपूर्ण अध्ययन किया तथा अन्य कलाओं के प्रति भी खूब सूझ-बूझ प्राप्त की। कुछ विद्वानों का विचार है कि बिहारी को मुगल-दरबार में भी मान्यता मिली और यहाँ उन्होंने अरबी और फारसी का अध्ययन किया।

हिन्दी-काव्य के इतिहास और साहित्य में रीतिकाल का विशेष महत्त्व है। बिहारी का समय रीतिकाल का आरम्भ ही माना जाता है। यूँ बिहारी के पदार्पण से ही रस-सम्प्रदाय का सूत्रपात हुआ हो, ऐसी बात नहीं क्योंकि उससे पूर्व काव्यशास्त्र सम्बन्धी दो-चार पुस्तकें लिखी जा चुकी थीं और उनमें कृपाराम की 'हित-तरंगिणी' को प्राचीनतम माना जाता है। इसमें नायिका-भेद का पूरा ब्यौरा है। रस और नायिका-भेद

पर मोहनलाल मिश्र का 'शृंगार-सागर' भी एक कृति है। अन्य ग्रन्थ भक्त-कवि नन्ददास की 'रस-मंजरी' है जिसमें नायिका-भेद का विस्तृत वर्णन मिलता है।

हिन्दी-साहित्य में केशव की 'रसिकप्रिया' रस-सिद्धान्त पर पहली रचना है। 'रसिकप्रिया' में शृंगार-रस का प्राधान्य है और इसकी विस्तृत रूप से विवेचना हुई है। उन्होंने शृंगार-रस को रसराज माना है और उसके ही अन्तर्गत नायक-नायिका-भेद, दर्शन-चेष्टा, मान, विभाव, अनुभाव, संचारी भाव, सात्विक भाव का वर्णन मिलता है। शृंगार के प्रकार, काम की दशाएँ, सखी और उसके कार्य-कलाप का परिचय मिलता है। पहाड़ी चितेरों के लिए इन भाव-दशाओं का अंकन एक प्रिय विषय रहा। पहाड़ी कला के चितेरों ने 'गीत-गोविन्द' के अतिरिक्त विहारी की 'सतसई' और केशवदास की 'रसिकप्रिया' को अपने चित्रण में सबसे अधिक महत्त्व दिया है और इन सभी में नायक-नायिका-भेद भरपूरगी से चित्रित हुआ है।

अनेक लोग बिहारी के स्थान पर चिन्तामणि त्रिपाठी को रीतिकाल का प्रवर्तक मानते हैं। ये बिहारी के ही समसामयिक थे। दोनों में वास्तविक प्रवर्तक कौन है, यह हमारे चिन्तन का विषय नहीं। जहाँ तक पहाड़ी-कलम का प्रश्न है, हम अपने विषय को रस और नायिका-भेद तक ही सीमित रखते हैं। चिन्तामणि त्रिपाठी के 'कविकुल-कल्पतरु' में जहाँ विभिन्न काव्यांगों का विवेचन मिलता है, वहाँ रस, नायिका-भेद, भाव आदि का भी वर्णन है और संक्षेप में विभावादि अंगों और अन्य आठ रसों का भी हल्का-सा परिचय आया है। पहाड़ी कला-चिन्तन की पृष्ठभूमि में शृंगार-रस बखूबी चित्रित हुआ है, इसलिए रस-विषयक सभी हिन्दी ग्रन्थ उस दृष्टि से अपना महत्त्व रखते हैं।

पहाड़ी-कलम में 'बिहारी सतसई' को लेकर सुन्दर चित्रों का अंकन हुआ है। नेशनल म्यूज़ियम, नई दिल्ली द्वारा प्रकाशित और एम० एस० रंधावा द्वारा लिखित 'बिहारी सतसई' पर पहाड़ी-कला का एक विनिबन्ध निकला है जो पहाड़ी कला-प्रेमियों के लिए अत्यन्त रुचिपूर्ण ग्रन्थ है। प्रस्तुत पुस्तक में सतसई-विषयक जिन चित्रों को उद्धृत किया गया है उनका जहाँ-तहाँ उक्त विनिबन्ध में दिये गये कुछ चित्रों से ताल-मेल बिठाया जा सकता है। लेकिन यहाँ प्रस्तुत चित्र उन चित्रों से अलग हैं। रंधावा का अनुमान है कि 'बिहारी सतसई' विषयक पहाड़ी कलाकृतियों के कलाकार खुशाला हैं।

'बिहारी सतसई' विषयक चित्रों का परिचय[1]

ग्वाल-बालों की आंख-मिचौनी—चित्र अपने-आप में अत्यन्त सुन्दर है। ग्रीष्म में ग्रामीण जीवन की एक सुन्दर, सहज, सामान्य लेकिन रसपूर्ण झाँकी प्रस्तुत करता है। पात्र-चित्रण और प्रकृति-चित्रण में अद्भुत सामंजस्य है। पृष्ठभूमि में अंकित ग्रामीण जीवन की व्यस्तता अग्रभूमि के विषय को सामर्थ्य देती है। अग्र-भूमि में बाल-गोपाल आँख-मिचौनी खेल रहे हैं। आँख-मिचौनी में व्यस्त बालकों की संख्या नौ है, इनका अंकन भरे-पूरे लेकिन अत्यन्त संतुलित ढंग से हुआ है। गाँव की दो वयस्क स्त्रियाँ ऊपर गोधूलि पर लौटती गौओं को बुला रही हैं, एक अन्य अपनी गौ को दूहती हुई दिखाई पड़ रही है। पलाश की लाल-हरी पत्तियों तथा अन्य पेड़-पौधों का अंकन सहज ही ग्रीष्म का द्योतक है। सम्पूर्ण चित्र एक विशिष्ट लय में बँधा है, कुछ भी फालतू नज़र नहीं आता और न ही कोई अभाव कहीं खटकता है। सभी आकृतियाँ समर्थ अभिव्यक्ति लिए हुए हैं। ऐसा नहीं है कि कोई आकृति भाव-भंगिमाओं से हीन कही जाए। हर आकृति चाहे वह ग्वाल-बाल की है अथवा व्यस्क स्त्री की या गौ की, सहज ही अपनी ओर ध्यान आकृष्ट करती है और अपने कार्य-कलाप का बोध

१. बिहारी सतसई विषयक चित्रों के लिए देखिए चित्रावली

देती है। फिर भी पूरे चित्र के सामंजस्यपूर्ण वातावरण में जो हमारा ध्यान विशेष रूप से आकृष्ट करते हैं वे राधा-कृष्ण और उनका क्रिया-कलाप हैं। आँख-मिचौनी में बाल-बालिकाएँ छिपने के लिए भाग रही हैं लेकिन कृष्ण के लिए राधा के साथ ही छिपने और उससे छेड़-छाड़ करने का भी यही मौका हाथ लगा है। सम्पूर्ण चित्र अत्यन्त अभिव्यक्तिपूर्ण है। यही तो वह मौका है जिसे बिहारी ने लक्ष्य कर लिखा है :

दोऊ चोरमिहीचनी खेलु न खेलि अघात,
दुरत हियैं लंपटाइ कै, छुवत हियैं लपटात।

—आँख-मिचौनी खेलते हुए दोनों (राधा और कृष्ण) का मन नहीं भरता। छिपते हुए तथा एक-दूसरे को छूते हुए वे सहृदय एक-दूसरे से लिपट जाते हैं।

'बिहारी सतसई' के एक अन्य दोहे में हम अभिसार से लौटी नायिका का जिस ढंग से वर्णन पाते हैं उसे पहाड़ी-कलम के चितेरों ने बखूबी रूपायित किया है। नायिका के चित्र से 'बिहारी सतसई' से उद्धृत निम्न दोहे का ताल-मेल देखा जा सकता है—

रँगी सुरत-रँग, पिय हियैं लगी जगी सब राति।
पैंड़ पैंड़ पर ठठुकि कै, ऐंड़-भरी ऐंड़ाति॥

अर्थात्, वह सुरत रंग में रँगी प्रियतम के सीने से सटकर रात-भर जागती रही है, और अब जब वह वापस जा रही है तो कदम-कदम पर ठिठक रही है और ऐंठ के साथ आगे बढ़ रही है।

उक्त चित्र एकाकी आकृति के बावजूद अत्यन्त रोचक, आकर्षक और कलापूर्ण है। रंगीन पृष्ठभूमि सहज ही सूर्योदय की स्वर्णिम आभा को लिए हुए है और नायिका जब रात्रि-पर्यंत सहवास के पश्चात् अपने घर लौटने लगी है तो कृष्ण की सूरत अथवा उसका अपना रंग कहीं दूर क्षितिज से जा मिला है। उसका शरीर उसके साथ है जो थका-टूटा है, तभी उसकी चाल में वह मस्ती तिरोहित हो गई है और उसके स्थान पर अजीब-सी ऐंठन छोड़ गई है जो सहज ही द्रष्टव्य है।

एक अन्य चित्र है 'कृष्णाभिसारिका' का। इस बनी-सँवरी नायिका ने नीले रंग का परिधान पहन रखा है ताकि रात के अँधियारे में जब वह अपने प्रियतम से मिलने जाती है, लोग उसे पहचान न पाएँ। महीने के कृष्ण-पक्ष में ही यह अभिसारिका अपने प्रियतम से मिलती है। नायिका का समस्त पहरावा काले रंग का है। उसकी सुनहरी किनारी उसे रात के टिमटिमाते प्रकाश में उसके लिए अपने अस्तित्व की पहचान देते होंगे। यों भी कलाकार की सहज समझ-बूझ का ही यह परिणाम है कि नायिका के पहरावे की किनारी को अलग रंग में अंकित करना उसने आवश्यक समझा और यह वास्तविकता के भी नज़दीक है क्योंकि काले पहरावे पर गोटे इत्यादि की कढ़ाई कालिमा को आकर्षक बना देती है। अभिसारिका के दुपट्टे पर सितारों-सी कढ़ाई स्याह रात में सितारों की टिमटिम का आभास देती है। कृष्ण-पक्ष का आसमान यदि बादलों से ढक जाए तो रात का अस्तित्व निखरता नहीं। इसलिए चाँदनी के अभाव में गहन रात्रि को जब तारे टिमटिमाते हैं तो वह रात्रि निखार पा जाती है।

यहाँ चित्र के सम्बन्ध में ऐसा लगता है कि नायिका रात्रि में अभिसार के पश्चात् जब लौटी है तो सुबह होने लग गई है। सूर्योदय के साथ अँधियारा छँट गया है और कृष्णाभिसारिका प्रकट हो गई है। इसका एहसास उसे स्वयं भी है और लगता है जिस प्रकार पृष्ठभूमि सूर्य की प्रथम किरणों से रक्त-रंजित हो गई है उसी प्रकार नायिका भी लजा गई है। उसका सिर झुका हुआ है। उसके हृदय की गति तेज़ हो गई है जिससे उसका एक हाथ हृदय पर जा रुका है। वह जैसे चाहती है कि वह अपने आपको सँभाल ले और तभी उसका

दूसरा हाथ उसकी कमर पर जा टिकता है।

'कृष्णाभिसारिका' सम्बन्धी अन्य चित्र में बिहारी का निम्न दोहा अत्यन्त सार्थक लगता है। लगता है चित्रकार ने इसी दोहे को सार्थकता देते हुए कृष्णाभिसारिका को रूपायित किया है—

निसि अँधियारी,नील पटु पहिरि, चली पिय गेह।
कहौ, दुराई क्यों दुरै दीप-सिखा सी देह॥

अर्थात्, अधेरी रात में नीले वस्त्र पहनकर अभिसारिका अपने प्रियतम के घर जा रही है। यह तो बताओ कि इससे यह दीप-शिखा-सी देह कैसे छिपी रह जाएगी? सखी अभिसारिका को प्रियतम के कक्ष में ले जा रही है। उसके पैर ठिठक रहे हैं, वह लाज से झुकी हुई है और सखी धीरे-धीरे उसे समझाते-बुझाते ले जा रही है। सखी की उँगली उस ओर उठी है। सखी की लाल हथेली और प्रियतम के कक्ष के दरवाज़े के ऊपर इकट्ठा हुआ लाल पर्दा प्रणय-लीला तथा तद्जनित लज्जा की ओर इंगित करता है। कलाकार का छोटी-से- छोटी बात पर ध्यान जाना उसकी सूक्ष्म दृष्टि को स्पष्ट करता है जिसकी हम सहज ही सराहना कर सकते हैं। यहाँ भी अभिसारिका का परिधान तारों-भरी रात्रि से मेल खाता है। यहाँ अर्द्ध-चन्द्र का प्रकाश भी है। जिस प्रकार चाँद और तारे रात्रि के गहन अंधकार में राह खोजने में सहायक होते हैं उसी प्रकार श्वेतवसना सखी नायिका को निर्दिष्ट अभिसार के लिए ले जाने में सहायक है।

'बिहारी सतसई' विषयक जिन चित्रों की रचना हुई वे 'गीत-गोविन्द' विषयक चित्रों से एक विशिष्ट बात में भिन्न हैं। 'गीत-गोविन्द' में राधा और कृष्ण की प्रणय-लीला की पृष्ठभूमि उन्मुक्त प्रकृति है तथा 'बिहारी सतसई' के चित्रों में यही पृष्ठभूमि अधिकांशतः गली-कूचे हैं। पुस्तक में 'बिहारी सतसई' सम्बन्धी एक चित्र है जिससे मिलता-जुलता चित्र 'बिहारी सतसई' विषयक मोनोग्राफ[१] में भी देखा जा सकता है लेकिन यह चित्र विषय और शैली की निकटता के बावजूद उससे भिन्न है। यह चित्र 'बिहारी सतसई' के निम्न पद को चित्रांकित करता हुआ लगता है:

डीठि बरत बाँधी अटनु, चढ़ि धावत न डरात।
इतहिं-उतहिं चित दुहुनु के नट लौं आवत जात॥

अर्थात्, नायक (कृष्ण) और नायिका (राधा) ने अपनी अटारियों पर बैठे नज़रों की रस्सी बाँध रखी है जिस पर नट की तरह दोनों ही के मन इधर से उधर आते-जाते हैं।

अनेक चित्रों की तरह यह चित्र भी अपनी कहानी अपने आप कहे जा रहा है। नायक और नायिका की नज़रों की भाषा बेशक जितनी वे स्वयं समझते हैं, दूसरे न समझें लेकिन फिर भी ज़माने की नज़रों से नहीं बचा जा सकता। कोने की खिड़की में बैठी दो औरतें नज़रों के इस मूक आदान-प्रदान के प्रति बेहद उत्सुक हैं लेकिन उन्हें भी यह सब चुपचाप केवल अपनी नज़रों से ही समझना है। लगता है ऐसी स्थिति में नायिका की मजबूरी को लक्ष्य रखं बिहारी ने लिखा है—

जस अपजसु देखत नहीं देखत साँवल गात।
कहा करौं लालच-भरे चपल नैन चलि जात॥

नायिका कहती है—वह क्या करे। ये लोभी और चंचल नैन उसके वश में नहीं। ये यश-अपयश को नहीं देखते, ये तो केवल कृष्ण के साँवले रूप को देखते हैं।

नज़रों की यह बात बिहारी ने अनेक ढंग से कही है। नायिका ने नायक से नज़रें तो मिला लीं लेकिन

---

१. M. S. Randhawa, Kangra Paintings of the Bihari, Satsai, 1966, p. 65.

लगता है वह अपेक्षतया अपनी दृष्टि को निर्बल पाती है—

मैं हो जान्यौ, लोइनन् जुरत बाढ़िहै जोति।
को हो जानतु, दीठि कौं दीठि किरकिरी होत॥

अर्थात्, मैंने समझा था कि आँखें मिलाने से वे अधिक आभापूर्ण हो जाएँगी। कौन जानता था कि दृष्टि मिलाने में किरकिरी भी पैदा होती है।

सम्बद्ध चित्र में इमारत की एक विशेषता नज़र आती है। उसकी सभी खिड़कियाँ ऊपर से गोलाकार हैं। एक तो यह परम्परा के अनुकूल है और दूसरे सीधे से चौखट के मुकाबले में गोलाई अधिक कलापूर्ण लगती है। एक अन्य गुण भी देखा जा सकता है—कृष्ण का अर्द्ध चन्द्राकार मुकुट और नायिका का दुपट्टे से ओढ़ा हुआ सिर भी इन गोलार्द्ध खिड़कियों से मेल खाते हैं, चौखटाकार खिड़कियाँ इधर कुछ बेमेल-सी लग सकती थीं।

'बिहारी सतसई' के विषय को अंकित करते हुए एक अन्य चित्र में नायिका कृष्ण से खिची हुई है, तनी हुई है। उसका कृष्ण से कुछ दूरी पर तनी हुई अवस्था में बैठना इस बात का द्योतक है कि वह उसे खरी-खोटी सुनाने लगी है। कृष्ण का हाथ उसे समझाने की मुद्रा में उठा है। दो सखियाँ आपस में बढ़ी हुई चर्चा पर कुछ बातचीत कर रही हैं, जाने वे कृष्ण का पक्ष ले रही हैं अथवा नायिका का लेकिन कृष्ण तो हर स्थिति पर विजय पाते हैं और तब नायिका अपनी मजबूरी को अभिव्यक्त करती हुई कहती है—

सतर भौंह, रूखे बचन, करत कठिनु मनु नीठि।
कहा करौं, ह्वै जाति हरि हेरि हँसौहीं डीठि॥

नायिका का कहना है—मुझे हरि पर गुस्सा आता है, मेरी भौंहें सिकुड़ जाती हैं, बोल रूखे हो जाते हैं, मन कठोर कर लेती हूँ लेकिन क्या करूँ, हरि को देखते ही मेरी आँखों से हँसी फूटने लगती है।

पहाड़ी चित्रकला में मुद्राएँ विशेष स्थान रखती हैं। अन्य अनेक चित्रों की भाँति इस चित्र को देखने से भी सहज ही उस स्थिति को भाँपा जा सकता है जिसको दृष्टिगत रखते हुए चितेरे ने इसे अंकित किया होगा। पहाड़ी चित्रों की विशेषता उसकी सक्षम व सूक्ष्म अभिव्यक्ति है। वे स्वयं ही अपने अर्थ के बोधक हैं। उनमें अपनी ओर से अर्थ घड़ने नहीं पड़ते और न ही अलग-अलग व्यक्ति अलग-अलग अर्थ निकाल सकते हैं। उनकी अपील शाश्वत है, किसी वर्ग-विशेष से सम्बन्धित नहीं। उक्त चित्र को देखने पर कोई भी व्यक्ति उसको समझ सकता है, चाहे वह 'बिहारी सतसई' अथवा नायक-नायिका-भेद से भिज्ञ हो या नहीं।

७

मुख्य नायक

कृष्ण-भक्त कवियों की तरह पहाड़ी कलम के चितेरों ने कृष्ण-लीला को उन्मुक्त हृदय व स्वच्छन्द कल्पना से अपनी तूलिका का विषय बनाया। यह कृष्ण-लीला के अंकन में ही सम्भव था जहाँ कला उड़ान भर सकती थी। कृष्ण और गोपी का प्रेम भक्ति के आदर्श के रूप में प्रतिष्ठित तो था ही, चितेरों ने भी उसे सहृदय आत्मसात किया और कलात्मक अभिव्यक्ति दी। लोक, वेद-शास्त्र, परिवार आदि की मर्यादाएँ गोपियों और श्रीकृष्ण के प्रेमपाश के लिए कमज़ोर साबित हुईं और वे सहज और सुरुचिपूर्ण ढंग से टूट गई हैं। प्रेम की यह व्यापकता किन्हीं वय-बन्धनों से भी ऊपर उठी है—कृष्ण की गोपिकाएँ किशोरी, युवती और विवाहिताएँ सभी प्रकार की हैं। कृष्ण की बहुविध लीलाएँ कवियों की तरह चितेरों के लिए भी अत्यन्त रोचक विषय था। माखन-लीला, चीर-हरण-लीला, दान-लीला, मान-लीला, रास-लीला आदि में इतने मनमोहक संसार का निर्माण हुआ है कि जो भक्तों और रसिकों के लिए समान रूप से आकर्षक है। कृष्ण-काव्य में शृंगार की ऐसी रंगीनियाँ निहित रहीं जिनसे अनुप्रेरित होकर आने वाले कवियों व चितेरों के लिए नायिकाओं और अभिसारिकाओं का काव्यमय वर्णन अथवा चित्रमय-अंकन सहज हो गया। भक्त-कवि अपनी मनःस्थिति के अनुकूल कृष्ण के साथ अपने रिश्ते को सफलता से मुखरित करते रहे—कोई कृष्ण को सखा के रूप में देखता रहा, कोई वात्सल्य भाव से, कोई

केवल आराध्य के ही रूप में तो कोई पति के रूप में। जो भी रिश्ता जिसको अपने अत्यधिक निकट भाया, उसी में कृष्ण का स्मरण व स्तुति हुई। और पहाड़ी चितेरों ने भक्त कवियों के विभिन्न पदों का स्मरण कर अपनी कल्पना, आस्था और विश्वास का सम्बल लेकर सुन्दर चित्रों का सृजन कर डाला। राजाओं का विलास-पूर्ण जीवन तो कला के उन्नयन में अधिक सहायक न हो सकता था लेकिन कृष्ण-लीला ने उनकी कल्पना को सहेजा, उनकी आस्था को गहराया और उनके कलात्मक मानस को अनुप्राणित व अनुप्रेरित किया।

यदि पहाड़ी कलम के अनेक चित्रों में एक व्यापक विषयगत अनुरूपता ढूँढनी हो तो वह भारतीय जन-जीवन के सर्वाधिक प्रतिष्ठित व आराध्य नायक कृष्ण हैं। श्रीकृष्ण सम्बन्धी भावना की उत्पत्ति चौथी शताब्दी ईसा-पूर्व हो चुकी थी। विकासगत अनुशीलन पर कृष्ण का परिचय सबसे पहले नारायण और उसके बाद क्रमशः वासुदेव, विष्णु और गोपालकृष्ण के रूप में मिलता है। श्रीकृष्ण के चरित्र का अंकन महर्षि व्यास ने महाभारत, भागवत, हरिवंशपुराण आदि काव्यों में किया है। महाभारत में श्रीकृष्ण के साथ राधा की चर्चा नहीं। भागवतपुराण में कृष्ण की बाललीला का वर्णन तो है, उसमें गोपियाँ भी हैं, लेकिन राधा के नाम से वहाँ कोई परिचय नहीं मिलता। एक विशिष्ट गोपी का वर्णन आता है जिसे श्रीकृष्ण के साथ एकान्त में विचरण करने का सौभाग्य प्राप्त है लेकिन उसका नाम नहीं दिया गया है। इस गोपी की अन्य गोपियों में पर्याप्त चर्चा है। वे सोचती हैं कि यह अपने पूर्वजन्म में श्रीकृष्ण की आराधना में रत रही होगी, तभी तो उन्हें इतनी प्रिय है। 'भागवत-पुराण' के आधार पर सबसे प्रथम माध्व-सम्प्रदाय का परिचय मिलता है। इसमें कृष्ण की उपासना पर बल दिया गया है लेकिन राधा का उल्लेख यहाँ भी नहीं।

माध्व-सम्प्रदाय के बाद हमें विष्णु स्वामी और निम्बार्क सम्प्रदाय का परिचय मिलता है जिनमें राधा का निर्देश है। ऐसा लगता है 'भागवत-पुराण' में जिस विशेष गोपी के वर्णन में यह कहा गया है कि उसने पूर्व-जन्म में श्रीकृष्ण की आराधना की है, उसी को बाद में राधा माना जाने लगा—'आराधना' शब्द से 'राधा' की उत्पत्ति समझ में आती है। 'राध' धातु का अर्थ सेवा करना या प्रसन्न करना है। राधा के नाम से सबसे पहला परिचय 'गोपाल-तापनी उपनिषद्' में उपलब्ध है।

निम्बार्क सम्प्रदाय में जयदेव एक विशिष्ट नाम है। जयदेव लिखित 'गीत-गोविन्द' में राधा और कृष्ण की प्रणय-लीला का वर्णन है। इसमें राधा प्रधान गोपिका है। कृष्ण-लीला-गान की प्रथा यों तो गीत-गोविन्द से पहले भी थी लेकिन पहाड़ी कला का सबसे प्रमुख आधार इसी संस्कृत काव्य को माना जाता है। जयदेव के पश्चात मिथिला के विद्यापति और बंगाल के चण्डीदास नामक दो कवि ऐसे हुए जिन्होंने लोक-भाषा में कृष्ण-लीला का गेय-पदों में बखान किया। कृष्ण-लीला-गान की परम्परा पूर्वी भारत से पश्चिमी भारत में पहुँची। सूरदास को यह विरासत किस रूप में मिली इस पर प्रकाश डालना हमारा प्रयोजन नहीं। उनकी वाणी में इसे खूब निखार मिला, यह सर्वविदित है। यह परम्परा अष्टछाप के कवियों (सूरदास, कृष्णदास, परमानन्ददास, कुंभनदास, नन्ददास, चतुर्भुजदास, छीतस्वामी और गोविन्दस्वामी) से होती हुई मीरा, रहीम और रसखान की वाणी में मुखरित हुई। अष्टछाप के कवियों ने लीलागान और भगवान के रूप-माधुर्य का बड़ा ही हृदय-ग्राही चित्रण प्रस्तुत किया है। सत्रहवीं शताब्दी के बाद भक्ति-साहित्य में जो परिवर्तन नज़र आता है उसमें सखीभाव की प्रधानता है। इस काल के तीन मुख्य प्रवर्तक रहे—महाप्रभु चैतन्य, गोस्वामी हितहरिवंश और गोस्वामी हरिदास।

कृष्ण-भक्ति के अनेक कवियों ने अपनी रुचि और रुझान के अनुकूल कृष्ण-राधा के संबंध को मुखरित किया लेकिन कुछ कवियों ने इस संबंध को विकृत और कलुषित कर डाला और बाद में इसका अनुकरण वैष्णव

समाज में इतने छिछले ढंग से हुआ कि यह परकीया प्रेम का रूप ले बैठा। यह सहजता से स्वीकारा जा सकता है कि ऐसा वर्णन न्यायोचित नहीं था क्योंकि रास-लीला के वर्णन में कृष्ण किशोरावस्था में आते हैं और उनके साथ कामुकता का संयोग दुर्बुद्धि की चेष्टा ही है। एक प्रबुद्ध स्तर पर कृष्ण आत्मा है और राधा उनकी काया और संयुक्त रूप में ही उनका रूप पूर्ण है—भक्त लोग राधा और कृष्ण दोनों को संयुक्त रूप से मान्यता देकर उन्हें भगवान का पूर्ण रूप मानते हैं। इसी रूप में राधा को आधा भी कहा गया है। कृष्ण का इतना भावपूर्ण व कलात्मक अंकन पहाड़ी चित्रकला में तभी हो सका है क्योंकि चितेरों व उनके अभिभावकों के मस्तिष्क पर उसका ऐसा बिम्ब बना था जो कहीं भी, किसी भी काल में अपना समकक्ष नहीं रखता। कृष्ण भारतीय संस्कृति का अंग है, उसे कालचक्र भी विस्मृति के गर्भ में नहीं धकेल सका है। वह भारतीय जन-मानस का आराध्य है और प्रबुद्ध व्यक्ति उस-सा नायक अन्यत्र नहीं देख पाते। साहित्य और कला उसके बिम्ब-विधान से विभिन्न कालों में अपनी सामर्थ्य का परिचय देते रहे हैं लेकिन जिस रूप में पहाड़ी कला ने यह परिचय दिया है, वह एक विशिष्टता है।

रामभक्ति और कृष्णभक्ति का स्वरूप

वैष्णव भक्तिमार्ग में भावों की अत्यंत विशद् और मार्मिक व्यंजना श्रीरामभक्ति और श्रीकृष्णभक्ति के रूपों में हुई। युग-युगान्तर से चले आ रहे जन-नायक श्रीराम और श्रीकृष्ण के प्रति पहाड़ी कलाकारों के लगाव का परिचय उनकी हज़ारों कलाकृतियों में मिलता है। यदि पहाड़ी कला वैष्णव भक्ति से अनुप्रेरित न हो पाती तो वह राजशाही की रंगीनियों की अनुकृति मात्र रह जाती, उसका कलेवर बेशक निखर आता, उसकी आत्मा मुग़लकला की तरह सुप्त रहती।

वैष्णव भक्तिमार्ग की उपर्युक्त दो धाराओं में भेद स्पष्ट है। रामभक्ति की धारा में भगवान राम का शील, शक्ति और सौंदर्य से युक्त स्वरूप सामने आता है लेकिन उनकी उपासना में भक्त अपने दास्य-भाव को ही परितुष्ट करता है। सौंदर्य से अधिक शील और शक्ति के प्रति मन अभिभूत हो जाता है। राम के प्रेम की आकांक्षा नहीं बन पाती, उनकी शक्ति के सामने श्रद्धा से सिर झुकाना पड़ता है। राम का 'रामत्व' रावण के 'रावणत्व' के विरोध में प्रकट होता है। सामान्य भक्तों जैसे शबरी, अहल्या, गृध्रराज जटायु के प्रति प्रेम में और उनके उद्धार में रामत्व दिखाई देता है, सुग्रीव, विभीषण, हनुमान के प्रति स्नेह-मैत्री में रामत्व के दर्शन होते हैं, कैकेयी के प्रति श्रद्धा और स्नेह के रूप में रामत्व का परिचय मिलता है। राम का चरित्र लोकमर्यादा, संयम, लोकरंजन और परित्राण की भावना से ओतप्रोत है। राम के ध्यान अथवा चिंतन में हमारा हृदय एक ओर तो उनके सौंदर्य का पान करके रसविभोर होने लगता है लेकिन इसके साथ मर्यादा पुरुषोत्तम के शील और शक्ति के स्मरण से हमारा मस्तक श्रद्धा से नत हुए बिना नहीं रहता। राम के तीन गुण—सौंदर्य, शील और शक्ति में शील और शक्ति का ही प्राधान्य है और इस रूप में वे हमारे उपास्य के रूप में उभरते हैं, सखा अथवा कान्त के रूप में नहीं। राम-भक्ति में पावन ही मंगल है, श्रेय ही प्रेय है और कर्तव्य ही प्रेम है।

रामभक्ति में दास्यभाव प्रमुख है। इसके विपरीत सख्य, वात्सल्य एवं माधुर्य भाव का आभास कृष्ण-

भक्ति में खूब मिला है। ग्वाल-गोपालों का कृष्ण के साथ रिश्ता-नाता सखा का ही है। कृष्ण के वात्सल्य पर सहज ही हृदय न्योछावर होता है—"घुटुरन चलत रेनु तन मंडित मुख दधि लेप किए"—यशोदा के आँगन पर बाल-कृष्ण का यह रूप वात्सल्य का परिचायक है। कृष्ण बढ़ता है तो उसके साथ-साथ उसका नटखट रूप भी विकसित होता है। और फिर कृष्ण का वंशीधर के रूप में अत्यन्त आकर्षक रूप देखने में आता है। गोप-वृन्दों को छेड़ना, गोचारण में सजल श्यामल वारिदों के पीछे दौड़ना, बाल-गोपालों से दावों का लेना-देना और वंशी की तान पर नाचना-नचाना उसका सहज क्रियाकलाप है। श्रीवल्लभाचार्य, माध्व, निम्बार्क तथा श्रीचैतन्य-देव जन-नायक कृष्ण की इसी श्यामल प्रौढ़ रूप-माधुरी से आकृष्ट हैं और अभिभूत हैं। इसी की प्रेमस्रोतस्विनी को जयदेव और विद्यापति ने गीतों में बाँधकर परम भाव की मधुर रति को अंकित किया और वही पहाड़ी कलम के चितेरों ने इस रूप में चित्रित किया कि वह चित्रकला में अपनी समानता नहीं रखता। चित्रकारों का राम की अपेक्षा कृष्ण को अधिकांशतः अपना विषय बनाना आसानी से समझ में आता है। कृष्ण के रूप में अनेक श्रद्धालुओं की तरह चितेरों ने भी लावण्य, मोहकता और आकर्षण पाया है और उनके इस रूप को अंकित करने के लिए उनकी कूचियाँ मचलती रही हैं। कृष्ण का यह लावण्यमय रूप अनेक चित्रों से स्पष्ट है। उनके हाथ में वंशी है जिसकी स्वर-लहरी का प्रभाव समस्त वातावरण पर देखा जा सकता है—इस स्वर-लहरी से मानव ही नहीं बल्कि समस्त पशु, पक्षी, लता-विटप आदि स्थावर-जंगम जीव आकर्षित हैं और उसका यह क्रिया-कलाप उसके कृष्णनाम को सार्थक करता है, "कर्षति आकर्षति मायामूढान जीवान् स्वाभिमुखी करोतीति कृष्णः।" महाभारत के अवसर पर कृष्ण अर्जुन के सारथी ही नहीं, समय आने पर वह अपना विराट रूप भी प्रकट करते हैं। अर्जुन से उनका कहना है—"सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज, अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्ष-यिष्यामि मा शुचः।" अर्थात्, सब धर्म-कर्मों को छोड़कर केवल एक (मुझ) सच्चिदानन्दघन वासुदेव परमात्मा की अनन्य शरण में आ जा, मैं तुझे सब पापों से—जन्म-मृत्यु के बन्धन से छुड़ा दूँगा। तू शोक मत कर। भगवद्गीता के अंतिम और अत्यन्त अर्थपूर्ण श्लोक में कहा गया है—

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः
तत्र श्रीविजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥

जहाँ योगेश्वर कृष्ण और गांडीव धनुर्धारी अर्जुन हैं, वहीं श्री, विजय, विभूति और अचल नीति है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भक्ति के पांच भावों—शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर—की पूर्णता श्रीकृष्ण में तो है लेकिन श्रीराम में हमारा भाव दास्य से उठता हुआ सख्य तक भी कठिनाई से पहुँच पाता है। मधुरभाव अर्थात् कान्ताभाव को लेकर पहाड़ी चितेरों ने खूब उड़ान भरी है। इस रूप में कृष्ण का प्राणवल्लभ प्रियतम रूप उभरता है और भक्त निकटता महसूस कर अपने आपको प्रेयसी और कृष्ण को प्रिय-तम के रूप में देखता है। इसी भाव को गोपीभाव भी कहते हैं और इसमें भक्ति का स्वरूप निम्न श्लोक से प्रकट होता है—

अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा ॥

(भक्तिरसामृतसिन्धु १।११)

अर्थात्, श्री श्यामसुन्दर से मिलने की अभिलाषा के अलावा जगत् की सभी वासनाओं से शून्य, ज्ञान और कर्म के संस्कारों से अनावृत, सब प्रकार की अनुकूलता के साथ श्रीकृष्ण का चिन्तन ही उत्तम भक्ति है।

पहाड़ी कला के प्रयोजन से मधुर रस ही महत्त्वपूर्ण है। शान्त, दास्य, सख्य और वात्सल्य भाव के समन्वय पर मधुर रस की उत्पत्ति होती है जिसे हम रति, मधुर या महाभाव की संज्ञा भी देते हैं। रति के दो रूप हैं—दाम्पत्यरति और आत्मरति। आत्मरति का रासपंचाध्यायी में विशद वर्णन है। छान्दोग्य उपनिषद् में आत्मरति का वर्णन इस प्रकार है—आत्मैवेदम् सर्वमिति। स वा एष एवं पश्यन्नेवं मन्वानएवं विजानन्नात्मरतिरात्मक्रीड आत्ममिथुन आत्मानन्दः स स्वराड् भवति। (७।२५।२)

जो कुछ देखा जाता है, सुनाई पड़ता है, सूँघा जाता है, छुआ जाता है और चखा जाता है वह सब आत्मा ही है। इस तरह जो दिखता है, मानता है और अच्छी तरह जानता है वह प्रक्रिया आत्मरति, आत्मक्रीडा, आत्ममिथुन और आत्मानन्द है। जो सब जगह सभी में अपनी आत्मा को देखता है उसकी रति, क्रीडा, मिथुनभाव तथा आनन्द अपनी आत्मा के साथ ही होते हैं।

इस प्रकार यह बहुविध स्वरूप जानने के बाद यह बात साधारणतया समझ में आ जाती है कि वह कौन-सी शक्ति थी जिसने पहाड़ी कला की अन्यतम उपलब्धियों को संभव बनाया। मुग़ल साम्राज्य बेशक किसी न किसी रूप में कलाप्रेम का परिचय देता रहा हो लेकिन कला जहाँ प्रश्रय को स्वीकारती है, वहाँ वह किसी बन्धन की माँग नहीं रखती। जब धर्म आत्माभिव्यक्ति के उन्नयन में सहायक नहीं हो पाता तो हर क्षेत्र में कुण्ठा का सृजन करता है। जहाँ भारतीय धर्म किसी धर्म के विरुद्ध एक शब्द भी नहीं कहता वहाँ इस्लाम अपने प्रचार व प्रसार के लिए 'जिहाद' को मान्यता देता है। कला स्वतंत्रता की अपेक्षा रखती है। मुगलकाल में जो भारतीय कला के लिए संभव न हो पाया वह पहाड़ी राजाओं के प्रश्रय में पनपती कला ने प्राप्त किया था। कला संबंधी इतना विशाल आंदोलन इतिहास में कहीं भी किसी भी समय देखने को नहीं मिलता।

८

मुख्य प्रश्रयदाता महाराजा संसारचन्द

पहाड़ी कला के सबसे बड़े पोषक काँगड़ा के शासक महाराजा संसारचन्द हुए। उनका कला-प्रेम ख्याति पा चुका था और एक महत्त्वाकांक्षी शासक होने के नाते उन्होंने काँगड़ा राज्य को ही सुगठित और सुव्यवस्थित नहीं बनाया बल्कि उस राज्य के विस्तार के सपने भी देखे। उनका प्रभुत्व और आतंक पार्श्ववर्ती राज्यों में भी बढ़ा और समस्त पहाड़ी क्षेत्र में उनकी सत्ता अप्रतिम मानी जाने लगी।

महाराजा संसारचन्द ने जिस रूप में पहाड़ी कला को आश्रय दिया उसी से यह संभव हो सका कि आज यह कला संसार-भर की कलाओं में एक ऐतिहासिक स्थान ही नहीं रखती बल्कि उसे अत्यन्त सम्मानपूर्ण स्थान भी प्राप्त है। ऐसी गौरवपूर्ण कला को महज़ सामन्तशाही अथवा राज्यशाही की एक उपलब्धि मानकर नहीं टाला जा सकता। पहाड़ी कला एक महान भारतीय कला है और इस कला के साथ संसारचन्द का नाम अभिन्न रूप से जुड़ा है। आज इतिहास में संसारचन्द का नाम एक शासक के रूप में विशेष रूप से गण्य नहीं लेकिन एक कला-प्रेमी के रूप में यह नाम अमर है। साम्राज्य वक्त की आँधी में अपना अस्तित्व खो बैठते हैं लेकिन कला किसी व्यक्ति को अमर बनाने में समर्थ है। पहाड़ी कला के इस अनन्य पोषक की जीवन-गाथा पर हम एक दृष्टि डालेंगे।

ज़िला काँगड़ा की पालमपुर तहसील में लम्बाग्रांव कला की दृष्टि से भी महत्त्व रखता है। आज भी अनेक चित्र वहाँ से प्राप्त हुए हैं। वहीं से छः मील दूर विजयपुर नामक एक गाँव में १७६५ में तेगचन्द के घर संसारचन्द का जन्म हुआ। तेगचन्द तो साल-भर के शासन के बाद ही चल बसा था। इस वक्त संसारचन्द की आयु केवल दस वर्ष की थी।

संसारचन्द कटोच वंश से था। कटोच वंश अति प्राचीन वंशों में से समझा जाता है। कनिंघम इस संबंध में लिखते हैं—"मुझे तो ऐसा लगता है कि इसके संस्थापक सुशर्माचन्द्र के समय से लेकर उनकी वंशावली राजपूताना के अधिक शक्तिशाली परिवारों द्वारा दिखाई गई लम्बी नामावली में से किसी की भी अपेक्षा अधिक विश्वसनीय है।"[१]

१७५१ में संसारचन्द के दादा घमण्डचन्द गद्दी पर बैठे। नाम के अनुकूल ही उसकी प्रकृति, स्वभाव और क्रिया-कलाप भी था। जो थोड़े से इसके चित्र देखने में आए हैं वे उसके काल में नहीं बने। वे संसारचन्द के काल का ही सृजन हैं। यह ऐसा वक्त था जब मुगल साम्राज्य की शक्ति क्षीण हो चुकी थी। इस मौके का फायदा उठाकर घमण्डचन्द ने वह समस्त क्षेत्र पुनः अपने अधिकार में ले लिया जो उसके पूर्वजों के हाथों से निकल गया था। लेकिन अब भी कांगड़ा का किला उसके हाथ न लगा था। इन दिनों पंजाब अहमदशाह दुर्रानी के नियंत्रण में था। उसके साथ घमण्डचन्द ने अच्छा सम्पर्क बना लिया था जिसके परिणामस्वरूप वह १७५८ में जालन्धर दोआब का गवर्नर नियुक्त किया गया।

संसारचन्द दस वर्ष की आयु में (१७७५) सिंहासनासीन हुआ। वह एक साहसी व महत्त्वाकांक्षी युवक था। बड़ा होने के साथ-साथ उसने ऐसा कोई अवसर हाथ से जाने न दिया जो उसे अपनी सत्ता को सुगठित करने के लिए मिला हो। उसने एक बड़ी सेना रखी जिससे आस-पास के छोटे-छोटे राज्य आशंकित हो उठे। शीघ्र ही चम्बा के राजा को इस बढ़ती हुई सत्ता का मुकाबला करना पड़ा जिसके फलस्वरूप संसारचन्द ने पालम के तालुके को हथिया लिया। यह क्षेत्र समस्त कांगड़ा घाटी में चावल की खेती के लिए सबसे अधिक प्रसिद्ध था और इसे अपने नियंत्रण में लेकर उसने अपने प्राथमिक सपने को साकार किया। आज भी कांगड़ा घाटी का सबसे सुन्दर स्थान यही है और धान की खेती और चाय के बागीचों के लिए प्रसिद्ध है।

जब वह गद्दी पर बैठा, उन दिनों पंजाब के मैदानों पर दुर्रानियों के हमले भी चल रहे थे लेकिन वे अपनी सत्ता को स्थापित करने में सफल न हो सके। इसके विपरीत सिक्खों का प्रभुत्व जम चुका था और वे पहाड़ों की ओर भी बढ़ रहे थे। ऐसे समय में संसारचन्द अपनी गद्दी की सुरक्षा तभी कर सकता था जब वह अपनी शक्ति को संगठित करता। उसने समय की माँग पर अपनी सेना को संगठित किया और उसका खूब विस्तार किया। उसने अपनी सेना में राजपूत और अफगानों को भर्ती किया। छोटे-मोटे आसपास के राज्यों को अपने अधीन करने पर ही उसे यह साहस हो सका कि वह किसी भी शक्ति का सामना करने में समर्थ है।

१६२० में मुग़ल बादशाह जहाँगीर की सेना ने कांगड़ा पर चढ़ाई की और कांगड़ा किले पर अधिकार कर लिया। तब से लेकर एक लम्बे अर्से तक काँगड़ा किले पर मुगलों का ही अधिकार रहा। यह किला कटोच वंश की शक्ति का प्रतीक था लेकिन इसके हाथ से निकल जाने पर कटोच-शक्ति को भारी आघात पहुँचा।

१. 'Their genealogy from the time of the founder, Susarma Chandra, appears to me to have a much stronger claim to our belief than any of the long strings of names shown by the more powerful families of Rajputana' (Sir A. Cunningham)

—J. Hutchison & J. Ph. Vogel: History of the Punjab, Hill States, Vol. I, p.3.

मुगल साम्राज्य का ग्रंतिम ग्रधिकारी जिसका इस किले पर ग्रधिकार रहा सैफ़ ग्रली खां था। १७८१ में सैफ़ ग्रली खाँ की मृत्यु हो गई ग्रौर किले पर बटाला के जयसिंह कन्हैया ने ग्रधिकार कर लिया। लेकिन इस वक्त तक संसारचन्द ने ग्रपनी शक्ति को संगठित कर लिया था ग्रौर वह राजनीति के दाँव-पेच समझने लगा था। इक्कीसवर्षीय इस साहसी युवक ने १७८६ में जयसिंह से किला वापस ले लिया ग्रौर बदले में उसे कुछ मैदानी क्षेत्र दे दिया। किले पर ग्रधिकार एक बहुत बड़ी उपलब्धि थी। यह उन दिनों ग्रजेय समझा जाता था, इस पर ग्रधिकार करने से समस्त पहाड़ी रियासतों में संसारचन्द का बोलबाला हो गया। ग्रब वह ग्रन्य राजाग्रों को ग्रपनी शक्ति का लोहा दिखाना चाहता था। उसने १७९४ में चम्बा पर चढ़ाई की। निरती के स्थान पर चम्बा का राजा राजसिंह हार गया ग्रौर मारा गया। इस लड़ाई के फलस्वरूप संसारचन्द ने रिहलू की उर्वरा भूमि को ग्रपने कब्जे में कर लिया।

राजाग्रों की कहानी ग्राज पर्याप्त दिलचस्प मालूम होती है। जहाँ ये राजा ग्रापस में ही लड़ते-भिड़ते रहते थे, वहाँ इनमें रिश्ते-नाते का बनना ग्रौर बिगड़ना भी ग्राम बात थी। रिश्ते-नाते करती बार राजा को यह एहसास रहता था कि वह ग्रपनी शक्ति में बढ़ोतरी कर रहा है लेकिन ऐसा भी हुग्रा है कि जब नव-वधू ने ग्रपने मायके की हामी भरी हो ग्रौर राजा इसे चुनौती समझकर लड़ाई की तैयारी में लग गया हो। राजा संसारचन्द की एक ग्रन्य भिड़न्त सिरमौर के राजा धर्मप्रकाश से हुई। संसारचन्द की बहन धर्मप्रकाश से ब्याही गई थी। एक दिन उसने शेखी बघारी—'सिरमौर की तमाम फौज़ से ग्रधिक संख्या तो हमारे भाई के यहाँ साइसों की है'—बात बढ़ गई। कहलूर की सीमा पर लड़ाई हुई। धर्मप्रकाश मारा गया। बहन के दर्प ने एक बड़ी कीमत दी—उसके माथे का सिंदूर मिट गया, उसके हाथों की मेंहदी धुल गई।

ग्रब तो संसारचन्द का हौसला बहुत बढ़ गया था। उसने कहलूर पर ग्राक्रमण किया ग्रौर वहाँ के किले पर ग्रधिकार कर लिया। ग्रपनी उपलब्धि को बनाए रखने के लिए सोलह सिंधी के स्थान पर एक नया किला बनाया। किलों का महत्त्व उन दिनों की लड़ाई में ग्रद्वितीय था। इसलिए राजा संसारचन्द की ग्राँख बराबर ग्रास-पास के किलों पर लगी रहती थी। उसने गुलेर के राजा प्रकाशचन्द से भी रामगढ़ का किला लेकर ग्रपने ग्रधिकार में रखा। ज्यों-ज्यों राजा संसारचन्द ग्रपनी शक्ति को सँजोता रहा त्यों-त्यों उसके विस्तारवादी सपने भी पनपते गए। ग्रब उसने बंगाहल के राज्य का कुछ क्षेत्र ग्रपने ग्रधिकार में कर लिया। १७९२ में मण्डी रियासत पर हमला किया ग्रौर मण्डी नगर को लूटा। इन दिनों ईश्वरीसेन मण्डी का शासक था। ईश्वरीसेन को कैदी बनाकर टीरा सुजानपुर ले जाया गया जहाँ वह बारह साल तक कैद रहा। संसारचन्द के इस बढ़ते ग्रातंक को देखकर सुकेत के राजा ने हमले से बचने के लिए पहले ही घुटने टेक दिए ग्रौर उसके प्रभुत्व को स्वीकार कर लिया।

इन विजयों से संसारचन्द के हौसले बहुत बढ़ गए। ग्रब वह उत्तरी भारत में मैदानों की ग्रोर बढ़ना चाहता था। वह लाहौर पर ग्रधिकार करने के सपने देखने लगा। उसके दरबार में ग्रभिवादन ही 'लाहौर प्राप्त' कहकर किया जाता था जिससे उसकी महत्त्वाकांक्षा को बल मिलता रहा। लेकिन महत्त्वाकांक्षा जब दुर्दमनीय चेष्टा बन बैठती है तो दुष्परिणाम भी ग्रपरिहार्य बन जाता है। लाहौर पर विजय पाने का सपना संसारचन्द के लिए सहज था लेकिन लाहौर की प्राप्ति सहज न थी। संसारचन्द की शक्ति को इस बात से भी बहुत बल मिला था कि मुगल सत्ता का ह्रास हो चुका था ग्रौर उस ग्रोर से किसी ग्राशंका से वह मुक्त था।

इन दिनों पंजाब पर महाराजा रणजीतसिंह का राज्य था। दोनों ही महत्त्वाकांक्षी शासक थे। लेकिन संसारचन्द को संभवतः रणजीतसिंह की सही शक्ति का ग्रनुमान न था। दूसरी बात यह थी कि सिक्ख एक

प्रगतिशील शक्ति के रूप में अपना परिचय दे रहे थे। जाति-पाँति के वे विरोधी थे। गुरु गोविन्दसिंह ने पहले ही अनेक जातियों के लोगों को अपने साथ सहृदय व सादर सम्मिलित किया था। १८०३-४ में संसारचन्द ने होशियारपुर और बजवाड़ा की ओर मैदानों पर दोबारा आक्रमण किया लेकिन उसे महाराजा रणजीतसिंह के हाथों परास्त होना पड़ा। इससे संसारचन्द बाद में मैदानों की ओर बढ़ने की बात न सोच सका। १८०५ में उसने कहलूर पर चढ़ाई की और सतलुज नदी के दायीं ओर स्थित कुछ क्षेत्र हथिया लिया। प्रत्यक्ष में बेशक यह संसारचन्द की विजय थी लेकिन यहीं से उसके पतन का आरम्भ भी होता है।

संसारचन्द की महत्त्वाकांक्षा और लगातार चढ़ाइयों से समस्त पहाड़ी राज्यों पर एक आतंक छाया हुआ था और वे एक ऐसे अवसर की प्रतीक्षा में थे जब वे इस आतंक से केवल मुक्ति ही नहीं पाते बल्कि संसारचन्द का सितारा डुबोने में सक्रिय सहयोग भी देते। इधर नेपाली गुरखों की शक्ति का सूर्य उदय हो रहा था और वे पश्चिमी हिमालय की पहाड़ी रियासतों की ओर सफलतापूर्वक बढ़ रहे थे। उनका ख़याल था कि वे यहाँ एक साम्राज्य स्थापित कर लेंगे।

इन्हीं दिनों रामपुर के अपदस्थ शासक नवाब गुलाम मुहम्मद को संसारचन्द ने अपने यहाँ आश्रय दे रखा था और उसे सम्पूर्ण आतिथ्य-सत्कार दिया जा रहा था। वह राजा का विश्वासपात्र बन गया था और सेना सम्बन्धी मामलों में उसकी राय को महत्त्व दिया जाने लगा था। उसने परामर्श दिया कि सेना में राजपूत और अफ़गानों के स्थान पर रोहिलों को रखा जाए जिससे सेना पर होनेवाले खर्च में भी काफी बचत होगी। अभी राजा उसके इस परामर्श को किन्हीं अंशों में ही कार्यान्वित कर सका था लेकिन यह परिवर्तन राजा के हित में सिद्ध न हुआ और राजा की सैनिक शक्ति कमज़ोर हो गई।

कहलूर पर हुए आक्रमण और उसके कुछ क्षेत्र को हथियाने से अनेक पहाड़ी राज्यों में पर्याप्त असंतोष था ही। बिलासपुर के राजा ने जब गुरखों के कमांडर अमरसिंह थापा से संसारचन्द के विरुद्ध साँठ-गाँठ कर ली तब अवसर के अनुकूल अन्य राजाओं ने भी गुरखों को सहयोग दिया। गुलाम मुहम्मद के परामर्श पर सेना में काट-छाँट हुई थी। संसारचन्द के पूर्वजों के समय में सेना में रोहिले, अफ़ग़ान और राजपूत भर्ती किए जाते थे। इनको वेतन भी अच्छा दिया जाता था। गुलाम मुहम्मद ब्रिटिश सेना के साथ लड़ा था और उसने बड़ा यश कमाया था। लेकिन अब उसकी सलाह पर सेना में कमी की गई और केवल रोहिलों को ही सेना में रखा जाने लगा। रोहिलों को राजपूत और अफ़ग़ानों के मुकाबले में कम तनख्वाह देनी पड़ती थी। अभी यह कुछ हुआ ही था कि गुरखों ने इस अवसर का पूरा-पूरा फायदा उठाया। अमरसिंह थापा ने गुरखों की सेना का संचालन किया। अनुमान है कि इस सेना में ४०,००० सैनिक थे। बिलासपुर के स्थान पर उन्होंने सतलुज को पार किया और ज्यूरी से होकर सुकेत पहुंचे। उनके इस अभियान में बिलासपुर, बसोहली और काँगड़ा के आस-पास के राज्यों ने, जो संसारचन्द से आतंकित थे, सहयोग दिया। कुल मिलाकर उन्होंने १०,००० के लगभग सैनिक गुरखा कमांडर अमरसिंह थापा के हवाले कर दिए। इस संदर्भ में व्हीन लिखते हैं—"इन सभी राजाओं ने इस बात पर गुरखों के नेता के प्रति स्वामीभक्ति की कसम उठाई कि कांगड़ा किला पर वह अपना अधिकार रखेगा और उनको (राजाओं को) अपने क्षेत्र में बिना किसी छेड़छाड़ के रहने दिया जाएगा।"[१] चम्बा के

१. "All of these Rajas took an oath of fidelity to the Gurkha Chief, on the understanding that he was to retain Kangra Fort and they were to be unmolested in their territories." (Vigne, Travels, Volume I, pp. 137-8-9)

—J. Hutchison & J. Ph. Vogel : History of the Punjab Hill States, Volume I.

राजा जीतसिंह ने भी वज़ीर नाथू के अधीन अपनी एक टुकड़ी गुरखों की सहायता में भेजी। इस सम्बन्ध में अमरसिंह थापा ने चम्बा के राजा को जो पत्र लिखा था वह चम्बा स्टेट आर्चिव्स में सुरक्षित है। एक ऐसा ही इसी हस्तलिपि में अन्य पत्र भी है लेकिन उस पर लिखने वाले का नाम व दिनांक नहीं है। इन पत्रों में काँगड़ा को त्रिगध के नाम से लिखा गया है। स्पष्ट है कि उस वक्त तक कांगड़ा का पूर्व-प्रचलित पौराणिक नाम—'त्रिगर्त' चला आया है। १८०५ में महल मोरियाँ के स्थान पर दोनों सेनाओं में भिड़न्त हुई। राजा संसारचन्द बहुत बहादुरी से लड़ा लेकिन परास्त हुआ। गुरखा सेना के इस अभियान में उन्होंने मण्डी के राजा को जो टीरा-सुजानपुर में बारह साल से कैद में पड़ा था, मुक्त कर उसके अपने राज्य में भेज दिया।

पहले तो संसारचन्द ने टीरा-सुजानपुर में ही मोर्चा बनाया लेकिन बाद में वह अपने परिवार सहित किले की शरण में चला गया था। इस किले में सेना के लिए इतनी खाद्य-सामग्री थी कि जो बारह वर्ष तक चल सकती थी लेकिन इस सामग्री की देख-रेख भली प्रकार न हो सकी थी जिससे वह अधिक देर न चल सकती थी। इस अवसर पर गुलेर के राजा ने भी कोई मदद न की यद्यपि वह उसी के वंश का था। संभवतः यह इस बात का साक्षी है कि राजा ने अपने पड़ोसी राज्यों को बहुत अधिक आतंकित कर रखा था।

अब गुरखे काँगड़ा राज्य के भीतर घुस आए थे और उन्होंने किले को भी अपने अधिकार में लेना चाहा लेकिन सफल न हो सके। तीन-चार साल तक वे इलाके को लूटते रहे। इस मार-धाड़ और लूट-खसूट का जो परिणाम नज़र आया उसका ब्यौरा देते हुए बार्नस ने लिखा है, "पहाड़ों के इतिहास में इन दुर्भाग्यपूर्ण दिनों की स्मृति सीमाचिह्न के समान है। उस समय के लेखे-जोखे में इन दिनों का उल्लेख है। यह उचित था या अनुचित लेकिन किसी भी दुर्घटना का कारण पीड़ा और दुःख का वही एकमात्र स्रोत बता दिया जाता था। लोग आक्रांत और किंकर्तव्यविमूढ़ की स्थिति में पड़ोसी राज्यों में भाग निकले, कुछ चम्बा चले गए और कुछ जालन्धर दोआब के मैदानों में। अन्य पहाड़ी राज्यों ने भी, जो पहले ही राजा संसारचन्द के दमन से उत्तेजित थे, आत्म-हानि के बिना सामान्य अव्यवस्था को बढ़ावा दिया। तीन साल तक अराजकता की यह स्थिति बनी रही। कांगड़ा की उर्वरा घाटी में खेती के नाम पर कोई पत्ती तक नज़र नहीं आती थी, शहरों में घास उग आयी थी और नदौन के बाज़ारों में सिंहनियाँ बच्चे देने लगी थीं।"[१]

संसारचन्द और उसकी सेना निराश हो चुकी थी लेकिन संसारचन्द अभी तक भी कुछ करने की कोशिश में था। वह एक रात किसान के वेश में अपने परिवार के साथ टीरा-सुजानपुर पहुँचा, किले को वह

---

१. 'The memory of those disastrous days stands out as a landmark in the annals of the hills. Time is computed with reference to that period, and every misfortune, justly or unjustly, is ascribed to that prolific source of misery and distress...The people harassed and bewildered, fled to the neighbouring kingdoms, some to Chamba, some to the plains of the Jullundur Doab. Other hill chieftains incited by Sansar Chand's former oppressesions made inroads with impunity and aggravated the general disorder. For three years this state of anarchy continued. In the fertile valleys of Kangra, not a blade of cultivation was to be seen, grass grew up in the towns and tigresses whelped in the streets of Nadaun. (Kangra Settlement Report, p. 10)

—J. Hutchison & J. Ph. Vogel: History of the Punjab Hill States, p. 185.

अपने विश्वस्त अधिकारियों के हाथों सौंप आया था। यहाँ से उसने रणजीतसिंह के नाम एक पत्र लिखा। ज्वालामुखी में दोनों की भेंट हुई और एक संधि-पत्र पर हस्ताक्षर हुए जिसके अनुसार किले और आस-पास के क्षेत्र का अधिकार रणजीतसिंह के हाथों में सौंप दिया गया और उसके बदले में रणजीतसिंह ने ज्वालामुखी को साक्षी रखकर संसारचन्द से मित्रता की शपथ ली। अब इस तमाम क्षेत्र की रक्षा करना रणजीतसिंह अपना कर्तव्य समझने लगा, जिसके फलस्वरूप अगस्त, १८०९ में सिक्ख सेना ने गुरखों पर आक्रमण किया और उन्हें सतलुज के पार खदेड़ दिया। किले पर रणजीतसिंह का अधिकार होने से और संसारचन्द की शक्ति खत्म होने से समस्त पहाड़ी राज्यों पर सिक्ख साम्राज्य स्थापित हो गया।

कांगड़ा चित्रकला में कुछ चित्रों में यूरोपीय नज़र आते हैं। ये दो व्यक्ति—ओ ब्रियाँ और जेम्स थे जिन्हें १८०९ में संसारचन्द ने अपनी सेवा में रख लिया था। ओ ब्रियाँ चित्र में संसारचन्द के साथ होली खेलता हुआ दिखाया गया है और जेम्स सैनिकों को परेड करवाता हुआ नज़र आता है। ओ ब्रियाँ आयरलैंड का रहने वाला था। उसने छोटे-छोटे हथियारों का एक कारखाना लगाया और १४०० आदमियों की एक अनुशासित सेना का गठन किया। इन सैनिकों के लिए उसने ज्यॉर्जियन पोशाक बनवाई। जेम्स इंग्लैंड से था और तोपची के रूप में संसारचन्द ने उसे उपयोगी समझा। अंग्रेज़ यात्री मूरक्राफ्ट ने संसारचन्द के राज्य में इन दोनों व्यक्तियों को देखा था। वे लिखते हैं—"ये दोनों ही व्यक्ति राजा के लिए उपयोगी हैं और संभव है उनसे और भी लाभ हो लेकिन उनके साधन सीमित हैं।—रणजीतसिंह संसारचन्द से सैनिक सेवा लेता है—और कहलूर के राजा के विरुद्ध आक्रमण में प्रमुख उसी को रखा था। संसारचन्द की सेना ने ओ ब्रियाँ और जेम्स के संचालन में कहलूर के किलों को अपने अधीन कर रखा था।"[1]

संसारचन्द के संबंध में अंग्रेज यात्री मूरक्राफ्ट ने पर्याप्त दिलचस्प ब्यौरा दिया है। मूरक्राफ्ट ईस्ट इंडिया कम्पनी से सम्बन्धित था। वह टट्टुओं को खरीदने के लिए समरकन्द जा रहा था। अपनी यात्रा के दौरान वह सिरमौर, बिलासपुर, मण्डी, कुल्लू, लद्दाख और कश्मीर गया तथा नदौन और टीरा-सुजानपुर में भी ठहरा। १८२० में वह आलमपुर में संसारचन्द से मिला लेकिन यह समय ऐसा था जब संसारचन्द की शक्ति का सूर्य अस्त हो चुका था। उसने अपनी भेंट का तथा संसारचन्द के सम्बन्ध में इस प्रकार से ब्यौरा दिया है—"शाम को राजा की इच्छानुसार मैं उनसे मिलने गया। एक उद्यान में राजा अपने पुत्र और पौत्र के साथ बैठे थे। राजा संसारचन्द साठ वर्ष का एक लम्बा और हृष्ट-पुष्ट व्यक्ति है। वह काले रंग का लेकिन उसके लक्षण और आकृति सुन्दर व स्पष्ट है। उसके लड़के अनिरुद्धसिंह का चेहरा बहुत सुन्दर है और रंग गुलाबी है लेकिन शरीर विशेष रूप से स्थूल है। उसके दो लड़के हैं—एक बारह साल का और दूसरा पाँच साल का लेकिन अपने पिता से दोनों ही कम गोरे हैं। सतलुज से लेकर सिन्धु नदी तक संसारचन्द पहले सबसे अधिक शक्तिशाली राजा था। सतलुज नदी से लेकर सभी राजे उसे कर देते थे तथा उस पर आश्रित थे। वह अत्यन्त धनी था, ३५ लाख रुपये उसका राजस्व था। अब वह गरीब है और पूर्णतया रणजीतसिंह के अधीन

---

१. 'Both these men are of use to the Raja and might be of more, but their means are limited...Ranjit Singh exacts military service from Sansar Chand and put him foremost in the attack on the Kahlur Raja, whose forts were taken by the troops and artillery of Sansar Chand under O' Brien and James'. (Moorecroft)

—M. S. Randhawa, Kangra Paintings of the Bihari Satsai, p. 29.

हो जाने की आशंका बराबर बनी हुई है।[१]

इन दिनों संसारचन्द का अनुज फतेहचन्द रोगग्रस्त पड़ा था। मूरक्राफ्ट ने सफलतापूर्वक उसकी चिकित्सा कर डाली जिससे राजा मूरक्राफ्ट को फतेहचन्द का धर्म-भाई समझने लगा। इस घटना का मूरक्राफ्ट ने विस्तृत ब्यौरा दिया है जिसका एक अंश यहाँ उद्धृत किया जा रहा है—"जब फतेहचन्द काफी ठीक-ठाक हो गया तो उसने अपनी पगड़ी को मेरे हैट से बदलने पर ज़ोर दिया और मुझे अपना धर्म-भाई बनाना चाहा। उसने अपनी पगड़ी मेरे सिर पर रख दी और मेरा हैट अपने सिर पर, दोनों ने एक-दूसरे के सिर पर कुछ रुपये वारे और फिर हाथ मिलाया। उसने कुछ दूब पहनने के लिए भी मुझे दी। इस प्रकार किसी भी जाति व रंग-भेद की परवाह किए बिना मुझे संसारचन्द के परिवार के सदस्य के रूप में स्वीकार किया गया। इस सम्पर्क का कुछ भी मूल्य रहा हो लेकिन उन लोगों की सहृदयता का यह बहुत स्पष्ट प्रमाण था।"[२]

संसारचन्द की व्यवस्थित दैनिकी से उसके चरित्र का परिचय मिलता है। मूरक्राफ्ट ने आलमपुर में राजा की दैनिकी का ब्यौरा देते हुए लिखा है—"राजा संसारचन्द दिन का आरंभ अपनी पूजा-पाठ में व्यतीत करता है, दस बजे से दोपहर तक वह अपने अधिकारियों और दरबारियों के सम्पर्क में रहता है। मेरे जाने से अनेक दिन पूर्व वह छोटे से बागीचे से बाहर स्थित बंगले में अपना समय बिताता था। वही उसने मेरे आवास

---

१. "In the evening I waited upon the Raja at his desire, and found him with his son and grandson in an open building in a garden. Raja Sansar Chand is a tall, well formed man, about sixty. His complexion is dark, but his features are fiine and expressive. His son, Rai Anirudh Singh, has a very handsome face and ruddy complexion, but is remarkably corpulent. He has two sons, one of twelve and the other five years of age, both less fair than himself. Sansar Chand was formerly the most powerful Raja from the Satlej to the Indus. All the potentates from the former river to Kashmir, were his tributaries or dependants, and he was extremely wealthy, possessing a revenue of thirty-five lacs of rupees. He is now poor and in danger of being wholly subjected to Ranjit Singh." (Moorcroft)

—J. Hutchison & J. Ph. Vogel : History of the Punjab Hill States, p. 189.

२. Fateh Chand, when sufficiently restored, insisted on exchanging his turban on my hat, and making me his brother by adoption. He placed his turban on my head and my hat on his, each waved his hand, holding a handful of rupees round the other's head and the rupees were distributed amongst the servants. He also gave me some green 'dub' grass, which I was desired to wear, and thus, not withstanding the difference of caste and complexion, I became an honorary member of the family of Sansar Chand. Whatever might be the value of such an association, it was a most unequivocal testimony of the sincerity of their gratitude.…'

—J. Hutchison & J. Ph. Vogel : History of the Punjab Hill States, p. 190.

के लिए छोड़ रखा था। दोपहर को राजा दो या तीन घंटों के लिए आराम करता था। और उसके बाद वह सामान्यत: कुछ समय के लिए शतरंज खेलता था। शाम के समय नृत्य और गायन का आयोजन होता जिसमें अधिकांशत: कृष्ण-सम्बन्धी ब्रजभाषा के गीत गाए जाते थे। संसारचन्द चित्रकारी का शौकीन है और उसने अपने दरबार में बहुत से कलाकारों को रखा है। उसके पास चित्रों का बड़ा संग्रह है जिसमें अधिकतर चित्रों का विषय कृष्ण और बलराम की पराक्रम-लीला है, अर्जुन के वीरतापूर्ण कार्य हैं और महाभारत-संबंधी घटनाएँ हैं। इसमें पड़ोसी राजाओं और उनके पूर्वजों के रूपचित्र भी शामिल थे। सिकन्दर महान के दो रूप-चित्र थे जिनमें से एक राय अनिरुद्ध ने मुझे दिया था। इसमें सिकन्दर के रूप को उभारा गया था। उसके चमकते भूरे रंग के बाल कंधे पर लटकते दिखाये गए थे। वह मोती से जड़ा शिरस्त्राण पहने हुआ था लेकिन उसका शेष पहरावा ऐशियायी था। राजा यह न बतला सका कि यह चित्र कहाँ से आया था, उन्हें वह अपनी थाती के रूप में ही मिला था।"[१]

पहाड़ी चित्रकला का स्वर्णिम युग

१७८६ में संसारचन्द ने कांगड़ा किले पर अधिकार कर लिया था और यही कांगड़ा कला के स्वर्णिम युग का प्रभात माना जाएगा। २० वर्ष (१८०५ तक) के इस युग में कला ने नये आयाम स्थापित किए। कला के लिए प्रश्रय, सुव्यवस्था और शांति एक अपरिहार्य स्थिति है। राजा संसारचन्द अन्य राज्यों को बेशक आतंकित करते रहे हों पर उनके अपने राज्य में कानून और व्यवस्था का बोलबाला था। वह न्याय के कायल थे और कला-प्रेम का उन्होंने अन्यतम परिचय दिया है। जो भी पड़ोसी राज्य सिर उठाने की कोशिश करता

---

१. Raja Sansar-Chand spends the early part of the day in the ceremonies of his religion, and from ten till noon in communication with his officers and courtiers. For several days prior to my departure, he passed this period at a small bangala, which he had given up for my accomodation, on the outside of the garden. At noon the Raja retires for two or three hours, after which he ordinarily plays at chess for some time, and the evening is devoted to singing and naching in which the performers recite most commonly Brij-bhakha songs relating to Krishna. Sansar Chand is fond of drawing and has many artists in his employ; he has a large collection of pictures but the greater part represents the feats of Krishna and Balaram, the adventures of Arjuna, and subjects from the Mahabharat : it also includes portraits of many of the neighbouring Rajas, and of their predecessors. Amongst these latter were two portraits of Alexander the Great, of which Rai Anirudh gave me one. It represents him with prominent features and auburn hair flowing over his shoulders; he wears a helmet on his head begirt with a string of pearls, but the rest of his costume is Asiatic. The Raja could not tell me whence the portrait came; he had become possessed of it by inheritence.

—J. Hutchison & J. Ph. Vogel : History of the Punjab Hill States, Vol. I p. 191.

एक चित्रकार परिवार
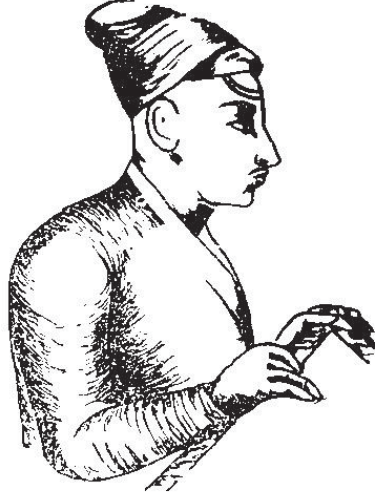
अथवा कहीं शांति को भंग करने की चेष्टा होती तो उसका दमन वह अपना कर्तव्य समझता था।

कांगड़ा कला की अनुपम उपलब्धियों के कारण संसार-भर के कला-इतिहास में संसारचन्द को एक विशिष्ट स्थान प्राप्त है। उनके काल में विशिष्टतः उपर्युक्त समय में शिल्प और कला ने चहुँदिक् उन्नति की। हर तरह के शिल्प और कला को समुचित प्रोत्साहन देना वे अपना कर्तव्य समझते थे। उनके कला-प्रेम की ख्याति से आकर्षित होकर अनेक चित्रकार, सुनार, लोहार, बढ़ई और जुलाहे तथा अन्य अनेक शिल्पकार उनके राज्य में बस गए जहाँ उन्होंने अपने व्यापार-धन्धे के लिए अत्यन्त अनुकूल वातावरण पाया। कलाकार के वंशजों का यहाँ बसना और उनके अनेक सदस्यों द्वारा चित्रकला के धन्धे को अपनाना अपने-आप में भी पर्याप्त रुचिकर बात है। ऐसे ही एक ब्राह्मण-परिवार का मुखिया पंडित सेऊ था जिसने चित्रकार के रूप में ख्याति अर्जित की। उसका पुत्र नैनसुख भी एक सुप्रसिद्ध चितेरा हुआ। और यह कम आश्चर्य की बात नहीं कि इसी परिवार में खुशाला, मानक, जौहरू, रामलाल, कामा और निक्का ने चित्रकला की एक समृद्ध परम्परा को स्थापित किया।

टीरा-सुजानपुर की दरियाँ व गलीचे बहुत मशहूर हो गए थे। संसारचन्द के राज्य में कोई भी कलाकार और शिल्पकार भाग्य के सहारे न जिया। किसी भी कला व शिल्प की उपलब्धि के लिए मान्यता मिलना एक स्वाभाविक प्रक्रिया बन गई थी। कांगड़ा कलम में ऐसे चित्र भी मिले हैं जहाँ राजा संसारचन्द अपने दरबार में कलाकारों की कृतियों को परखते हुए पाए गए हैं। उनका कला-प्रेम तो इस हद तक बढ़ गया था कि अन्य राज्य से जब कोई कलाकार आता तो वे उसे मान्यता देने में हिचकिचाते न थे और उसकी चीज़ों को बड़े शौक से खरीदते थे और बदले में उन्हें कीमत न देकर पुरस्कृत किया करते थे। इस सम्बन्ध में तो वे महाराजा रणजीतसिंह से खुल्लमखुल्ला होड़ लेने लगे थे। जो कलाकार रणजीतसिंह के राज्य से निराश लौटते उन पर संसारचन्द अपने कला-प्रेम की बौछारें करते और उनकी कृतियों की कीमत मुँहमागे दाम पर दी जाती।

इन्हीं दिनों गुलेर में प्रकाशचन्द राज्य करता था। यद्यपि गुलेर में कला की परम्परा कांगड़ा से प्राचीनतर मानी जाती है लेकिन संसारचन्द की शक्ति और कला-प्रेम की अत्यधिक चर्चा होने के कारण गुलेर से अनेक चितेरे टीरा-सुजानपुर में आकर बस गए थे।

राजा संसारचन्द के काल में नदौन को विशिष्ट मान्यता मिली। वहाँ हँसी-खुशी का मौसम बना रहता। वहाँ दो-सौ नर्तकियाँ थीं। प्रकृति के रोम-रोम में संगीत की लहरियाँ और नृत्य की थिरकनें बस गई थीं। जो भी आता, जाने का नाम न लेता। ऐसे शृंगारमय वातावरण ने संसारचन्द को कभी भी विलासपूर्ण न बनाया, यह एक बहुत बड़ी बात है अन्यथा ऐसी आशंका कोई अस्वाभाविक नहीं। राजा संसारचन्द के इस समय के बारे में गुलाम मोहीउद्दीन ने 'तारीख-ए-पंजाब' में लिखा है—"बहुत वर्षों तक उसने अपने दिन बड़े आनन्द से काटे। वह अपने व्यवहार में उदार था, अपनी प्रजा के लिए नौशेरवाँ की तरह दयालु था और मनुष्यों के सद्‌गुणों को मान्यता देने में दूसरा अकबर था। कुशलता और दक्षता प्राप्त लोग, पेशेवर सिपाही तथा अन्य लोग झुण्डों में कांगड़ा के लिए आते थे और राजा से उपहार तथा पुरस्कार पाकर खुश होते थे। जो लोग कुछ कार्य-कौशल दिखाकर दूसरों की खुशी और तृप्ति के लिए जीते हैं, चारों ओर से वहाँ पहुँचते और उनकी उदारता से अत्यन्त लाभान्वित होते। खेल और तमाशा दिखाने वाले और कथा-कहानी सुनाने वाले इस संख्या में वहाँ पहुँचते और ऐसे इनाम पाते कि वे गुण-पारखी के नाते अपने युग के हातिम और उदारता के लिए रुस्तम

समझे जाने लगे थे।"[१]

संसारचन्द को भवन-निर्माण में गहरी रुचि थी। उन्होंने आलमपुर में एक महल बनवाया और उसके साथ एक बाग लगवाया। कहते हैं कि इसकी तुलना लाहौर के शालीमार से की जा सकती थी। आरम्भ में वह नदौन के नज़दीक अमतार महल में ही रहते रहे। यह उनके पूर्वजों का महल था। उन्होंने टीरा-सुजानपुर को अपनी राजधानी बनाया और शान-शौकत में हर तरह से वृद्धि की। टीरा में जो उनका महल था उसके साथ ही आतिथ्यालय बना हुआ था जिसके २२ दरवाज़े थे। ये दरवाज़े २२ पहाड़ी राजाओं के लिए बने थे जिनमें से होकर वे संसारचन्द को अपना आदर-सत्कार देने पहुँचते थे।

कृष्ण के वे अनन्य भक्त थे। यह उनकी कृष्णभक्ति के अनुरूप ही था कि कांगड़ा-कलम में कृष्ण-लीला को लेकर अनेक चित्रों की सर्जना हुई। १७९१ में उन्होंने कृष्ण-मंदिर बनवाया और १७९४ में टीरा में संसारचन्देश्वर नामक मंदिर बनवाया जिसमें गौरी-शंकर की प्रतिमा स्थापित की। १८२४ में उनकी सुकेत की रानी ने नर्बदेश्वर मंदिर बनवाया जिसकी दीवारों पर अत्यन्त कलात्मक भित्तिचित्र बने हैं।

संसारचन्द वैष्णव-भक्ति में विश्वास रखते थे। उनकी आस्था अनेक रूपों में प्रतिफलित हुई—मंदिर बने, भित्तिचित्र बने और-लघु-चित्र बने। चित्रकला ने तो उनकी आस्था को जिस रूप में अभिव्यक्ति दी है वह संसार-भर की कला-थाती बन चुकी है और अनेक संग्रहालयों में सुरक्षित है। संसारचन्द सच्चे साधु-सन्त और धार्मिक प्रवृत्ति वाले मनुष्यों का सहृदय से आदर करते थे। वे ज्योतिष में भी विश्वास रखते थे। उनके यहाँ फाज़िल शाह नामक एक मुसलमान सन्त था जिससे वे किसी भी लड़ाई से पहले मुहूर्त्त इत्यादि के बारे में पूछ लिया करते थे। इस व्यक्ति में राजा की गहरी आस्था थी। जब इसकी मृत्यु हुई तो उसकी यादगार में नदौन में एक दरगाह बनवाई गई। ऐसे ही अनेक साधु-सन्त उनके विश्वासपात्र बने हुए थे जिनमें भिक्खे शाह, गुसाईं सरूपगीर और मनीराम विशेष रूप से गण्य रहे।

संसारचन्द जब रणजीतसिंह के आगे बाज़ी हार बैठे थे तब वे सुजानपुर, विशेषकर आलमपुर, में रहने लगे थे। ब्यास के दायें किनारे पर उद्यान के बीच कुछ छोटे-छोटे भवन थे जिनमें वे स्वयं रहते थे। संसारचन्द पहले ब्यास के बायीं ओर स्थित टीरा के महलों में रहते थे। उनके पूर्वज भी यहीं रहते आए थे। ये महल अति सुन्दर, विशाल और कलात्मक थे। इन महलों को राजा ने क्यों त्यागा इसके पीछे भी रणजीतसिंह का ही खौफ था। राजा के इन महलों की प्रशंसा दूर-दूर फैली हुई थी। कहीं भी पहाड़ी प्रदेश में ऐसे महल न थे। और अपनी कलात्मकता और सौन्दर्य के लिए तो शायद ही वे देश-भर में अपना कोई सानी रखते थे। रणजीतसिंह ने भी इनकी ख्याति सुन रखी थी। उन्होंने संसारचन्द से इच्छा व्यक्त

---

१. 'For many years he passed his days in great felicity. He was generous in conduct, kind to his subjects, just as Naushirvan, and a second Akbar in the recognition of men's good qualities. Crowds of people of skill and talent, professional soldiers and others resorted to Kangra, and gained happiness from his gifts and favours. Those addicted to pleasure, who live for the gratification of others, flocked from all quarters and profited exceedingly by his liberality. Performers and story-tellers collected in such numbers, and received such gifts and favours at his hands that he was regarded as a Hatim of that age, and in generosity the Rustam of that time.'

—J. Hutchison & J. Ph. Vogel : History of the Punjab Hill States, Vol. I, p. 181.

की कि वे उनके महल देखना चाहेंगे । संसारचन्द ने कहा—"यह तो मेरा सौभाग्य ही होता लेकिन मैं अब टीरा और महलों को छोड़ चुका हूं और अब उनकी ऐसी हालत नहीं कि वे आप-जैसे व्यक्ति के देखने योग्य रहे हों। महाराज अपने किसी व्यक्ति को भेजकर अपना संतोष कर सकते हैं।" रणजीतसिंह ने अपना व्यक्ति महलों को देखने के लिए भेज दिया। संसारचन्द ने तो महाराजा को टालना चाहा था लेकिन अब एक मुसीबत आती हुई दिखाई पड़ी। उन्होंने भी अपना कोई विश्वासपात्र फौरन दौड़ा दिया। यह आदमी रात-दिन भागकर रणजीतसिंह के आदमी से पहले पहुँचा और संसारचन्द की इच्छानुसार महलों की दुरावस्था कर दी गई। रणजीतसिंह द्वारा नियुक्त आदमी जब वहाँ पहुँचा तो वह महलों को देखकर निराश ही हुआ और वापिस जाकर उसने महाराजा को बता दिया कि स्थान अब उनके देखने योग्य नहीं रहा है। इस प्रकार पहाड़ी कलाकृतियों की तरह जो भवन आज भी अपने सौन्दर्य और कलात्मकता के लिए नज़र आ सकते थे वे असमय ही नष्ट हो गए और यह ऐसे व्यक्ति के हाथों हुआ जो उनका निर्माता ही नहीं एक महान् कलाप्रेमी व कलापारखी भी था।

संसारचन्द एक रूमानी व्यक्ति थे। पौरुषत्व की उनमें कमी न थी। जीवन को एक लम्बे अर्से तक वे साहस और संघर्ष, प्रेम और रूमानियत, गौरव और श्रद्धा से जीते रहे जिसमें कृष्ण उनके आदर्श थे। उन्होंने स्वयं अपना निर्माण किया था और वे जीवन को एक अनुराग से जीना जानते थे। उन्होने तीन विवाह किए। ये रिश्ते सुकेत, सिरमौर और बड़ा बंगाहल की राजकुमारियों के साथ हुए थे। लेकिन किन्हीं राज-रिश्तों से ऊपर उठकर भी उनकी रूमानियत ने परिचय दिया है। उन्होंने नोखू नामक एक गद्दिन से भी विवाह किया था जिसका विवाहोपरान्त नाम बदलकर गुलाबदासी रख दिया गया था। यूँ यह गद्दिन विवाहिता थी। इसके सौन्दर्य को देखकर राजा मोहित हो उठा था। यह औरत पर्याप्त समय तक अपने गद्दी को याद करती रही लेकिन कालान्तर उसे भूल बैठी। राजा ने उसके पति धन्ना को और उसके भाई तोता को धन देकर राजी कर लिया था। इतिहास के एक उल्लेख से पता चलता है कि कृष्ण की राधा भी पूर्व-विवाहिता थी। हो सकता है कि कृष्ण के इस अनन्य भक्त और प्रशंसक ने नोखू से विवाह करने के अपने संकल्प के लिए अपने आराध्य में ही प्रेरणा ढूँढी हो। प्रेम उस स्तर पर पहुँचकर ही अन्धा होता है जब वह किसी नैतिकता को नकारने में हिचकिचाता नहीं। नोखू और राजा संसारचन्द की यह प्रेम-कथा लोकगीतों में आज भी प्रचलित है।

जब संसारचन्द अधेड़ अवस्था में पहुंचे तो उनकी सत्ता का सूर्य अस्ताचल की ओर प्रस्थान कर चुका था। रणजीतसिंह ने उन्हें सिर उठाने नहीं दिया। उनके सपने टूट गए थे। पहाड़ी राजाओं को विजित कर जो कुछ उन्होंने कमाया था वह भी उनके हाथ से निकल गया था। अपनी इस अवस्था में उन्होंने जमालो नामक एक नर्तकी-युवती का सान्निध्य ढूंढा। वे अपना अधिकांश समय उसी के साथ व्यतीत करते थे। एक कलाकार जब किसी टूटे हुए में कुछ देखता है तो वह निश्चित रूप से ऐसा कुछ होता है जो साधारणतः लोग समझ नहीं पाते। जाने परस्पर प्रेम के वे कौन से धागे होंगे जिनके बन्धन राजा और इस कलाकार युवती ने स्वीकृत किए हों। यह युवती अपने नृत्य और गान से राजा का मनोरंजन करती रही। ब्यास के दायीं ओर एक छोटी-सी पहाड़ी पर नदौन का अमतर महल था जिसकी स्थिति की भव्यता और मनोहारिता आज भी समझी जा सकती है। वही ब्यास थी, वही कलरव था लेकिन राजा को लगता था कि सब कुछ बदल गया है। वह स्वयं भी स्वयं नहीं लेकिन जमालो का अस्तित्व राजा के लिए एक बहुत बड़ा सम्बल था। एक अर्से तक ब्यास की स्वर-लहरी पर जमालो गाती रही, उसकी पायल झंकारती रही और राजा एकान्त से अपना रिश्ता गहराता रहा। वह स्थान और जमालो के घर के खण्डरात आज भी उस गाथा को गाते हैं—एक

मूक स्वर में। राजा का आदेश था कि कोई उनसे मिलने भीतर न आए। जो अभिवादन देना आवश्यक समझते हों वे कांभल के पेड़ को अभिवादन देकर लौट जाएँ। १९०५ में जब भूचाल आया तो अनेक घर-बार के साथ इन महलों का अस्तित्व भी मिट गया, केवल कुछ अवशेष उस ज़माने की स्मृति को उकेरते हुए-से आज भी देखे जा सकते हैं।

दिसम्बर, १८२३ में संसारचन्द की मृत्यु हो गई। उनका लड़का राय अनिरुद्धचन्द गद्दी पर बैठा लेकिन वह शासक नाम मात्र का ही रह गया था। वास्तविक शासन रणजीतसिंह का था। लाहौर में रणजीतसिंह के दरबार में सौगात के साथ विभिन्न राजाओं को हाज़िर होना पड़ता था। १८२७ में अनिरुद्धचन्द रणजीत सिंह के दरबार में उपस्थित होने के लिए लाहौर गया। उसके साथ उसकी दो बहनें भी थीं। जम्मू का राजा ध्यानसिंह रणजीतसिंह का मुख्य सलाहकार था। उसका पुत्र हीरासिंह एक सुन्दर युवक था और दरबार में बहुत लोकप्रिय था। ध्यानसिंह ने चाहा कि अनिरुद्ध अपनी एक बहन का विवाह हीरासिंह से कर दे। अनिरुद्ध को यह न रुचा लेकिन रणजीतसिंह ने हस्तक्षेप किया। रणजीतसिंह ने अनिरुद्ध से यह लिखकर ले लिया कि उसकी एक बहन का रिश्ता उसकी (रणजीतसिंह की) मर्ज़ी पर छोड़ दिया जाए। अनिरुद्धचन्द उसके सामने तो कुछ न बोल सका, लेकिन अनिरुद्ध की माँ दोनों लड़कियों को लेकर हरिद्वार पहुँची जहाँ उसने ब्रिटिश सत्ता की शरण ले ली। अनिरुद्धचन्द भी माँ के पीछे-पीछे चला गया। संसारचन्द के भाई फतेहचन्द ने रणजीतसिंह का विरोध करने की हिम्मत की ही नहीं, उसने सीधे-सादे ढंग से राजा का लोहा मान लिया और अपनी वफादारी ज़ाहिर की। इस पर रणजीतसिंह ने उसे लम्बाग्राँव का राजा बना दिया। नोखू गद्दिन ने अभी तक भी अपना सौन्दर्य नहीं खोया था। यों संसारचन्द से उसके अनेक बच्चे हो चुके थे। नोखू गद्दिन रणजीतसिंह के हाथ लगी। उसकी दो लड़कियों महताबदेवी और राजवंसों से रणजीतसिंह ने स्वयं शादी की और एक अन्य लड़की का लैहणासिंह सन्धनवालिया से विवाह कराया। और जोधबीर नामक लड़के को नदौन का राजा बना डाला।

हरिद्वार में अनिरुद्धचन्द रहने लगा था। वहीं उसकी दो बहनों की शादी टिहरी-गढ़वाल के राजा सुदर्शनशाह से हुई। ऐसा समझा जाता है कि अनिरुद्धचन्द अपने साथ कुछेक सुन्दर चित्र हरिद्वार ले आए थे और अपनी बहनों के विवाह पर वे चित्र दहेज में दिए। कुछ कांगड़ा के चित्रकार भी वहाँ पहुँचे थे। और इस प्रकार वहाँ चित्रकला का प्रचार व प्रसार गतिशील हो उठा।

यों तो राजा संसारचन्द के साथ ही पहाड़ी कला की कहानी खत्म नहीं होती लेकिन जब चित्रकला का वह महान पोषक व प्रेरणा-पुंज न रहा तो उसके लिए ह्रासावस्था अनिवार्य थी। कुछ चितेरे अन्य पहाड़ी राज्यों में भाग गए थे और कुछ ने राजा रणजीतसिंह के सिक्ख दरबार में शरण ले ली थी। कला के लिए महज़ प्रश्रय की ही ज़रूरत नहीं होती, प्रश्रय के साथ कलात्मक अनुराग के बिना कोई बड़ी उपलब्धि संभव नहीं। सिक्ख राज्य में कलाकारों को प्रश्रय मिला और उन्होंने जीवित रहने के लिए बदली परिस्थितियों व वातावरण के अनुकूल अपनी कला को ढाला जिसमें किसी सत्प्रेरणा के अभाव में नई ऊँचाइयाँ पकड़ने का उत्साह न था।

द्वितीय भाग

१

बसोहली कलम

यह तो स्पष्ट ही है कि पहाड़ी कलम अब केवल ऐतिहासिक खोज का विषय रह गया है। पहाड़ी कलम का उद्भव कोई आकस्मिक घटना नहीं थी लेकिन इसकी इति अथवा विलोप किसी हद तक चमत्कारिक रूप से हुआ। आज यद्यपि कलाकारों को अधिक स्वतन्त्रता प्राप्त है, फिर भी भारतीय परम्परा के अनुरूप और युग-चेतना से उद्बोधित ऐसी कला के दर्शन नहीं होते जिसका एक समसामयिक रूप हो। ऐसी स्थिति व गति कला के विकास में किसी अवरोध की परिचायक नहीं क्योंकि कला अपने चरम विकास में व्यक्ति उन्मुख ही है। पहाड़ी कला का विलोप इस तथ्य के प्रकाश में अच्छी तरह समझा जा सकेगा कि जब पहाड़ी क्षेत्र की परिस्थितियाँ बदलीं तो किसी राज्य-प्रश्रय का अभाव भी प्रत्यक्ष था। राज्य-प्रश्रय पर निर्भर इस कला ने अपने आप में सिमटकर ऐतिहासिक महत्त्व ग्रहण किया और भविष्य में एक सांस्कृतिक थाती के रूप में सुरक्षित होकर नज़र आने लगी।

पहाड़ी कला अपने विकास में तीन मुख्य दिशाओं में उन्मुख हुई जिन्हें बसोहली, कांगड़ा और गढ़वाल कलम के नाम से पहचाना गया। अजित घोष के विचार में बसोहली कलम सबसे पुरानी है। सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी के दौरान बसोहली कलम में अनेक और विशिष्ट चित्र तैयार हुए।

बसोहली रावी के किनारे ७४ गाँवों का एक छोटा-सा राज्य था जो आज जम्मू में ज़िला जसरोटा की बसोहली तहसील के रूप में विद्यमान है। वहाँ की प्राकृतिक छटा मनोहारी है और घाटी उपजाऊ है। जे० सी० फ्रेंच अप्रैल, १९३० में बसोहली कलाकारों के चित्रों की खोज में वहाँ पहुँचे। उन्होंने लिखा है—

"पथरीली चट्टानों की खड़ी दीवारों से परिवेष्टित, चौड़ी, तीव्र और गतिशील सरिता के तट पर बसी हुई, पहाड़ी राजप्रासादों में श्रेष्ठतम तथा सुन्दर मुकुट से शोभित, हिमालय के हिम से आवेष्ठित बसोहली अपनी सुन्दर स्थिति के कारण पहाड़ के सात आश्चर्यों में एक होने का दावा बड़े औचित्य के साथ कर सकती है। पर्वत, शिलाएँ और सरिता से सम्पन्न वह स्थान जहाँ बसोहली स्थित है, सौन्दर्य से परिपूर्ण है।"[१]

रावी के दाएँ तट पर बसी हुई राज्य की प्रमुख नगरी बसोहली के सम्बन्ध में व्हीन नामक फ्रांसीसी यात्री ने जो १८३५ में वहाँ पहुँचा, लिखा :

"जम्मू की ओर उठते हुए रास्ते से कुछ मील की दूरी पर से जब नज़र दौड़ाएँ तो यह (बसोहली) हल्की-हल्की पहाड़ियों के झुण्डों में से शान से ऊपर उठती हुई दिखाई देती है जिसे मैं हीडलबर्ग से घटिया नहीं समझ पाया, और अपने सामान्य प्रभाव में इसके इर्द-गिर्द स्थित पर्वतों के ऊपर से झाँकती हुई बर्फ़ीली चोटियों की पंक्तियाँ इस स्थान की स्थिति को अपेक्षाकृत अधिक बढ़िया बनाने में पर्याप्त हैं।"[२]

बसोहली के इतिहासज्ञ और तवारीख-ए-राजपूताना के लेखक ठाकुर काहनसिंह बलोरिया का कहना है कि राजमहल भित्तिचित्रों से सुसज्जित थे जिनमें नायिका तथा अन्य शृंगारिक विषयवस्तु को लेकर चित्र अंकित हुए थे।[३] दुःख है कि देख-रेख के अभाव में अब इन भित्तिचित्रों के अवशेष भी नज़र नहीं आते।

७३५ में कुल्लू के राजकुमार भोगपाल ने राणा बिल्लो को हराया और बलोर राज्य स्थापित किया। इस राज्य की राजधानी बलोर कहलाई जो भीनी नदी के ऊपर एक समतल भूमि पर स्थित थी। यही कारण है कि बसोहली के शासक बलोरिया कहलाए। जीर्ण-शीर्ण अवस्था में बलोर नगर आज भी विद्यमान है। कुछ

---

१. The position of Basohli on a steep hill, girt with rocky precipices overlooking a broad and swiftly flowing river, crowned by one of the loveliest palaces in the hills, and the whole scene framed in the Himalayan snows, justified its claim to be one of the Seven Wonders of the Hills, Mountains, rocks and river remain and the palace in which Basohli stands must always be a thing of beauty.

—J. C. French, Himalayan Art, p. 43.

२. When viewed at a distance of a few miles from the path upwards Jammu, it rises from the dark masses of the lower ranges with a grandeur that I thought not inferior to that of Heidelberg, whilst with reference to general effect, the lines of snowy peaks which are seen peering over the mountains immediately round it, are sufficient to render its relative position immensely superior.

—J. C. French, Himalayan Art, p. 43.

३. Basohli Paintings in the Sri Chitralayam Trivandrum by K. P. Padamanabhan Tampy, B. A.

—The Modern Review, Oct. 1960, p. 312.

अर्से बाद यही शासक बलोर से राजधानी हटाकर बसोहली में ले गया।

सोलहवीं और सत्रहवीं सदी में यह स्थान व्यापार का एक महत्त्वपूर्ण केन्द्र रहा। दूर-दराज जगहों से भी व्यापारी और कारीगर अपने व्यवसाय के लिए उज्ज्वल भविष्य देखकर यहां बसते रहे। जब यहाँ बलोरिया राजवंश सत्तारूढ़ रहा तब कश्मीरी जुलाहों के एक-सौ परिवार यहाँ आकर बसे। इनका काम पश्मीनी वस्त्र बनाना था।

सोलहवीं शती में कृष्णपाल बसोहली का ऐसा शासक रहा जिसके मुगल शासकों से भी संपर्क बने। यह राजा १५९० में सम्राट अकबर को अनेक भेंटें ले गया था। इसके सम्बन्ध में एक घटना बतलाई जाती है। नूरपुर के निकट एक जंगल में जहाँगीर के सम्मान में शिकार का आयोजन किया गया। राजा ने अपनी बर्छी की एक ही चोट से एक चीते को मौत के घाट उतार दिया। जहाँगीर उसकी बहादुरी की सराहना किए बिना न रह सके। कृष्णपाल का पौत्र भूपतपाल (१५९८-१६३५) महत्त्वाकांक्षी शासक था। उसका शरीर भीमकाय था। उसके सम्बन्ध में प्रचलित है कि उसकी दैनिक खुराक में सोलह सेर चावल और एक बकरा सम्मिलित था। उसके ही समय में नूरपुर में जगतसिंह शासक था। दोनों ही राजे पहाड़ी क्षेत्र में अपनी सत्ता की धाक जमाना चाहते थे जिससे दोनों में प्रतिद्वन्द्विता बढ़ी। जगतसिंह ने सम्राट जहाँगीर का समर्थन प्राप्त कर भूपतपाल को चौदह साल के लिए जेल में भिजवा दिया। प्रजा में अपने शासक के प्रति स्वाभाविक श्रद्धा व अनुराग होने से लोगों ने उसे जेल से (१६२७ में) भाग निकलवाया और पुनः उसने अपने राज्य की बागडोर संभाल ली। घटना यों बतलाई जाती है: जब वह जंगल में घूम रहा था तो उसे एक मोची ने पहचान लिया। यह मोची राजा के लिए जूते तैयार किया करता था। मोची ने राजा के सगे-सम्बन्धियों व मित्रों को खबर कर दी। इन लोगों ने फतेहजंग के नेतृत्व में इकट्ठे होकर नूरपुर की सेना पर धावा कर दिया और १६२७ में अपने राज्य पर पुनः अधिकार करने में सफल हो गए। १६३० में भूपतपाल ने भादू, भद्रवाह और किश्तवाड़ को विजय किया और १६३५ में वर्तमान शहर की नींव डाली।

जगतसिंह ने भी अपने हाथ बहुत लम्बे कर लिए थे। १६३५ में भूपतपाल शाहजहाँ को सम्मान देने के लिए दिल्ली पहुँचा। इसी अवसर का एक चित्र डोगरा आर्ट गैलरी, जम्मू में है जिसमें भूपतपाल सम्राट को सम्मान दे रहा है। दिल्ली में ही नूरपुर के राजा जगतसिंह ने भूपतपाल की हत्या का सफलतापूर्वक षड्यंत्र रचा। इस समय भूपतपाल की आयु ६२ वर्ष थी। भूपतपाल का बसोहली शैली में एक चित्र उपलब्ध है। अपने पिता की मृत्यु के बाद राजगद्दी पर संग्रामपाल आसीन हुआ जो उस समय केवल सात वर्ष का था। जब वह बारह वर्ष का हुआ तो शाहजहाँ ने उसे दिल्ली-दरबार में बुलाया जहाँ उसकी खूब आवभगत हुई। इतनी आसानी से संग्रामपाल को मान्यता देने का एक विशिष्ट कारण था, राजकुमार बहुत ही खूबसूरत था। उसके सौंदर्य की ख्याति दूर-दूर तक फैली हुई थी। स्वयं सौंदर्योपासक होने के नाते सम्राट शाहजहाँ संभवतः राजकुमार के प्रति कठोर न हो सके। उसके राज्य को हथियाने के बजाय उन्होंने उसे संरक्षण देना ही उचित समझा। शाहजहाँ के पुत्र दाराशिकोह से उसकी विशेष मित्रता रही। बादशाह उसके सौंदर्य की सराहना किए बिना न रह सके। मलका और शहजादियाँ इस अवसर को कैसे खोना पसन्द करतीं! उन्होंने राजकुमार को देखने की ज़िद की तो बादशाह परेशान हुए, वे चाहने पर भी न टाल सके। अन्तःपुर में राजकुमार को ले जाया गया लेकिन बादशाह के हुक्म के मुताबिक उसकी आंखों पर पट्टी बँधी हुई थी। बेगम भी पीछे हटने वाली न थी। उनके आग्रह पर बादशाह को झुकना पड़ा। आँखों से पट्टी हटी तो वह चकित रह गई। सौंदर्य का पान किया। ऐसी प्यास तो वांछनीय पेय मिलने से भड़क उठती है, वही हुआ होगा। राजकुमार

को बहुमूल्य वस्तुएं उपहार में मिलीं। बसोहली की स्वतंत्रता बहुत हद तक सुरक्षित मानी गई और शासक को यह अधिकार भी मिला कि वह मुगल बादशाह की अनुमति के बिना ही अपना उत्तराधिकारी चुन सकेगा। अब बसोहली राज्य का मुगल दरबार से सम्पर्क गहरा हो गया और मुगल दरबार के अनेक चितेरे बसोहली में चले आए।

संग्रामपाल की मृत्यु पर उसका अनुज हिन्दलपाल राजगद्दी पर बैठा। पटियाला-स्थित म्यूज़ियम में हिन्दलपाल का एक चित्र उपलब्ध है। उसकी मृत्यु पर उसके पुत्र कृपालपाल ने सत्ता की बागडोर सँभाली। ४३ वर्ष की आयु में (१६६३ में) उसका देहान्त हो गया। जिस प्रकार महाराजा संसारचन्द काँगड़ा कलम के पोषक के रूप में विख्यात हुए उसी प्रकार राजा कृपालपाल (१६७८–६३) बसोहली कलम का संरक्षक व प्रवर्त्तक माना गया। उसी के पोषण में बसोहली कलम विकसित होकर एक विशिष्ट शिल्प के रूप में प्रतिष्ठित हुई। अब तो अनेक मुगल चितेरों ने भी उसी के यहाँ आश्रय लिया। कुछ लोगों का अनुमान है कि मुगल कला के प्रभाव में ही बसोहली कलम में बेलबूटों संबंधी अलंकारिता ने प्रवेश किया। एक अन्य अनुमान के अनुसार बसोहली कलम में सुनहरे रंग का उपयोग मुगल कला के प्रभाव के अन्तर्गत ही हुआ।

कृपालपाल के दो पुत्र थे। कृपालपाल की मृत्यु पर १६६३ में उसका ज्येष्ठ पुत्र धीरजपाल २३ वर्ष की आयु में राजगद्दी पर बैठा। धीरजपाल भी विद्वान और कलाप्रेमी शासक था। चम्बा और बसोहली राज्यों में अमैत्रीपूर्ण संबंध थे। १७२५ में दोनों राज्यों में लड़ाई छिड़ गई। धीरजपाल इस लड़ाई में मारा गया और चम्बा के राजा उग्रसेन विजित हुए जिसके परिणामस्वरूप भलाई का परगना उसके हाथ लगा।

धीरजपाल के पुत्र मेदिनीपाल (१७२५-३६) के प्रश्रय में भी बसोहली कलम फलती-फूलती रही। मेदिनीपाल अपने पिता की मौत का बदला लेना चाहता था। १७३५ में उसने चम्बा पर धावा बोल दिया। उग्रसेन इसमें हार गया। परगना भलाई पुनः बसोहली राज्य के अधिकार में आ गया।

मेदिनीपाल के बाद जीतपाल शासक बना जिसने १७३६ से १७५७ तक राज्य किया। उसने भादु राज्य को बसोहली राज्य में सम्मिलित कर लिया था। राजा जीतपाल के शासनकाल के अंतिम चरण में बसोहली कलम पर काँगड़ा कलम का प्रभाव पड़ा। पंजाब म्यूज़ियम, पटियाला में जीतपाल का एक चित्र है जिसे हम काँगड़ा कलम के अन्तर्गत देख सकते हैं।

अमृतपाल आठ साल की आयु (१७५७) में राजा बना था। उसके काल में बसोहली की चहुँदिक प्रगति हुई थी। राज्य को आर्थिक रूप से सुदृढ़ बनाने के लिए माल के आयात पर चुंगी की व्यवस्था रखी गई। राजा अमृतपाल ने भी कलाकारों को आश्रय दिया। उन्हें कला से प्रेम रहा और कोई बन्धन या आग्रह न होने पर कला अपने स्वभावगत विषयों की ओर मुड़ी जिनमें नायिका का चित्रण मुख्य है। यहां बसोहली कलम अपने उत्तरोत्तर विकास में काँगड़ा कलम से प्रभावित होती गई है। डोगरा आर्ट गैलरी, जम्मू में पाधा कुंजलाल (बसोहली के शाही हकीम के वंश से) के संकलन से प्राप्त हुए चित्रों पर काँगड़ा कलम का प्रभाव सहज ही देखा जा सकता है। अमृतलाल और उसकी रानी का एक चित्र काँगड़ा शैली में मिलता है। गुलेर के राजा प्रकाशचन्द (१७६०-६०) का एक चित्र भी काँगड़ा कलम में उपलब्ध है। संभवतः बसोहली और गुलेर के कलाकार एक राज्य से दूसरे राज्य में जाते रहे। गोट्ज़ का भी यह मत है कि अमृतपाल के राज्यकाल में मौलिक बसोहली कलम बिखर गई थी। अमृतपाल अपनी कला-रुचि के लिए विख्यात था। उसी की पसन्द से बसोहली शैली अपने अंतिम दिनों में मुगल कलम की ओर झुकी हुई दिखाई देने लगी थी।

१७७६ में विजयपाल तेरह वर्ष की आयु में बसोहली के सिंहासन पर बैठा। १७८२ में चम्बा के राजा राजसिंह ने सिक्ख सेना की मदद से बसोहली पर हमला किया। कला की परम्परा राजा महेन्द्रपाल (१८०६-१३) के हाथों भी मजबूत हुई। उसने एक रंगमहल और शीशमहल का निर्माण करवाया जो वास्तुकला की दृष्टि से अत्यन्त संपन्न माने गए। महल अत्यन्त कलापूर्ण चित्रों से सुसज्जित था जिसका सोलहवीं-सत्रहवीं शती के विदेशी यात्रियों ने वर्णन किया है लेकिन आज इन चित्रों में कोई भी उपलब्ध नहीं।

१८०८ तक सभी पहाड़ी रियासतें महाराजा रणजीतसिंह के नियंत्रण में आ गई थीं। पहाड़ी राजाओं को लाहौर में रणजीतसिंह के दरबार में हाज़िर होना पड़ता था। १८१३ में महेन्द्रपाल की अमृतसर में मृत्यु हो गई।

१८१३ में भूपेन्द्रपाल राजा बना। वह भी महाराजा रणजीतसिंह के दरबार में शामिल हुआ करता था। २१ वर्ष की आयु में अमृतसर में उसका देहान्त हो गया।

बसोहली का अंतिम राजा कल्याणपाल (१८३४-४६) था। वहाँ के शासन की अव्यवस्था को देखकर महाराजा रणजीतसिंह ने जम्मू के राजा हीरासिंह को बसोहली राज्य जागीर के रूप में प्रदान किया। कल्याणपाल के ही राज्य में बसोहली के ब्राह्मण परिवारों के पास अनेक चित्र संकलित हुए थे। १८४६ में जम्मू के महाराजा गुलाबसिंह जम्मू व कश्मीर के मुखिया नियुक्त हुए जिन्होंने कल्याणपाल के लिए पेंशन निश्चित की। १८५० में कल्याणपाल ने सिरमौर की राजकुमारी से विवाह किया। उसने मनकोट के निष्कासित शासक छत्तरसिंह की पुत्री से भी विवाह किया। दोनों ही से उसे कोई संतान न हुई और १८५७ में वह मर गया। इस प्रकार बसोहली वंश की समाप्ति हो गई और उसके साथ ही बसोहली कलम की भी।

बसोहली में पालवंशीय राजाओं के संरक्षण में पहाड़ी कलम पनपी थी। बसोहली का चार सौ वर्ष पुराना पाँच-मंज़िला राजमहल शिल्पकला की दृष्टि से निखरा हुआ था, उसमें सुन्दर नक्काशी हुई थी और जैसा कि पहले कहा जा चुका है पश्चिमी हिमालय के क्षेत्र में यह पहाड़ों का सर्वोच्च आश्चर्य के नाम से सुविख्यात था। राजा महेन्द्रपाल ने महल की दीवारों पर बसोहली कलम के चित्र बनवाए थे।

बसोहली कलम के पोषकों में राजा मेदिनीपाल और अमृतपाल गण्य हैं। बसोहली में ही रानी मालिनी के संरक्षण में 'गीत-गोविन्द' विषयक अनेक चित्र अंकित हुए जो कला की दृष्टि से उच्चकोटि के हैं। रानी मालिनी के चित्रकला के प्रति अनुराग ने उन्हें एक निपुण कलापारखी बना रखा था। वह भगवान विष्णु की उपासक थीं और उन्हीं की प्रेरणा से मानकू तथा अन्य कलाकारों ने 'गीत-गोविन्द' के अनेक विषयों को चित्रित किया।

केवल अपने अंतिम चरण के कुछ इने-गिने चित्रों के अतिरिक्त बसोहली कलम पर मुगल प्रभाव नज़र नहीं आता लेकिन भारतीय कला के आदिस्रोत अजंता की छाप का आभास जरुर होता है। अजित घोष के शब्दों में, "बसोहली कलम के श्रेष्टतम काल—सम्भवतः सत्रहवीं शताब्दी में सुन्दरतम चित्रों में कतिपय चित्र बंगाल के अमर कवि जयदेव लिखित 'गीत-गोविन्द' के दृष्टांत रूप में उभरे हैं। ये चित्र अपनी सुन्दर रेखाकृतियों, बढ़िया रंगों और प्रकाश के लिए समान रूप से अद्भुत हैं।"[१]

---

१. "Some of the finest Basohli paintings of the best period—probably seventeenth century—illustrate the immortal Bengal poet Jayadeva's Geeta Govind. These paintings are marvellous alike for their fine draughtsmanship and their wonderful colouring and lighting."

बसोहली और कांगड़ा कलम में एक प्रमुख भेद यह भी नज़र आता है कि बसोहली कलम में भित्ति-चित्रों के गुण सन्निहित हैं और कांगड़ा कलम में लघु चित्रों के। बसोहली शैली कांगड़ा शैली से इस बात में भी भिन्न है कि आरंभ में उस पर मुगल कलम का प्रभाव साफ नज़र नहीं आता। कांगड़ा और गढ़वाली कलमों के चित्र जिस संख्या में उपलब्ध हैं, उस संख्या में बसोहली शैली के नहीं। बसोहली एक छोटा-सा राज्य था और यहाँ चित्रों की सर्जना थोड़ी ही संख्या में हुई।

बसोहली शैली का समय सत्रहवीं शताब्दी से लेकर उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभ तक रहा। अठारहवीं सदी में बसोहली शैली अपनी सर्वोत्कृष्ट अवस्था में पहुँची। इन चित्रों का विषय समूची पहाड़ी कलम के अनुरूप ही रहा जिनमें राजाओं के चित्र, पौराणिक कथाएँ तथा सामाजिक रीतियों का अंकन था। श्रीमद्-भागवत, रामायण इत्यादि धार्मिक ग्रन्थों के सैंकड़ों चित्र बने हैं। महाकवि जयदेव लिखित 'गीत-गोविन्द' को लेकर भी एक सुन्दर चित्रावली की सर्जना हुई है। श्री अजित घोष के विचार में यह सत्रहवीं शती से संबंधित है। बसोहली कलम अधिकांशतः 'नायिका' के अतिरिक्त भानुदत्त की 'रसमंजरी', केशवदास की 'राम-चन्द्रिका' और जयदेव के 'गीत-गोविन्द' को चित्रित करती है। बसोहली कलम के नायिका-संबंधी चित्रों के सबसे बड़े संकलन 'बॉस्टन म्यूज़ियम ऑफ़ फाइन आर्ट्स' और अहमदाबाद के 'कस्तूरभाई लालभाई' संकलन में हैं। 'गीत-गोविन्द' संबंधी बसोहली कलम के चित्र लाहौर-स्थित सेण्ट्रल म्यूज़ियम में भी हैं। भारत और पाकिस्तान के विभाजन पर इन चित्रों में से साठ प्रतिशत पाकिस्तान के हिस्से में आए और ४० प्रतिशत अर्थात् २२ तसवीरें पंजाब सरकार (भारत) के हिस्से में।

यों तो सम्पूर्ण पहाड़ी कला अपनी मूलभूत धारणाओं, अपने विषयों तथा अपनी व्यंजना में माध्यम व क्षमता की विशिष्टता लिए हुए है पर उसमें भी बसोहली कलम को अलग से पहचान पाने में पर्याप्त समय लगा था। जम्मू का अत्यधिक बोलबाला होने के कारण बसोहली कलम दब-सी गई थी और एक अर्से तक बसोहली कलम पर जम्मू का लेबुल लगा रहा। कुछ लोग इसे तिब्बती कलम के चित्र भी कहते रहे, यद्यपि तिब्बती शिल्प अथवा कला से वैसा कोई सीधा लगाव नज़र नहीं आता। बाद में जब पहाड़ी कलम प्रतिष्ठित हुई तो कांगड़ा कलम के अतिरिक्त बसोहली एक सशक्त शैली समझी जाने लगी और बसोहली को कांगड़ा कलम की अपेक्षा प्राचीनतर माना गया।

बसोहली कलम अपनी अभिव्यक्ति में अधिक मुखर और स्पष्ट है। उसमें रंग उजले हैं जिसमें गहरे लाल, नीले, पीले और काले रंगों की प्रधानता है। रंग शोख और चटख होने पर भी विविध भावों यथा करुणा, उल्लास, उदासीनता और शोक के प्रति सजग करते हैं।

बसोहली चित्रों की एक अन्य विशेषता हाथ और उँगलियों की खास बनावट हैं। यहाँ भावांकन में उँगलियाँ निश्चित रूप से सहायक हैं। बुद्ध संबंधी भित्तिचित्रों के बारे में पर्सी ब्राउन के निम्न कथन की सार्थकता बसोहली चित्रों में भी देखी जा सकती है—

"हिन्दुओं के लिए मुद्राएँ या हस्त-प्रतीक, एक गहन विषय है जिसका भारतीय कला के सभी क्षेत्रों में प्रमुख स्थान है। यह अपने आप में एक अध्ययन है। हाथ के हर अंदाज़ व हर हरकत का विशेष अर्थ है। बुद्ध संबंधी भित्तिचित्रों में कुछ ऐसा ही विषय पहचाना जा सकता है। इन जीवन्त पात्रों ने मुद्राओं के माध्यम से अपनी भाषा कही है। चित्रकार में यह क्षमता न थी कि वह वास्तविक भाषण का दान दे सके पर कथित भाषा की जिन वस्तुओं से सृष्टि होती है, वे सभी उन संकेतों में हैं जो उसने चित्रों को प्रदान

किए थे।"[१]

हस्तमुद्रा के संबंध में श्री अरविन्द ने इस प्रकार प्रकाश डाला है—"आंतरात्मिक संकेत को प्रकट करने के लिए हाथों की मुद्रा का अद्भुतप्राय, सूक्ष्म और अर्थपूर्ण प्रयोग भारतीय चित्रों का एक सर्वसामान्य और सुप्रसिद्ध लक्षण है और हाथों की यह भावमुद्रा चेहरों और आँखों के संकेत को जिस ढंग से सूक्ष्मतापूर्वक दोहराती या परिपूर्ण बनाती है वह सदा ही एक अन्यतम प्रमुख वस्तु होती है जो दृष्टि को आकर्षित करती है।"[२]

अजन्ता के भित्तिचित्रों में विभिन्न मुद्राओं का अंकन विभिन्न भाव-प्रेषण के लिए हुआ है। बसोहली में इस दृष्टि से अजंता का प्रभाव स्पष्टतया लक्षित है।

डब्ल्यू० जी० आर्चर की निम्न उक्ति बसोहली कलम के 'गीत-गोविन्द' संबंधी चित्रों पर बहुत सही उतरती है, "भारत में अन्यत्र भी चित्रकला में रंग और रेखाओं के स्पष्ट गुण उभरे हैं लेकिन पंजाब-हिमालय से बाहर कहीं भी रूमानियत, हर्षोन्माद और विलक्षणता से युक्त इतनी सुन्दर और विशिष्ट अभिव्यक्ति नहीं मिलती।"

बसोहली चित्र-शैली अन्य पहाड़ी चित्र-शैलियों से किन्हीं विशिष्ट बातों पर ध्यान देने से अलग पहचानी जा सकती है। काँगड़ा चित्रों की अपेक्षा बसोहली के चित्र ग्रामीण हैं। इनमें तेज, स्फूर्ति और विलक्षणता तो है लेकिन काँगड़ा कलम की सुकुमारता नहीं। बसोहली चित्रकारों की भाषा सीधी-सादी है अर्थात् सीधी दौड़ती हुई रेखाएँ हैं और सादे फड़कते हुए रंग हैं। सम्पूर्ण शैली अपने आप में बल और ओज की परिचायक है। रेखाएँ अलग से देखने में रूखी-सी लगेंगी लेकिन सम्पूर्ण आकृति के भाव-प्रेषण में उससे अन्तर नहीं आता। काँगड़ा कलम की नारियाँ रूप, रंग, मुद्रा और अपनी समूची अभिव्यक्ति में विशिष्टतः नारी-सौन्दर्य को मुखरित करती हैं लेकिन बसोहली शैली में नारियाँ अपने अंकन में ओजपूर्ण पुरुषों के निकट चली गई हैं। मुखड़े की आकृति में होंठ छोटे हैं, नाक लम्बी और झुकी हुई है, गाल भरे-पूरे हैं, ललाट पीछे हटता हुआ-सा है, ठोड़ी कुछ गोलाकार-सी है। बसोहली चित्रों की एक प्रमुख विशेषता कमल के समान बड़ी और लुभावनी आँखें हैं। बड़ी आँखें यों भी भारतीय सौन्दर्यशास्त्र में आकर्षक और सुरुचिपूर्ण समझी जाती हैं। इन चित्रों में यह उक्ति चरितार्थ होती नजर आती है, 'ज्यों बड़री अखियाँ निरखी, अखियन को सुख होत।' स्त्री की आकृति का अंकन भी काँगड़ा कलम की तरह आकर्षक नहीं—बसोहली कलम में शरीर चोली, घाघरा, दुपट्टा आदि झीने वस्त्र से झाँकता नजर नहीं आता। वस्त्र तथा आभूषणों को उनकी सूक्ष्मता में निहारा जा सकता है। स्त्रियों की मुखाकृतियों—कपोल या माथे पर बालों की लटें दिखाई देती हैं। स्त्रियों के केशों के संबंध में बसोहली कलम की विशेषता स्पष्ट है। इन चित्रों में बाल अधिकांशतः खुले हैं, वेणी या जूड़े

१. With the Hindus, the mudras, or symbolism of the hands is a profound subject and is found occupying a prominent position in all spheres of Indian art. It forms a study in itself, every pose of the hand, every movement of the finger, having a particular significance. In the Budhist frescoes a somewhat similar subject is descernible, these members, full of animation, are made to express a 'finger language' of their own ······The gift of bestowing actual speech was destined to the painter, but all that goes to form a spoken language is seen in the gestures he gave to his figures."

२. श्री अरविन्द, भारतीय संस्कृति के आधार, पृ० २५६

में बँधे हुए नहीं। पुरुषों की आकृतियों को देखने से पता चलता है कि उनका शरीर ऊपर से किसी वस्त्र से ढँका हुआ नहीं है। अंगरखा उजले-पीले रंग में है और किनारा सुनहरी रंग में। पुरुष अनेक तरह के आभूषण पहने हुए हैं। चित्रों की भूमिका समतल नज़र आती है और लगता है ब्रुश की एक ही घसीट से रंग पोता गया है। यह रंग गहरा पीला, गहरा या हल्का हरा, हल्का लाल और सीपिया है। किन्हीं चित्रों के ऊपरी आंशिक भाग में आकाश दिखाई देता है जिसमें चाँद छटा को उभारता नज़र आया है। चित्रों के किनारों पर अधिकतर पीला, लाल या सिन्दूरी रंग देखने में आता है। अपनी सम्पूर्णता में रंग शोख नज़र आते हैं। रंगों के उपयोग में कलाकारों की दक्षता का आभास होता है।

बसोहली के अतिरिक्त पहाड़ी कलम के अन्य केन्द्रों में चम्बा, कुल्लू, नालागढ़, मण्डी, अर्की, नूरपुर, मानकोट, बन्धालटा और जम्मू गण्य हैं। इन राज्यों में बने चित्र बसोहली शैली के नज़दीक हैं लेकिन फिर भी पहाड़ी कलम ने जहाँ-तहाँ प्रश्रय पाया वहीं उसकी शैली में कुछ स्थानीय विशेषता नज़र आयी है।

जहाँ हम पहाड़ी कला में अजंता कला और मुग़ल कला के प्रभाव देखने में अभ्यस्त हैं और उसे आसानी से स्पष्ट रूप में स्वीकारते हैं, वहाँ बहुधा हम स्थानीय परिप्रेक्ष्य की अवहेलना कर जाते हैं। हमें यह बात समझनी चाहिए कि कला का भरण-पोषण बेशक राज्य-प्रश्रय में ही हुआ हो पर कलाकार लोक-जीवन से हटकर नहीं जिया है। इस तरह समस्त पहाड़ी कला के अनुरूप ही बसोहली कलम की पृष्ठभूमि में लोककला की समृद्ध परम्परा नज़र आती है।

यद्यपि पहाड़ी कलम के नाम से आज कोई भी चित्रकला जीवित नहीं तथापि उसका भारतीय कला के इतिहास में निश्चित व गौरवपूर्ण स्थान है। भारतीय कला अपने समूचे रूप में पहाड़ी कलम के बिना अधूरी दिखाई देती है। अठारहवीं शती की पहाड़ी कलम को ही यदि सम्पूर्ण भारतीय चित्रकला का तत्कालीन रूप मान लिया जाए तो भी उसके आकलन में अत्युक्ति नहीं कही जा सकती। यदि अजंता भारतीय कला का आदि-स्रोत है तो उसका संरक्षण पहाड़ी कला विशेषकर बसोहली कलम में चेतन रूप से हुआ है। एक बहुत बड़ी बात यह है कि पहाड़ी चित्रों में भारतीय दर्शन मुखरित हुआ है। कला और दर्शन के सामंजस्य को भारतीय परम्परा के अनुरूप चित्रों में मुखर करना पहाड़ी कलम की सबसे बड़ी उपलब्धि रही है। पहाड़ी कलम पर यदि मुग़ल शैली की छाप नज़र आती है तो उसने अपने विकास में किसी भी स्तर पर लोक-कला की प्राचीन परम्परा के प्रति उपेक्षा नहीं दिखाई है और हिन्दू पौराणिक गाथाओं से वह अनुप्राणित और अनुप्रेरित है। जहाँ मुग़ल शैली मुग़ल बादशाहों की रंगीनियों और उनके प्रभुत्व की अभिव्यक्ति बनकर रह गई है, वहाँ बसोहली कलम अपने निखार में भारतीय दर्शन के प्रति उन्मुख होकर उसके सुन्दर, आकर्षक और मनोहारी रूप को अंकित करने में विशिष्ट रूप से सफल हुई है। देश तथा विदेश के जिन-जिन संग्रहालयों में बसोहली कलम के चित्रों ने स्थान पाया है वहाँ यह मूल्यवान सांस्कृतिक सम्पत्ति के रूप में प्रतिष्ठित हुई है। कलाकारों तथा कला के विद्यार्थियों ने इसे सरुचि देखा है तथा किसी न किसी रूप में उस कला के साये समेटे हैं।

२

गुलेर कलम

यद्यपि पहाड़ी कला ने काँगड़ा कलम के नाम से ख्याति अर्जित की तथापि यह किसी हद तक विवादास्पद रहा कि इस कला का मुख्य केन्द्र काँगड़ा था या गुलेर। बहुसम्मत बात यह है कि काँगड़ा घाटी में पहाड़ी कला का अभ्युदय गुलेर में हुआ। पहाड़ी कला के आज जो चित्र उपलब्ध हैं, उनमें गुलेर कलम के चित्र पर्याप्त निखार में नज़र आते हैं। गुलेर कलम में उभरी आकृतियों में सौन्दर्य का आकर्षण तो है ही, लालित्य व सुकुमारता भी द्रष्टव्य है। १७५५ तक गुलेर शैली ने अपना स्वरूप कुछ हद तक निश्चित कर लिया था और आगे आने वाले दो-तीन दशकों में वह पनपती रही। १७८० के आसपास जब गुलेर शैली अपने सर्वोच्च निखार में नज़र आती है, वहाँ से कुछ चितेरों ने काँगड़ा राज्य में प्रवेश किया। काँगड़ा राज्य में कुछ स्थानीय विशेषताओं को आतमसात करते हुए यह चित्रकला काँगड़ा कलम के नाम से अभिहित होकर प्रतिष्ठित हुई।

१४०५ की बात है। काँगड़ा का राजा शिकार खेलने जंगल में निकला हुआ था जहाँ वह अपने साथियों से बिछुड़ गया। एक स्थान पर कुआँ था जो आस-पास घास-फूस उगने के कारण नज़र नहीं आता था। राजा इस कुएँ में जा गिरा। कहते हैं कि वह कुछ दिन तक उसी कुएँ में पड़ा रहा। जब उस ओर से कोई व्यक्ति गुज़रा तो उसने किसी आदमी के कराहने-चिल्लाने की आवाज़ सुनी। उसने कुएँ से राजा को बाहर निकाला।

राजा के बिछुड़ जाने पर उसकी तालाश हुई लेकिन उसका पता न चला। इस पर रानी सती हो गई और राजा के भाई को सिंहासन पर बिठा दिया।

जब राजा सही-सलामत घर लौटा तो उसके भाई ने राजगद्दी छोड़नी चाही लेकिन इस पर राजा सहमत नहीं हुआ क्योंकि हिन्दू परम्परा के अनुसार राजगद्दी को ग्रहण करने के पश्चात छोड़ना उचित व शुभ न था। इसलिए छोटा भाई काँगड़ा की गद्दी को संभाले रहा। बड़े भाई ने गुलेर में जाकर नये राज्य की स्थापना की।

इसके बाद दो सौ साल तक गुलेर के इतिहास में कुछ भी महत्त्वपूर्ण नज़र नहीं आता। सत्रहवीं शताब्दी में गुलेर ने अपनी सामरिक प्रतिष्ठा बनाई।

उपर्युक्त घटना से स्पष्ट है कि १४०५ में गुलेर काँगड़ा की ही एक शाखा के रूप में स्थापित हुआ था। गुलेर का जो प्रथम शासक था उसने काँगड़ा पर भी राज्य किया था। बाद में उसने काँगड़ा छोड़कर गुलेर में नये राज्य की नींव डाली। परिवार में वह सबसे बड़ा था। इस प्रकार कटोच राजपूतों की नज़रों में अपेक्षतया गुलेर को अधिक सम्मान प्राप्त था। काँगड़ा राज्य के मुकाबले में गुलेर एक छोटी-सी रियासत होने पर भी यह एक लब्धप्रतिष्ठ राज्य रहा। गुलेर में कला को प्रश्रय देना एक परम्परा बनी। शासक बदले लेकिन परम्परा दृढ़ होती चली गई। गुलेर की राजधानी 'हरिपुर' पर्याप्त समय तक कला का केन्द्र बना रहा।

गुलेर की महत्ता का एक अन्य कारण उसकी भौगोलिक स्थिति भी रही। काँगड़ा के दक्षिण में स्थित यह मैदानों के अधिक निकट था। इस प्रकार इस पर पंजाब का प्रभाव अधिक रहा। इसे मुग़ल संरक्षण भी प्राप्त होता रहा जिससे अन्य पहाड़ी रियासतों में इसकी सैनिक प्रतिष्ठा बनी। राजा रूपचन्द (१६१०-३५) को मुग़ल बादशाह शाहजहाँ का समर्थन प्राप्त होने के कारण उसने पड़ोसी राज्यों से बाईस लड़ाइयाँ लड़ीं। अन्त में उसने शाहजहाँ की खातिर गढ़वाल रियासत पर भी आक्रमण किया। गढ़वाल से नेपाल तक का आधा रास्ता भी तय कर लिया गया था। इस सेना में राजपूत और मुग़ल दोनों थे। मुग़ल सेना का संचालन निजाबत खां के हाथ में था और राजपूत सेना का राजा रूपचन्द के हाथ। निजाबत खां लड़ाई से भाग गया और उसके साथ ही शाही सेना भी लेकिन रूपचन्द और राजपूत सेना डटकर लड़ी। रूपचन्द इस लड़ाई में मारा गया। बहुत से मुग़ल सिपाहियों को गढ़वाली सेना ने पकड़ लिया था। इनके नाक काटकर इन्हें दिल्ली वापिस भेज दिया। उसके बाद मुग़ल बादशाह की हिम्मत न हुई कि वह गढ़वाल की ओर आँख भी उठा सके।

रूपचन्द के बाद मानसिंह (१६३५-६१) राजा बना। राजा मानसिंह के भी मुग़ल साम्राज्य के साथ मित्रतापूर्ण संबंध रहे। शाहजहाँ के लिए वह अफगानिस्तान में लड़ा और उसके बाद औरंगज़ेब के लिए कंधार की लड़ाई में लड़ा। उसकी शूरता और वफादारी के लिए बादशाह ने उसे 'अफगानी चीता' की उपाधि दी और उसके वंश के लिए भी 'चन्द' से 'सिंह' कर दिया गया।

जब विक्रमसिंह (१६६१-७५) ने राज्य की बागडोर संभाली तो वह भी मुग़ल सेना में सम्मिलित रहा। औरंगज़ेब के लिए वह उत्तर-पश्चिमी सरहद पर लड़ा। पेशावर के नज़दीक वह लड़ाई में ज़ख्मी हुआ और १६७५ ई० में मर गया। किसी मुग़ल चितेरे द्वारा राजा विक्रमसिंह का चित्र बनाया गया है जिसमें वह हाथी पर बैठा है।

कुमारस्वामी ने अपनी पुस्तक 'राजपूत पेंटिंग' में गुलेर कलम के एक चित्र को उद्धृत किया है जिसका विषय द्रौपदी का चीर-हरण है। इस चित्र का काल सत्रहवीं शताब्दी का अन्त और अठारहवीं शताब्दी के आरंभ के बीच का बताया गया है। इस चित्र से यह स्पष्ट होता है कि आरम्भ में गुलेर कलम पर मुग़ल प्रभाव

बेशक रहा लेकिन अपने विकास में यह हिन्दू विषयों की उपेक्षा नहीं कर सकी है।

कलकत्ता के इंडियन म्यूज़ियम में एक चित्र है जिसमें रात्रि के समय एक औरत संगीत में मग्न जंगली जानवरों को आकर्षित किए हुए है। इसमें भी मुग़ल शैली हिन्दू संस्कृति की ओर उन्मुख होती हुई नज़र आती है। जे० सी० फ्रैंच की पुस्तक 'हिमालय आर्ट' में जो पहला चित्र है उसमें एक ओर लंका के महल से निकलती हुई सशस्त्र राक्षसों की सेना है और दूसरी ओर राम-लक्ष्मण-हनुमान आदि के साथ वानरों व रीछों की सेना नज़र आती है। जे० सी० फ्रैंच के अनुसार यह चित्र हरिपुर में बना है। हरिपुर गुलेर से तीन मील दूरी पर स्थित एक छोटी-सी नगरी है। हरिपुर में एक किला है जिसे गुलेर के किसी राजा ने पन्द्रहवीं शताब्दी में बनाया था।

गुलेर के सामने व्यास नदी के दायीं ओर एक पहाड़ी के शिखर पर स्थित सिबा के राजा का भवन था। इस घर की दीवारों पर राज-दरबार संबंधी भित्तिचित्र थे। यह भवन १६०५ के भूचाल में गिर गया। यहीं एक मंदिर में जो भित्तिचित्र थे उनके जे० सी० फ्रैंच ने कैमरे से छायाचित्र लिए थे। यह मंदिर १८७३ में बना था।

गुलेर की अवनति भी मुग़ल राज्य के साथ ही हुई। जब मुग़ल साम्राज्य पर ईरान और अफगान के हमले हुए तो दूर स्थित जम्मू, चम्बा और काँगड़ा को अपनी सैनिक शक्ति को मज़बूत करने का मौका मिला लेकिन गुलेर को मुगल साम्राज्य पर हुए आक्रमणों के साथ झकोले मिलते रहे।

गुलेर के तीन शासक ऐसे हुए जिन्होंने अपने राज्य को साम्राज्य संबंधी हलचलों से दूर रखने का प्रयास किया। ये थे—राजा दलीपसिंह (१६९५-१७३०), राजा गोवर्धनसिंह (१७३०-७३) और प्रकाश-सिंह (१७७३-९०)। यही कारण था कि यह समय शांति का रहा और कला के उन्नयन के अनुकूल भी। गुलेर के मैदानों के नज़दीक होने से वे बाहर के कलाकारों के सम्पर्क में भी आते रहे। सम्पूर्ण सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी के आरम्भ तक अधिकांशत: भारत के कलाकेन्द्रों का मुगल साम्राज्य से सम्पर्क रहा। लेकिन जब मुग़ल साम्राज्य पतनोन्मुख हुआ तो बहुत से चितेरे पहाड़ी रियासतों में आकर बस गये थे। जिन लोगों की यह धारणा है कि काँगड़ा कलम पर मुग़ल कला का अविच्छिन्न प्रभाव है, उनके लिए यह कहना आसान रहेगा कि गुलेर की भौगोलिक स्थिति ने ही उसे मुग़ल कला की सुदृढ़ता और सहजता के प्रति ग्रहणशील बनाया था।

इस शताब्दी के आरम्भ में अजित घोष हरिपुर (तत्कालीन गुलेर की राजधानी) गए। उनके मत में राजा रघुनाथसिंह के समय तक गुलेर काँगड़ा कलम का एक बहुत ही प्रसिद्ध केन्द्र रहा। जे० सी० फ्रैंच ने अपनी पुस्तक 'हिमालय आर्ट' में गुलेर के राज-परिवार के निजी संग्रह का महत्त्वपूर्ण ब्यौरा दिया है। राजा गोवर्धनसिंह के संबंध में फ्रैंच ने लिखा है—"यह शासक पहाड़ों में घोड़ा युद्ध के नायक के रूप में स्मरण किया जाता है। राजा के पास एक उत्तम घोड़ा था जिसे पाने के लिए पड़ोसी राज्य का मुग़ल गवर्नर ललचा गया। उस-ने उसे राजा से माँगा। राजा ने इन्कार किया तो युद्ध छिड़ गया। राजा ने मुग़ल सेना को परास्त किया और घोड़ा अपने पास रखे रखा।"[१] फ्रैंच आगे लिखते हैं, "यह घोड़ा इस युग में अद्भुत नज़र आता था—

१. Raja Govardhan Singh is remembered in the Hills as the hero of the 'Horse War'. He had a splendid charger, which the Mogul Governor of a neighbouring province coveted. He asked the Raja for it. The Raja refused and war followed. The Rafa defeated the Mogul army, and kept the horse. —J. C. French, Himalayan Art, p. 54.

भारी-भरकम, विशालकाय, चौड़ी छाती और पीठ, मोटी गर्दन और मज़बूत हड्डियाँ।"[1] गोवर्धनसिंह को यह घोड़ा बहुत प्रिय था। उसके कलाकारों ने अनेक चित्रों में उसे चित्रित किया। फ्रैंच ने राजा गुलेर के संग्रह में इस घोड़े पर बैठे राजा गोवर्धनसिंह के अनेक चित्र देखे थे।

यह तो निश्चित ही है कि राजा गोवर्धनसिंह (१७३०-७३) के समय में अनेक चित्र बने जिन्हें ध्यान से देखने पर गुलेर शैली के अन्तर्गत पाया जा सकता है। गुलेर संबंधी चित्रों में रामायण को लेकर चौदह चित्र उपलब्ध हैं। इन चित्रों का विशिष्ट विषय है—सीता रावण द्वारा लंका ले जायी गई है और राम अपनी बन्दर सेना से साथ लंका पहुँच गए हैं। जब कुमारस्वामी ने इन चित्रों को पहली बार प्रकाशित किया तो जम्मू को इनका जन्म-स्थान समझा गया लेकिन अजित घोष ने इन्हें गुलेर से संबंधित बतलाया। अजित घोष ने जो चित्र गुलेर से प्राप्त किए थे, वे अपनी शैली में इन्हीं चित्रों से मिलते-जुलते थे। यहाँ यह कहना अनुचित न होगा कि कुमारस्वामी जम्मू से संबंधित चित्रों की शैली को बसोहली का नाम देते हैं। यद्यपि गुलेर में सर्जित चित्र किसी हद तक बसोहली शैली से मेल खाते हैं लेकिन फिर भी वे अपनी स्थानीय विशेषता के कारण अलग हैं। डब्ल्यू० सी० आर्चर ने उपर्युक्त चित्रों का यथासम्भव समय १७२० बतलाया है जब गुलेर में राजा दलीपसिंह (१६९५-१७३०) का राज्य था।

गुलेर कलम का विषय रामायण और महाभारत की प्रमुख घटनाएँ रहीं या फिर राजदरबार व राज-परिवार का चित्रण। लेकिन सभी चित्रों में स्त्रियों का चित्रण विशेष है जहाँ उनकी आकृतियों के रेखांकन में सहज प्रवाह है। इस रेखांकन में स्त्रियों के अंग-प्रत्यंग अपनी स्वाभाविक माँसलता के साथ अत्यन्त आकर्षक हैं। स्त्रियों की ये आकृतियाँ चित्रों की समस्त लय के अनुकूल हैं। ये चित्र अपनी सम्पूर्णता में लयात्मक प्रतीत होते हैं और प्रभाव में अपनी सहजता के साथ रूमानी भावों को उद्बोधित करते हैं। रेखाओं के अंकन में जो संतुलन और लयात्मकता है उससे शारीरिक सौन्दर्य उभर आया है। इन्हीं कारणों से ये चित्र राजा संसारचन्द (१७७५-१८२३) के पोषण और प्रभुत्व में पनपी काँगड़ा कलम के पर्याप्त समीप आ गये हैं। फिर भी दोनों शैलियों में कुछ भिन्नता नज़र आती है।

गुलेर और काँगड़ा कलम को निकटता से देखने से पता चलेगा कि उनमें अंकित आकृतियाँ भिन्न हैं। ऐसा लगता है कि गुलेर में आकृतियों को कलात्मक रूप से जो सम्पूर्णता और सौष्ठव दिए जाने का प्रयास है वह काँगड़ा कलम में पूरा हुआ है। दूसरा भेद दोनों कलमों के चित्रों की पृष्ठभूमि व अग्रभूमि के अंकन में हुआ है। काँगड़ा चित्रों की पृष्ठभूमि व अग्रभूमि स्वाभाविक मानदण्डों के अनुकूल है लेकिन १७५५-७५ के बीच ये भेद लुप्त होते-से प्रतीत होते हैं। ऐसे चित्र उपलब्ध हैं जिनमें गुलेर कलम और काँगड़ा कलम की विशेषताओं का समन्वय देखा जा सकता है। गुलेर कलम अपने अंतिम चरण में काँगड़ा कलम के रूप में विकसित होती हुई देखी जा सकती है।

गुलेर के शासकों में राजा गोवर्धनसिंह चित्रकला के असाधारण पोषक थे लेकिन उनके पुत्र प्रकाशसिंह में उनके समान इस कला के प्रति उत्सुकता व रुचि न थी। यह कहना गलत न होगा कि प्रकाशसिंह कला के प्रति अन्यमनस्क थे। इसी काल में चम्बा और काँगड़ा के राज्यों में कला का महत्त्व बढ़ रहा था। गुलेर

---

१. It is a strange animal to modern eyes, heavy, massive, with an enormously broad chest and back, thick neck, and strong bone.

—J. C. French, Himalayan Art, p. 54.

के राजा गोवर्धनसिंह की १७७३ में मृत्यु हो गई और इसी समय चम्बा में राजसिंह (१७७३-९४) का नौ वर्ष की आयु में राज्याभिषेक हुआ। १७७५ में उसने जम्मू की सेना को परास्त किया था और १७८२ में बसोहली पर विजय प्राप्त की। १७८६ में कश्तवार राज्य पर धावा बोला और विजय पायी। इन निरंतर विजयों से राजसिंह का प्रभुत्व बढ़ा और संभव है कि गुलेर के बहुत से चितेरे वहाँ आकर्षित होकर उसके संरक्षण में चले आये हों। इसी प्रकार संसारचन्द (१७७५-१८२३) की कलारुचि को ख्याति मिलने पर अनेक कलाकार उनके यहाँ एकत्रित हुए। १७८६ में काँगड़ा किला उनके अधिकार में आ गया। यहाँ उनसे दरबार में अनेक चितेरों ने संरक्षण प्राप्त किया। उनके दरबार में कलाकारों की कृतियों की परख होती थी, उन्हें उत्साहित किया जाता था और उनकी उपलब्धियों पर उन्हें पुरस्कार मिलते रहे। इस प्रकार राजा संसारचन्द का दरबार कलाकारों के लिए एक बहुत बड़ा आकर्षण और आश्रय रहा। पंजाब के इतिहासज्ञ मुहई-उद्-दीन 'तारीख-ए-पंजाब' में संसारचन्द के संबंध में लिखते हैं : 'झुंड के झुंड प्रवीण तथा गुणी जन समूहों में काँगड़ा में आते रहे और उपहार और पुरस्कारों से आनन्दित होते रहे। जो लोग दूसरों को खुश और तृप्त रखने के लिए ही जीते हैं, वे उनकी उदारता से लाभ पाते थे। खेल दिखाने वाले और कथा सुनाने वाले इतनी संख्या में वहाँ पहुँचते और उनके हाथ से ऐसे उपहार और पुरस्कार पाते कि वे अपनी परख के लिए उस युग के हातिम और उदारता के लिए रुस्तम कहे जाने लगे थे।"[1]

इन बातों से यह स्पष्ट है कि काँगड़ा कला का शैशव गुलेर कलम में देखा जा सकता है। यह शैशव इतना आकर्षक था कि इसके प्रति संसारचन्द की रुचि सहज ही उन्मुख हुई। ज्योंही संसारचन्द बड़े होते गये उनका प्रभुत्व भी बढ़ता गया। कला के प्रति उनकी बढ़ती हुई रुचि ने कलाकारों को आकृष्ट किया। और उनके पोषण और संरक्षण में काँगड़ा कलम को अत्युत्तम उपलब्धि प्राप्त हुई। गुलेर शैली का काँगड़ा कला के अभ्युदय और विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान रहा। जे० सी० फ्रैंच लिखते हैं, "इस समय की काँगड़ा कला-कृतियों का रंग असामान्य रूप से सुकुमार है। काँगड़ा कलाकार अपनी रंगपट्टिका में भोर और इन्द्रधनुष के रंग रखते थे।"[2]

गुलेर शैली के रूप में हम कला को पूर्णतया स्थापित करने की दिशा में कुछ प्रयास पाते हैं। उसमें नये मुहावरे, नये प्रयोगों के लिए पर्याप्त स्थान रहा। यह कहना अनुपयुक्त न होगा कि गुलेर शैली अपने सर्वोच्च निखार में काँगड़ा कलम के रूप में उभर आयी।

---

१. 'Crowds of people of skill and talent resorted to Kangra and gained happiness from his gifts and favours. Those addicted to pleasure, who live for the gratification of others, profited exceedingly by his liberality. Performers and story-tellers collected in such numbers and received such gifts and favours at his hand that he was regarded as the Hatim of that age and in generosity, the Rustam of the time.'

२. The colouring of Kangra pictures of this period is exceedingly delicate. The Kangra artist had the colours of the dawn and the rainbow on his palette.

—J. C. French, Himalayan Art, p. 52.

३

काँगड़ा कलम

अधिकांशत: पहाड़ी चित्रकला काँगड़ा कलम के नाम से जानी गई है। काँगड़ा कलम को ही पहाड़ी कला का पर्यायवाची समझना इस बात का स्पष्ट आभास देता है कि सम्पूर्ण पहाड़ी कला के इतिहास में काँगड़ा कलम एक सर्वोच्च उपलब्धि रही और अन्य क्षेत्रों में जहाँ भी पहाड़ी कला का विस्तार देखने में आता है किन्हीं लोकगत प्रभावों के अनुरूप उसका स्वरूप अवश्य निखरा है पर कहीं भी काँगड़ा-सी उपलब्धि रंग और रेखाओं की अत्यन्त सुरुचिपूर्ण भावभीनी झलकियाँ देखने में नहीं आती। यही कारण है कि क्या सामान्य कलाप्रेमी को अथवा क्या किसी कलावेत्ता को पहाड़ी कला के लिए काँगड़ा चित्रकला एक पर्यायवाची स्वीकारने में कभी कोई आपत्ति नहीं हुई। पहाड़ी चित्रकला के अन्तर्गत हम उस कला-आन्दोलन को देख-समझ सकते हैं जो हिमालय के आँचल में बसी भूतपूर्व देसी रियासतों में सोलहवीं शताब्दी से लेकर उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तक पनपकर समाप्तप्राय हो गया। इसी कला-आन्दोलन में जो विशिष्टतम रहा वह काँगड़ा कलम है। पहाड़ी कला की यह अन्यतम उपलब्धि—काँगड़ा कलम—काँगड़ा के शासक महाराजा संसारचन्द (१७७५-१८२३) के राज्यकाल की देन थी। जिन कारणों से यह उपलब्धि सम्भव हो सकी है उन्हें समझना कठिन नहीं। ऐसे कारणों में संसारचन्द की कलाप्रियता सर्वोपरि है। इस के अतिरिक्त उनकी

इस कला-प्रियता को बल मिला उनके सशक्त शासक होने से। वह एक महत्वाकांक्षी शासक था, वह स्वप्न-दर्शी कला-प्रेमी था, उसने अपनी मिट्टी से लगाव रखा, उसने अपनी संस्कृति को इतिहास की पृष्ठभूमि पर निर्मित करना चाहा। वह भगवान कृष्ण का पुजारी ही नहीं था, वह उस-सा नायक भी बनना चाहता था। अपनी इसी आकांक्षा के अनुरूप उसने आस-पास के छोटे-बड़े राज्यों पर अपनी सत्ता की धाक जमाई और बड़ी-बड़ी सत्ता से अपनी सत्ता को मुक्त रखा और बाद में समय हर छोटी-बड़ी सत्ता की तरह उसे भी माप गया। लेकिन उसकी देन—काँगड़ा कलम—भारतीय संस्कृति को समृद्ध कर गई, संसार भर की कला-थाती में अपना स्थान बना गई।

एक प्रश्न उठता है काँगड़ा कलम में ऐसा क्या कुछ विशेष है जिस ओर आज भी हर कला-प्रेमी आकृष्ट होता है। यह कम आश्चर्य का विषय नहीं कि काँगड़ा कला में कलागत गुणों के अतिरिक्त अपनी मिट्टी की महक है और वह सही अर्थों में एक व्यापक रूप से भारतीय संस्कृति को मुखरित करती है। अपने प्रतिनिधित्व में वह महज़ काँगड़ा तक ही सीमित नहीं बल्कि भारतीय आत्मा को अत्यन्त सुरुचिपूर्ण ढंग से प्रस्तुत करती है। उसका यह ढंग, यह तौर-तरीका इतना निजी रहा है कि वह काल, धरती और समाज के अन्तर्गत कहीं भी पुनरुद्धृत नहीं हो सकी। कला का समसामयिक होना आवश्यक है। काँगड़ा कलम अपने युगधर्म से नहीं चूकी लेकिन फिर भी वह प्रेम की अभिव्यक्ति लिए इतनी विशिष्ट और सार्थक है जो हमेशा ही रुचि का विषय रहेगी। रंगों के माध्यम से प्रेम का ऐसा अनूठा अंकन अन्यत्र नहीं मिलेगा। यहाँ प्रेम का छिछला आलेखन नहीं, प्रेम का ऐसा मनोहारी रूप उभरा है जिसे देखना-निहारना किसी भी सुसम्पन्न, सुसंस्कृत और सुरुचिपूर्ण व्यक्ति अथवा समाज की अपेक्षा बनी रहेगी। और समूचे रूप से काँगड़ा कलम अपने आप में ऐसा कुछ रहस्य लिए है जिससे वह अपना आकर्षण युग-युगांतर बनाए रखने में समर्थ है।

यह एक उल्लेखनीय बात है कि पहाड़ी कलम के साथ काँगड़ा का नाम सबसे अधिक प्रचलन में आया है लेकिन काँगड़ा विशेष के स्थान पर यदि कुछ कला-कृतियाँ बनी भी हों तो वे नगण्य हैं। काँगड़ा पर पहले तो १७८६ तक मुगलों का अधिकार रहा और बाद में १८०९ से १८४६ तक सिक्खों का। काँगड़ा कलम से संबंधित तीन कलाकेन्द्र देखने में आते हैं—गुलेर, नूरपुर और टीरा-सुजानपुर। गुलेर में जो चित्रकला पनपी वह प्राचीनतम समझी जाती है। गुलेर और नूरपुर पंजाब के मैदानी इलाकों से अपेक्षतया नज़दीक रहे। इन रियासतों के शासकों का मुगल साम्राज्य से बराबर सम्पर्क बना रहा, इसलिए दिल्ली से प्रभावित होना स्वाभाविक था।

गुलेर कलम तो पहाड़ी कला की एक स्वतंत्र-सी शाखा के रूप में विकसित हो गई थी लेकिन जिसे विशुद्ध काँगड़ा कलम कहा जा सकता है उसके दो केन्द्र रहे—पहला आलमपुर और उसके बाद दूसरा टीरा-सुजानपुर। इन दोनों स्थानों के बीच मात्र व्यास नदी का ही व्यवधान है। दोनों नगर व्यास के तटों पर स्थित हैं। काँगड़ा कला को काँगड़ा के जिन राजाओं ने प्रश्रय दिया उनमें हमीरचन्द (१७००-४७), अभयचन्द (१७४७-५०), घमण्डचन्द (१७५१-७४) और संसारचन्द (१७७५-१८२३) के नाम उल्लेखनीय हैं। इन सभी शासकों के अन्तर्गत कटोच वंश की प्रतिष्ठा बढ़ी थी लेकिन संसारचन्द के वक्त में तो रावी और सतलुज के बीच काँगड़ा राज्य सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण राज्य बन चुका था।

सम्पूर्ण काँगड़ा राज्य में कुछ स्थानों पर राजाओं का आवास-स्थान होने से वे महत्वपूर्ण बन गये थे जैसे सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से लेकर अठारहवीं शताब्दी के आरंभ तक ऐसे ही स्थानों में राजगीर और विजयपुर गण्य रहे लेकिन इन स्थानों की महत्ता स्मृति के गर्भ में डूब चुकी है। आशापुरी नामक स्थान अपने

मन्दिर के लिए आज भी कुछ मान्यता लिए हुए है। लेकिन इन सबसे अधिक आलमपुर, टीरा-सुजानपुर और नादौन ही ख्यात रहे। इन स्थानों पर अथवा आस-पास किले बने हुए हैं। आज सुजानपुर में राधाकृष्ण का मन्दिर एक प्राचीन दर्शनीय स्थल है। एक बात यहाँ उल्लेखनीय यह है कि काँगड़ा कलम के इन स्थानों में जो किले और महल हैं वही अनेक चित्रों में भी देखे जा सकते हैं।

किलों के अतिरिक्त मन्दिरों की वास्तुकला भी कला-प्रेमी का ध्यान आकर्षित करती है। एक मन्दिर आलमपुर (१७४७), एक गौरी शंकर का मन्दिर टीरा में और राधाकृष्ण और नर्मदेश्वर का मन्दिर सुजानपुर में देखा जा सकता है। सुजानपुर का यह मन्दिर बैजनाथ में बने प्राचीन सुप्रसिद्ध मन्दिर (१२०४) के अनुकरण पर राजा घमण्डचन्द ने बनवाया था। नर्मदेश्वर और विजयपुर के मन्दिर आज भी अच्छी हालत में हैं। इन मन्दिरों की भीतरी और बाहरी दीवारों तर अवश्य मुगल शैली के अनुरूप अलंकरण और चित्रण हुआ है। नदौन में भी बहुत से मन्दिर हैं जो अधिकांशतः मध्यकालीन हिन्दू शैली के अनुरूप बने लेकिन एक शिवालय कुछ मुगल शैली के नज़दीक नज़र आता है।

काँगड़ा कलम का विषय और शैली की दृष्टि से हम अलग-अलग भी अध्ययन कर सकते हैं। जब हम यह कहते हैं कि पहाड़ी कला का विषय अत्यन्त व्यापक रहा तब पहाड़ी कला की विभिन्न शैलियों के अन्तर्गत बनी कृतियों पर हमारा ध्यान रहता है। लेकिन जो विशिष्ट कलाकृतियां हैं वे किन्हीं अर्थों में व्यापक रहते हुए भी किन्हीं कतिपय विन्दुओं पर बल देती रही हैं। यही कारण है कि काँगड़ा कलम के चित्रकार महाराजा संसारचन्द में अपनी कला के अनुकूल प्रश्रय पाकर और साथ ही कला अपेक्षित अपनी ईमानदारी, प्रबुद्धता और स्वच्छन्दता को सजग रख किन्हीं थोड़े से विषयों को अपनी भरपूर रुचि-शुचि के अनुकूल चित्रित कर सके। और उनका यह कृतित्व महज़ किन्हीं विषयों का चित्रण ही नहीं रह गया था, वह तो सही अर्थों में महान कलाकृतियों के रूप में हमारे समक्ष आया है। ऐसे विषयों में कृष्ण-लीला का अंकन राजा संसारचन्द की व्यक्तिगत पसन्द के अनुकूल ही नहीं रहा अपितु चितेरों की अपनी समस्त रुचि के अनुकूल भी था। कृष्ण से बढ़कर नायक उनकी दृष्टि में नहीं था। सम्भवतः किसी इतिहास व संस्कृति ने मानवी और दैवी रूपों को लिए इतना सुन्दर, सशक्त व सक्षम नायक प्रस्तुत भी नहीं किया। यही कारण है कि यों तो समस्त पहाड़ी कलाकृतियों में कृष्ण ही छाया है लेकिन काँगड़ा कलम के अन्तर्गत जो भी उसकी विशिष्टतम उपलब्धियाँ रहीं उनमें भी कृष्ण का रूपायन और आलेखन सर्वोपरि है। ऐसे भरे-पूरे ढंग से कृष्ण का चित्रण इसलिए भी संभव हो सका कि हर चितेरा अपनी कल्पना को, अपने सृजन को, अपने श्रम-परिश्रम को पूरी स्वच्छन्दता से दिशा दे पाता था। कृष्ण का चरित्र उनके मानस को इस ढंग से सहेजता रहा कि उसमें उन्हें किसी भी तरह से किसी भी प्रकार का नियंत्रण अथवा अंकुश प्रतीत न हुआ। और ऐसा चरित्र जो एक साथ व्यक्तित्व और कृतित्व की सम्पूर्ण अपेक्षाओं पर खरा उतरा हो उसका आलेखन उस युग का धर्म बन गया था। कृष्ण-संबंधी अनेक काँगड़ा चित्र संसार-भर के संग्रहालयों में देखे जा सकते हैं। अन्य अनेक प्रकाशित हुए हैं। यह महाराजा संसारचन्द के वक्त में ही संभव हुआ जब भागवत पुराण, जयदेव लिखित 'गीत-गोविन्द', 'बिहारी सतसई', केशवदास लिखित 'रसिकप्रिया' और 'कविप्रिया' तथा नल-दम्यन्ती की प्रणय-कथा चित्रित हुई। कृष्ण-जीवन की बहुविध लीला को अत्यन्त नयनाभिराम ढंग से प्रस्तुत किया गया है। रामायण और महाभारत को भी काँगड़ा कलम के चितेरों ने चित्रित किया है। प्रेम का ऐसा भावमय लयात्मक, गेयतापूर्ण तथा कलात्मक चित्रण अन्यत्र देखने में नहीं आता। काँगड़ा कलम के ऐसे चित्रों से अभिभूत होकर सुप्रसिद्ध कला-समीक्षक व कलाप्रेमी आनन्द कुमारस्वामी ने १९१६ में लिखा था कि जो चीनी कला में लैण्ड्स्केप के चित्रण में प्राप्त हुआ

है, वही यहाँ प्रेम के चित्रण में एक उपलब्धि बन गई है। काँगड़ा कलम में जो 'गीत-गोविन्द' संबंधी चित्र मिलते हैं वे शृंखलाबद्ध हैं और उन पर मानकू नामक चितेरे का नाम दिया गया है। यों तो एक ही विषय विभिन्न कलम के चितेरों ने दोहराया है लेकिन काँगड़ा विशेष से संबंधित चित्रों में कुछ निजी विशेषताएँ उभर आयी हैं जैसे काँगड़ा घाटी के अनुपम सौन्दर्य का यथावत चित्रण, टीरा-सुजानपुर और वहाँ स्थित राजमहलों का चित्रण तथा चित्रों के पृष्ठ पर देवनागरी में लिखा जनपदीय काँगड़ी बोली में अभिलेख। कलात्मक दृष्टि से सतसई संबंधी काँगड़ा कला के जो चित्र मिलते हैं वे 'गीत-गोविन्द' की तरह सुन्दर व अनुपम हैं। कूची और रंगों के निर्वाह में दोनों कहीं चूकते नज़र नहीं आते, फिर भी उनमें भेद है। मुखाकृति के अध्ययन से कुछ भेद प्रकट होता है। राजमहल और प्रकृति आलमपुर का प्रतिनिधित्व लिए हुए है जहाँ संसारचन्द ने उद्यान में अपना महल बनाया था। अद्‌भुत कृतियों के चितेरे मानकू की मृत्यु १८०० से कहीं पहले हुई थी। रंधावा जैसे कलाविज्ञ का ऐसा अनुमान है कि 'बिहारी सतसई' संबंधी काँगड़ा कलम के ये चित्र मानकू की मृत्यु के बाद उसके पुत्र खुशाला ने बनाये। एक कलाकार बाप का पुत्र होने के नाते खुशाला पर मानकू का बहुत प्रभाव रहा। ऐसा अनुमान है कि ये चित्र १८०५ के आस-पास बने। काँगड़ा कलम में 'गीत-गोविन्द' के शृंखलाबद्ध चित्रों की संख्या एक सौ चालीस से अधिक बताई जाती है लेकिन काँगड़ा कलम के ही 'बिहारी सतसई' विषयक चित्रों की संख्या केवल चालीस है तथा अन्य बीस, रंगों से विहीन रेखाचित्रों के रूप में ही उपलब्ध हैं।

विषय-विवेचन के अनुरूप हम काँगड़ा कलम की भावभूमि को वैष्णव मत से सिंचित पाते हैं। यों तो बारहवीं शती से सोलहवीं शती तक ही वैष्णव मत का आन्दोलन रहा और इस युग में काँगड़ा कला ने अभी जन्म नहीं लिया था लेकिन पहाड़ी कला को पश्चिमी हिमालय की जिन देसी रियासतों में प्रश्रय मिला वहाँ हिन्दू राजा राज्य करते थे और वैष्णव धर्म उनके जीवन में प्रतिष्ठित था। वैष्णव पूजा का प्रचलन न केवल राजाओं तक ही सीमित रहा बल्कि इन क्षेत्रों की जनता आज तक वैष्णव मत की अनुयायी रही है। वैष्णव मत में भी कृष्ण-पूजा का सबसे अधिक प्रचलन रहा। वैष्णव मत को जयदेव, विद्यापति, चण्डीदास आदि अपनी कृतियों से सम्पन्न बनाते रहे और उनकी वाणियां लोगों को आकर्षित करती रहीं। वैष्णव मत के अत्यधिक प्रचार व प्रसार का कारण उपर्युक्त सन्तों के निजी चरित्र के गुण व श्रेष्ठता थी। जो विचारधारा मानसिक धरातल पर एक युग-चिन्तन बन बैठी थी उससे कलाकार कैसे अछूता रहता। यहाँ एक बात उल्लेखनीय है कि मुगल कला में जहाँ कलागत श्रेष्ठता नज़र आती है वहाँ उसकी भावभूमि अत्यन्त विपन्न है। वह कला तो पशु-पक्षी के अंकन तथा राज्यशाही की रंगीनियों तक ही सीमित रह गई थी लेकिन काँगड़ा राज्य में तो कला ने एकदम नये आयाम स्थापित कर डाले। यहाँ काँगड़ा कलम मुगलकालीन कलागत श्रेष्ठता को तो ग्रहण करती ही है, उसे अत्यन्त समृद्ध और सम्पन्न भावभूमि भी मिलती है। यदि हम यह कहें कि यहाँ कला का राज्यशाही की रंगीनियों के विरुद्ध विरोधात्मक स्वर उभर आया है तो वह अनुचित नहीं। इस स्वर ने उन रंगीनियों को नकारा ही नहीं है, उनके स्थान पर वह अत्यन्त हृदयग्राही रूप में मुखरित हुआ है। काँगड़ा कला का यह स्वर भक्त-कवियों की वाणी की तरह ही एक साथ स्वस्थ, सुन्दर और मृदुल है जो एक ओर युग-धर्म का प्रतिनिधित्व करता रहा और दूसरी ओर युग-बोध से युक्त शाश्वत चेतना को मुखर करता रहा है।

काँगड़ा घाटी में इस कला का उदय कैसे हुआ, इस संबंध में अनेक मत हैं। कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि मुगल साम्राज्य में जब चितेरे आश्रय खो बैठे तो वे पंजाब की पहाड़ी रियासतों की ओर निकल आए। बात बहुत हद तक ठीक है लेकिन इन पहाड़ी रियासतों में लोक-कला के अन्तर्गत पहले से ही कुछ न कुछ चित्र बनते रहे हैं और राज्य-प्रश्रय सहजता से प्राप्त होने के कारण कलाकारों को अपनी कला निखारने का अवसर

मिलता रहा है। १७३९ में नादिरशाह के आक्रमण से दिल्ली बुरी तरह से आहत हुई थी और उसके बाद ही अहमदशाह अब्दाली के हमले चलते रहे जिससे कलाकारों का वहाँ अधिक देर तक टिका रहना मुश्किल हो गया था। विवश होकर जब वे पहाड़ी रियासतों की ओर भागे तो वहाँ उन्हें अपेक्षतया अधिक शान्ति व सुरक्षा प्राप्त हुई। फिर छोटे-छोटे राज्यों में कलाकारों के लिए राजाओं से निजी सम्पर्क बनाना भी सम्भव था। कलाकार अधिक महत्त्वाकांक्षी न थे। वे रोटी, कपड़ा और मकान की चिन्ता से केवल मुक्त होना चाहते थे और यह सब कुछ मिलने पर कला-आराधना उनका व्यवसाय बन गया था।

काँगड़ा कलम के विकास में हरिपुर-गुलेर का नाम सबसे पहले आता है। मुगल साम्राज्यशाही से निष्कासित हिन्दू चितेरे जब काँगड़ा घाटी की ओर बढ़े तो वहाँ उन्हें पंजाब के मैदानी इलाकों के बाद पहला पहाड़ी राज्य गुलेर मिला। यहाँ राजा दलीपसिंह (१६९५-१७३०) ने उन्हें शरण दी। लेकिन दलीपसिंह से पर्याप्त समय पहले रूपचन्द, मानसिंह, विक्रमसिंह, राजसिंह और बिशनसिंह के जो रूपचित्र देखने में आए हैं वे मुगल कला के प्रभावस्वरूप ही बने थे।

काँगड़ा कलम के व्यवस्थित विकास में हरिपुर-गुलेर के शासक गोवर्धनचन्द (१७४४-७३) का नाम सबसे पहले आता है। यह अपने यौवनकाल से ही परिष्कृत रुचि का व्यक्ति था और चित्रकला से तो उसका विशेष लगाव रहा। इसी शासक ने उन चितेरों को भी आश्रय दिया जो मुगल साम्राज्य का प्रश्रय खो चुके थे। यहीं मुगल शैली के प्रवीण चितेरों ने न केवल राज्य-प्रश्रय ही पाया बल्कि काँगड़ा घाटी की मनोहारी दृश्यावली ने उनका मन भी हर लिया और फिर वे अपने आश्रयदाता की रुचि-शुचि के अनुकूल विषयों को चुनते रहे और इस प्रकार मुगल शैली ने विशुद्ध हिन्दू परम्परात्मक साहित्य के अनुकूल करवट ली।

गुलेर कलम में ऐसे अनेक चित्र हैं जिनमें स्वयं राजा गोवर्धनचन्द दिखाए गए हैं। कला-पोषक के रूप में उन्होंने पर्याप्त ख्याति प्राप्त की थी। बसोहली की राजकुमारी से उनका विवाह हुआ था। बसोहली पहाड़ों में कला का प्राचीनतम केन्द्र माना जाता है। इस रिश्ते-नाते के फलस्वरूप जब गुलेर और बसोहली में सम्पर्क गहराया तो वहाँ एक स्थान से दूसरे स्थान में कलाकार गये जिससे दोनों ही कला-शैलियों पर पारस्परिक प्रभाव पड़ा।

राजा गोवर्धनचन्द के बाद प्रकाशचन्द (१७७३-९०) गद्दी पर बैठे और यह पहाड़ी कला के लिए एक सुखद घटना ही थी कि प्रकाशचन्द ने भी कलाकारों के लिए पूर्ववत संरक्षण बनाए रखा। उनके काल की अनेक सुन्दर कलाकृतियाँ देखने में आयी हैं जिनमें उन्हें सपरिवार चित्रित किया गया है। कुछ अन्य चित्र 'प्रेम' विषय को लिए हुए हैं। यह शासक अपने खर्चीले स्वभाव के लिए प्रसिद्ध रहा लेकिन उसका दुष्परिणाम भी उसे भुगतना पड़ा। गुलेर की सत्ता प्रकाशचन्द के राज्य के उत्तरार्द्ध में ही क्षीण होने लग गई थी जिससे कलाकारों के विस्थापित होने का प्रश्न उठने लगा था। इसी काल में ऐसी संकटपूर्ण स्थिति पैदा हो सकती थी जब कलाकार गुलेर का आश्रय खो देते और उन्हें भटकना पड़ता लेकिन पड़ोसी राज्य में महाराजा संसारचन्द (१७७५-१८२३) के यहाँ उन्हें निश्चित रूप से ठौर मिल गया था।

गुलेर कलम आरंभ में मुगल कला से प्रभावित रही। सामान्यत: ऐसा समझा जाता है कि गुलेर कलम के आरंभिक चित्र पंडित सेऊ और उसके दो पुत्र मानकू और नैनसुख ने बनाए। नैनसुख ने गुलेर के अतिरिक्त जम्मू में मियाँ बलदेवसिंह के लिए भी चित्र तैयार किये थे। उसी प्रकार उसका बड़ा भाई मानकू भी गुलेर तक ही सीमित न रहा। उसने भी गुलेर और बसोहली दोनों राज्यों में काम किया। राजा अमृतपाल (१७५७-७६) के समय में तो बसोहली कलम पर गुलेर का बहुत अधिक प्रभाव रहा। गुलेर की इस

समन्वयात्मक शैली का प्रभाव जम्मू और बसोहली दोनों पर पड़ा। गुलेर कलम के बिशनसिंह और प्रकाशचन्द द्वारा प्रणीत अनेक चित्र बसोहली के राजाओं के पास रहे। गुलेर, बसोहली और जम्मू के पारस्परिक प्रभावों के मिश्रण से जिस शैली ने जन्म लिया उसी ने आरंभिक काल में कांगड़ा कलम का स्वरूप निश्चित किया था।

प्रकाशचन्द का एक विवाह चम्बा की राजकुमारी से हुआ था। इस संबंध में कला को एक नई दिशा देने का और भी अवसर प्रदान किया। प्रकाशचन्द के समय में अनेक कलाकार टीरा-सुजानपुर (कांगड़ा) तथा चम्बा चले आए थे। चम्बा के राजा राजसिंह (१७६४-६४) के यहाँ गुलेर के कलाकारों ने चित्र बनाए। अनेक तरह से प्रस्फुटित व प्रभावित गुलेर की यह शैली १७८० के लगभग कांगड़ा चली गई थी जहाँ महाराजा संसारचन्द ने इसे संभाला, संवारा और इसे इसका भव्यतम रूप दिया। १७८६ में राजा संसारचन्द ने कांगड़ा के किले पर अधिकार कर अपनी शक्ति और सत्ता की धाक दूर-दूर तक बना ली थी। संसारचन्द ने जब उन्मुक्त हृदय से कलाकारों का स्वागत किया तो गुलेर राज्य के कलाकार भी उनकी ओर आकृष्ट हुए।

कांगड़ा कलम से संबंधित दूसरा कलाकेन्द्र नूरपुर रहा। पठानकोट के तोमारवंशीय राजा बड़े महत्वाकांक्षी तथा शूरवीर थे जिन्होंने बाद में धमेरी-नूरपुर को अपना आवास बनाया। पहाड़ी राज्यों में वही सबसे प्रथम शासक थे जिन्होंने मुगल और राजस्थानी वैभव-परम्परा को अपनाया। इसी वंश के वासुदेव (१५८०-१६१३) नामक शासक ने कृष्ण का एक वृहत् मंदिर बनवाया था। इस मन्दिर को बनाने में अम्बर (जयपुर) के कच्छवाह राजाओं के यहाँ जिन कारीगरों ने काम किया था उन्हीं का हाथ था। बसोहली के जो प्राचीनतम चित्र देखने में आते हैं उनका सामीप्य अम्बर के लघुचित्रों में देखा जा सकता है। इससे ऐसा लगता है कि शायद वासुदेव के यहाँ भी अम्बर के कुछ चितेरों ने काम किया हो।

नूरपूर के राजा वासुदेव का अकबर के शासनकाल में मुगलों से झगड़ा हो गया था। लेकिन अपनी पैतृक परम्परा के प्रतिकूल वासुदेव के पुत्र सूरजमल (१६१३-१८) का जहाँगीर के दरबार में आना-जाना शुरु हो गया। उसके बाद राजा जगतसिंह (१६१६-४६) के मुगल बादशाह जहाँगीर से अच्छे संबंध रहे और वह उनकी सेवा में सक्रिय भी रहा। राजा जगतसिंह ने १६२२ में कांगड़ा राज्य में एक स्थान का नाम नूरजहाँ के नाम पर नूरपूर रख दिया। मुगल दरबार से सम्पर्क गहराने पर उन्हें मुगलकालीन चितेरों की कलाकृतियाँ देखने-परखने का अच्छा अवसर मिला। जगतसिंह ने मुगल शासन और सेना में अपनी सेवाओं के अनुकूल बहुत सम्मान व प्रतिष्ठा अर्जित कर ली थी। वह अफगान के सीमावर्ती इलाके में गवर्नर के रूप में मुगल प्रशासक था। दिल्ली के राजकाज में उसका पर्याप्त हस्तक्षेप रहा। अपनी शक्ति का एहसास होने पर वह केवल मुगल सत्ता का सेवक ही नहीं बना रहना चाहता था, वह अपने राज्य को भी मज़बूत करना चाहता था। १६२३ में उसने धौलाधार पर्वत-श्रेणी के बाहरी हिस्से से लगती हुई एक अलग-सी पहाड़ी पर तारागढ़ नामक एक मजबूत किला बनवाया जो उस ज़माने के स्तर पर एक अभेद्य सुरक्षा-गढ़ बन गया था। जहाँगीर के दरबार से तो उसके संबंध अच्छे रहे लेकिन १६४० में वह अपने पुत्र के साथ शाहजहाँ के प्रत्यक्ष विरुद्ध हो गया था। १६४४ में तीन मुगल सेनाओं ने मिलकर तारागढ़ पर धावा बोला। उन्हें विजय हाथ लगी लेकिन उसका कारण किले में बन्द राजपूत सेना की खाद्य-सामग्री का खत्म हो जाना था अन्यथा प्रत्यक्ष में किले पर मुगल सेना विजय पाने में असमर्थ रहती।

मुगल दरबार के संबंध की परम्परा को राजरूप (१६४६-६१) ने भी निभाया। वह औरंगज़ेब के

दरबार में रहा। लेकिन जो कलाकृतियाँ आज भी देखने में आती हैं उनमें कुछ पृथ्वीसिंह (१७३५-८९) के समय की हैं और अधिकांश बीरसिंह (१७८९-१८४६) के समय की। इस समय कला का एक और ही दौर चल पड़ा था। गुलेर में राजा प्रकाशचन्द और काँगड़ा में महाराजा संसारचन्द ने निश्चित रूप से कला में रुचि ली थी जिसका प्रभाव नूरपूर के बीरसिंह पर भी पड़ा। नूरपूर में जिस कला का विकास हुआ वह बाद में मण्डी, चम्बा और बसोहली की ओर भी बढ़ी। इन तीनों रियासतों में बसोहली की कला ने पहले ही प्राचीनतम होने के नाते सबसे अधिक महत्त्व ग्रहण कर लिया था। मुगल साम्राज्य से भी सम्पर्क गहरा गया था। ज्यों-ज्यों कला का विकास हुआ त्यों-त्यों एक राज्य से दूसरे राज्य में चितेरों का आना-जाना होता रहा। गुलेर और बसोहली से भी एक से दूसरे राज्य में चित्रकार गए।

काँगड़ा कलम से संबंधित तीसरा लेकिन सबसे महत्त्वपूर्ण केन्द्र टीरा-सुजानपुर रहा जहाँ राजा संसारचन्द ने कला-क्षेत्र में एक क्रान्ति पैदा कर उसे सर्वोच्च शिखर पर पहुँचाया। आरम्भ में इस शाखा की कलाकृतियाँ टीरा-सुजानपुर और आलमपुर में बनीं लेकिन बाद में नादौन ने भी महत्ता ग्रहण कर ली थी। काँगड़ा की गद्दी पर राजा संसारचन्द के बाद अनिरुद्धचन्द आया। यद्यपि काँगड़ा की शान-शौकत क्षीण हो चुकी थी लेकिन अनिरुद्धचन्द ने कलाकारों को प्रश्रय देने की अपने पिता की परिपाटी को किसी हद तक ज़रूर निभाया। उसे हम अनेक कलाकृतियों में चित्रित भी पाते हैं। काँगड़ा घाटी की गोरखों के आक्रमण से दुर्बल हुई सत्ता पर सिक्खों ने १८०९ में ज़ोर की चोट की। अब काँगड़ा के किले पर उनका अधिकार हो चुका था। अनिरुद्धचन्द जब १८२३ में गद्दी पर बैठा तो काँगड़ा राज्य का वैभव समाप्त हो चुका था। आठ साल के अपने शासन में उस पर सिक्खों का आतंक छाया ही रहा।

राजा संसारचन्द का कला-प्रेमी होना पहाड़ी चित्रकला के इतिहास की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना थी, अन्यथा हमें काँगड़ा कलम की अन्यतम व अनुपम कलाकृतियाँ देखने को न मिलतीं। उसका निजी कला-प्रेम ही पहाड़ी चित्रकला को विशिष्ट स्थान देने में समर्थ रहा। यदि महाराजा संसारचन्द न हुए होते तो पहाड़ी कलाकृतियाँ देखने को अवश्य मिलतीं लेकिन काँगड़ा कलम के नाम से जो विशिष्टता देखने में आती है वह सुलभ न होती। पड़ोसी राज्यों विशेषतः गुलेर से किसी कलाकार का राजा संसारचन्द के पास चला आना एक स्वाभाविक प्रक्रिया बन चुकी थी और उनके आश्रय में हर कलाकार अपनी प्रतिभा को उभारने और अपनी कलम को निखारने का सुअवसर प्राप्त करता रहा। उनकी कलाप्रियता का अनुमान इस बात से भी लगता है कि भारत ही क्या बाहर के संग्रहालयों में भी राजा संसारचन्द के शासनकाल में प्रणीत चित्र अवश्य देखने में आते हैं। और प्रेम को ही क्यों सबसे अधिक और समर्थ अभिव्यक्ति मिली, उसके लिए स्वयं राजा संसारचन्द का निजी प्रणययुक्त जीवन तथा दृष्टिकोण उत्तरदायी है। जिस प्रकार प्रेम को कृष्ण के जीवन में स्थान मिला है, वही उसके लिए भी एक आदर्श बन गया था। यदि कोई ऐसी स्थिति आयी भी तो उसमें भी वह प्रेम-संबंधी आकर्षण व आग्रह को ठुकरा नहीं पाया है। नोखू गद्दिन विवाहिता थी लेकिन उसके रूप-सौन्दर्य पर जब वह मुग्ध हुआ तो उसे अलग न रख सका। काँगड़ा कलम तो सौन्दर्य को अंकित करने में कहीं चूकी नहीं है। जो व्यक्ति अपने जीवन में रूप का पुजारी हो सकता है उसके लिए तो कला में रूप और सौंदर्य की खोज स्वाभाविक लगती है। काँगड़ा कलम में यही स्त्री सौन्दर्य मुखरित हुआ है और स्त्रियों की अपेक्षा पुरुष-चित्रण इतना सबल और आकर्षक नहीं। समस्त पहाड़ी चित्रकला में भी जो कृतियां काँगड़ा से सम्बद्ध हैं उनमें स्त्रियों की यह रूप-श्री विशेष रूप से ध्यान आकृष्ट करती है। इस रूप-श्री को आँकने में न तो ऐसा ही हुआ है कि चित्रकार की प्रणीत वे आकृतियाँ सहज मानवीय ही न लगें। ये आकृतियाँ सुन्दर हैं, आकर्षक हैं

ग्रौर इसी धरती की हैं जहाँ कलाकार अपना जीवन व्यतीत करता रहा। अपने लोगों से, अपनी धरती से काँगड़ा कलाकार का लगाव उसकी कृतियों में उभर आया है और वही अद्भुत है।

एक अन्य बात जो काँगड़ा कलम के चित्रों को अन्य पहाड़ी चित्रशैली के चित्रों में विशिष्टता देने के लिए उत्तरदायी है वह है स्वयं काँगड़ा घाटी का प्राकृतिक सौन्दर्य जिसकी उपमा ढूंढे नहीं मिलती। विशाल हिमालय की पर्वत-श्रेणी धौलाधार ने इस घाटी के सौन्दर्य को निखारा है। ब्यासा ने इस घाटी को स्वर दिया है। ब्यासा के किनारे नर्तकी जमालो के साथ राजा संसारचन्द ने अपने अंतिम दिन बिताए थे। इसी ब्यासा की पावन सलिल धारा की रूप-छवि को काँगड़ा कलम के चितेरों ने निहारा था और उसे अपनी कलाकृतियों में अंकित किया है। काँगड़ा कलम के चितेरों ने काँगड़ा घाटी के सम्पूर्ण सौन्दर्य के अंकन में कुछ भी कोर-कसर नहीं उठा रखी है। वहाँ के पेड़-पौधे, पशु-पक्षी, ऋतु-मौसम, बिजली-बादल, वर्षा-फुहार, सूर्योदय और सूर्यास्त आदि सभी का इतना सुन्दर अंकन इसीलिए सम्भव हो सका है कि चितेरे के लिए काँगड़ा घाटी में यह सब कुछ निहारना और देखना सहज सुलभ था।

जब राजा संसारचन्द की सत्ता का सूर्य अस्त हो गया तो काँगड़ा कला के भविष्य के सम्मुख भी एक प्रश्नचिह्न लग गया था। कुछ एक रियासतों में चित्रकला का कार्य होता रहा। लेकिन संसारचन्द-सी बात नहीं थी। कुछ चितेरों ने सिक्ख राज्य के अन्तर्गत शरण ली और कुछ अन्य ने जम्मू-कश्मीर के शासक डोगरा महाराजा के यहाँ। क्योंकि सिक्ख एक सम्पन्न और सशक्त सत्ता के रूप में स्थापित हो चुके थे इसलिए यह स्वाभाविक था कि वहाँ न केवल काँगड़ा राज्य के ही विस्थापित चितेरे पहुँचते बल्कि अवध, जयपुर, बीकानेर और कश्मीर रियासत के चितेरे भी वहाँ आकर्षित हुए। अमृतसर में बने स्वर्ण-मन्दिर में हमें विभिन्न शैलियों के समन्वय-स्वरूप बनी शैली के दर्शन होते हैं। लाहौर स्थित किले और महाराजा रणजीतसिंह की समाधि पर बने भित्तिचित्र काँगड़ा कलम के अनुरूप देखे जा सकते हैं।

जब हम पहाड़ी चित्रकला में संगीत तथा काव्य के सम्मिश्रण की बात करते हैं तब भी हमारा ध्यान काँगड़ा कलम के उन चित्रों की ओर जाता है जहाँ हम विशेष रूप से चित्रकला, संगीत और काव्य का समन्वय देखते हैं। जो काव्य-गाथा पहाड़ी चित्रकला में रूपायित हुई है उसकी ओर पहले संकेत दिया जा चुका है। यहाँ इतना कह देना उपयुक्त लगता है कि यह काँगड़ा कलम ही थी जहाँ राग और रागिनियों को, उनके अंग-प्रत्यंग और वातावरण के साथ सुन्दर ढंग से रूपायित किया गया है। राग-रागिनियों का चित्रण भले ही राज-पूत कला में भी देखने में मिल जाए लेकिन जिस सजीवता से काँगड़ा कलम में ऐसे चित्र उभरे हैं वे अनु-पम हैं।

इन सब बातों से एक बात तो स्पष्ट उभरती है कि काँगड़ा कलम की नोक ने जिस भी विषय को छुआ वही उसकी अन्यतम उपलब्धि बन गई जिसकी समता न तो उससे पूर्व की कला में मिलती है और न ही उसकी समकालीन कला में। यह बात चित्रकला के विभिन्न पहलुओं को देखकर भी स्पष्ट होती है। यह चाहे रेखाओं का प्रवाह है अथवा रंगों का आयोजन, लयात्मकता है अथवा सन्तुलन, आकृति-अंकन है अथवा वास्तु और प्रकृति का चित्रण; इन सभी में काँगड़ा कलम की अपनी देन है, उसकी अपनी विशिष्टता है जिसमें हमें ढूंढने पर भी कोई दोष अथवा त्रुटि नहीं मिलती। चित्र अपनी सम्पूर्णता में मन को खींचता है, उसे रस-विभोर करता है।

किसी भी चित्रकला में रंग और रेखाओं का कलाकार के हाथों जिस ढंग से निर्वाह हो पाता है वही उसको विशिष्टता प्रदान करता है। काँगड़ा कलम में लयात्मक रेखाएँ तथा रमणीय रंगों के कोमल संयोजन

से उसके लघुचित्रों को नयनरम्यता का गुण मिला है। आकृतियों के आलेखन तथा प्रकृति के रूपायन में रंगों की महारत और कोमलवर्णकारिता विशेष रूप से ध्यान आकृष्ट करती है। दीप्तिपूर्ण रंगों में कूची के स्पर्श की कोमलता पर सचमुच ही आश्चर्य होता है। अद्रीश बनर्जी का कहना है, 'कला अपने वातावरण की उपज होती है। जलवायु, पशु-पक्षी, धरती, दर्शन, धर्म, द्रव्य-पदार्थ, साहित्य, राजनैतिक एवं आर्थिक परिस्थितियाँ सभी लोगों के कलात्मक आवेग का पहरावा बनने में योगदान देते हैं।'[1] इस कथन से सहज ही सहमत हुआ जा सकता है। काँगड़ा कलम में तो वास्तव में इन सभी तत्वों ने भरपूरगी से सहयोग दिया है, कहीं कुछ चूकता नज़र नहीं आता। सम्भवतः यह एक संयोग ही था।

पहाड़ी कला ने काँगड़ा कलम के रूप में अपनी सबसे सुन्दर कलात्मक कृतियाँ भेंट की थीं लेकिन महाराजा संसारचन्द की मृत्यु के बाद इसके भरण-पोषण की स्थिति का अन्त हो गया। रास्तों के खुल जाने पर बाहरी दुनिया से सम्पर्क बन गया था। कलाकारों के लिए कला के अनुशीलन के अनुकूल परिस्थितियाँ न रही थीं। कलाकार एक प्रकार से विस्थापित अनुभव कर रहे थे। रोटी-रोज़ी की चिन्ता ने उन्हें ग्रस्त कर लिया था। वे काम-काज के अन्य धन्धे ढूंढने लगे थे। जो कला कलाकारों को थाती के रूप में एक अर्से से मिलती रही थी, उसे संभालना असंभव हो गया था। लेकिन काँगड़ा का भूचाल जो ४ अप्रैल, १९०५ में आया उसने तो निश्चयात्मक रूप से ही काँगड़ा कला का अन्त कर डाला। इस विध्वंस में गिनती की ही कलाकृतियाँ बच सकी थीं। जाने कितनी असंख्य बहुमूल्य कलाकृतियाँ नष्ट हो गयीं। इस भूचाल में जान-माल का भी बहुत बड़ा नुकसान हुआ। अनेक कलाकार मृत्यु को प्राप्त हुए। फिर तो जो कतिपय कलाकार बचे भी होंगे उनके लिए भी कला के अनुकूल परिस्थितियाँ पाना असम्भव था। यही दैवी घटना पहाड़ी कला के विलोप के लिए सबसे अधिक उत्तरदायी रही।

पहाड़ी चित्रकला की कृतियों पर चितेरे अपने नाम नहीं देते थे। कहीं उनके नाम मिले भी हैं तो वे चित्रों के पिछले भाग पर अंकित हैं। लेकिन पहाड़ी चित्रकला इतनी प्राचीन नहीं कि इस संबंध में कहीं कुछ पता न चलता हो। इन चित्रकारों के अनेक परिवार आज भी काँगड़ा घाटी में हैं। यदि कोई इना-गिना चित्रकार अपनी वंश-परम्परा के अनुकूल कुछ चित्र बनाता हुआ आज भी दिखाई पड़े तो आश्चर्य न होगा। महाराजा संसारचन्द के राज्यकाल के कुछ चित्रकारों के नामों का पता चला है जिनमें खुशाला और मानकू का हमने पहले भी ज़िक्र किया है। कुशनलाल, बसिया, फत्तू और पुरखू नामक अन्य चितेरे उनके दरबार की शोभा रहे। पुरखू एक निपुण कलाकार था जिसके हाथ की सफाई और कोमलता का बेडन पावेल ने उल्लेख किया है। बसिया एक अन्य सिद्धहस्त चितेरा था। उसी के प्रपौत्र लक्ष्मणदास से जे० सी० फ्रैंच की सिमलोटी में भेंट हुई थी। काँगड़ा दरबार से संबंधित पद्मू और दोखू नामक दो अन्य कुशल चितेरों का भी पता चलता है। सिमलोटी गाँव में गुलाबूराम नामक चितेरा अभी तक चित्र बनाता देखा गया है।

---

१. Art is a product of its environment; the climate, the fauna, the land, the philosophy, the religions, the materials, the literature, the political and economic conditions, all go to clothe the artistic impulse of a people.

—Adris Banerji Ch : Romanticism in India, Roop Lekha, Vol. XXVII, pp. 36-37.

४

चम्बा कलम

जैसा कि हमने अन्यत्र भी कहा है पहाड़ी चित्रकला में बसोहली कलम प्राचीनतम है और लोककला के नजदीक होने के कारण अपना विशुद्ध परम्परागत रूप लिए हुए है। काँगड़ा कलम में हम स्पष्टतः ही मुगलकालीन प्रभाव देख सकते हैं लेकिन बसोहली कलम ऐसे किसी प्रभाव से मुक्त रही है। काँगड़ा कलम तो अपने सर्वोच्च निखार में आकर विलुप्तप्राय-सी हो गई लेकिन बसोहली शैली की जड़ें जन-जीवन में गहरी चली गई थीं, यही कारण है कि अनेक तत्कालीन पहाड़ी रियासतों में काँगड़ा कलम का उतना प्रभाव न रहा जितना बसोहली कलम का। बसोहली प्रभाव को ग्रहण करने में चम्बा का नाम विशेष रूप से गण्य है। उत्तरोत्तर विकास में चम्बा शैली स्वतंत्र रूप से परिपक्वता ग्रहण करती गई है लेकिन आरम्भ में चम्बा राजाओं के जो चित्र बसोहली शैली में प्राप्त हुए हैं उनसे चम्बा पर बसोहली का प्रभाव स्पष्ट होता है। आर्चर का मत है कि "१७०० के लगभग बसोहली के कलाकार लगातार बिछुड़ने शुरु हो गए थे और इसके परिणामस्वरूप जम्मू, बन्दरालटा और चम्बा जैसी रियासतों पर ही यह प्रभाव नहीं पड़ा बल्कि हमारे मतलब से जो अधिक आवश्यक है उस दक्षिण की गुलेर रियासत पर भी।"[१]

१. W. G. Archer, Kangra Painting, p. 2.

१७५८ तक चम्बा कलम पर बसोहली प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है। बसोहली कलम की छाप लिए हुए चम्बा में अनेक चित्र प्राप्त हुए हैं। चम्बा स्थित भूरिसिंह म्यूज़ियम में ही कल्कि और परशुराम विषयक दो चित्र संकलित हैं जो रंग और रेखाओं की दृष्टि से बसोहली शैली के नज़दीक आ पड़ते हैं। इनके अतिरिक्त भागवत विषयक चित्र हैं जो शैली में अधिक उन्नत और निखरे हुए हैं। कार्ल खण्डलवाला के अनुसार भागवत विषयक चित्रों की सर्जना अठारहवीं शताब्दी के मध्य में हुई लेकिन भूरिसिंह म्यूज़ियम के क्यूरेटर विश्वचन्द्र ओहरी ने अपने अध्ययन-विश्लेषण के आधार पर भागवत विषयक चित्र-श्रृंखला का एक चित्र १७५८ का बतलाया है। यह चित्र निश्चित रूप से बसोहली की परम्परागत शैली की अपेक्षा अधिक सूक्ष्मात्मकता रखता है जिससे यह स्पष्ट है कि चम्बा शैली अठारहवीं शताब्दी के मध्य तक पहुँचने में जब पकी हुई नज़र आती है तो इसका उद्‌भव पर्याप्त समय पूर्व हुआ होगा।

चित्रकारों का एक स्थान से दूसरे स्थान आना-जाना बराबर चला रहता था। एक कलाकार-परिवार के परिचय में कुछ सिद्धहस्त कलाकारों का पता चलता है जो पंडित सेओ से आरम्भ होता है। पंडित सेओ मैदानों से आकर जसरोटा (बसोहली के समीप) में बस गया था। पंडित सेओ का पुत्र नैनसुख हुआ जो समस्त पहाड़ी चित्र-कला में अपना विशिष्ट स्थान रखता है। नैनसुख एक अर्से तक जम्मू के राजा बलवन्तसिंह के यहाँ काम करता रहा। राजा बलवन्तसिंह का एक चित्र जो १७४८ ई० में तैयार हुआ लाहौर म्यूज़ियम में उपलब्ध है। नैन-सुख की कला-थाती उसके पुत्र निक्का ने संभाली। निक्का भी एक सिद्धहस्त कलाकार था जो कुछ समय गुलेर रहा और कुछ समय तक उसने चम्बा में काम किया। यह बहुत संभव है कि डब्ल्यू० जी० आर्चर अपनी पुस्तक 'काँगड़ा पेंटिंग' में जिस कलाकार का १७६५ ई० में गुलेर से चम्बा आने का ज़िक्र[1] करते हैं वह निक्का ही हो।

चम्बा चित्रशैली के संदर्भ में हम जिन चित्रकारों के नाम से परिचित होते हैं उनमें लैहरू का नाम भी आता है। चम्बा म्यूज़ियम में भागवत विषयक चित्रों की श्रृंखला में एक चित्र है जिस पर टाँकरी लिपि में उद्‌धृत चम्बयाली बोली के शब्द इस प्रकार हैं—"४४—उग्रसेन को राज दिता—श्री मियें समसेर सिंहे लिखाया त्रखाणे लहरूए लिखिया संवत ३३ माघ प्र० २५—शुभ।" इस उल्लेख से स्पष्ट है कि इस चित्र का कलाकार लैहरू रहा और इसको मियाँ समशेरसिंह ने बनवाया। मियाँ समशेरसिंह राजा उमेदसिंह (१७४८-६४) के अनुज थे। पहाड़ी बोली में त्रखाण लकड़ी के मिस्त्री को कहा जाता है लेकिन यह कोई आश्चर्य का विषय नहीं कि लैहरू एक साथ त्रखाण और चितेरा रहा हो।

चम्बा चित्रशैली का आरंभ राजा उदयसिंह (१६९०-१७२०) के शासनकाल में हुआ जो अनुमानतः (१७१०-१५ के मध्य में निकलता है। इससे पूर्व भी राजा पृथ्वीसिंह (१६४१-६४) और राजा छत्तर-सिंह (१६६४-९०) के एक-एक चित्र प्राप्त हुए हैं जो बसोहली शैली में बने हैं। बहुत संभव है कि ये चित्र उक्त राजाओं के समय में न बनकर बाद में बने हों। इन्हें भी चम्बा के प्राचीनतम चित्र माना जाता है। इसी प्रकार भूरिसिंह म्यूज़ियम में सुरक्षित राजा पृथ्वीसिंह (१६४१-६४) और उमेदसिंह (१७४८-६५) के चित्र हैं जिनमें शैलीगत समानता नज़र आती है। एक अन्य चित्र राजा उदयसिंह के मंत्री जैसिंह का भी देखने में आता है।

---

१. It is certainly significant that in about 1765, at least one Guler artist seems to have migrated to the northerly State of Chamba.

—W. G. Archer, Kangra Painting, p. 4.

आज भूरिसिंह म्यूज़ियम में १७३५ से पूर्व के चित्रों में कल्कि और परशुराम से चित्रों के अतिरिक्त विशेष कुछ उपलब्ध नहीं। इसका कारण १७३५ ई० में एक भयानक आग में नगर का जलना है जिसमें बहुत-सी कलाकृतियाँ नष्ट हो गई होंगी। गद्दी के लिए उग्रसिंह और दलेलसिंह में होड़ थी। इस होड़ में पहले तो उग्रसिंह सफल हो गया और दलेलसिंह लाहौर में बन्द कर लिया गया। कालान्तर उसने अपनी बहुमूल्य भेंटों से मुगल गवर्नर को प्रसन्न कर लिया और उसकी सहायता से पुनः उसे चम्बा की गद्दी मिल गई। उग्रसिंह प्रतिशोध की आग से जल रहा था। वह नगरी से भागते समय उसे आग लगा गया।

उग्रसिंह (१७२०-३४) चौदह वर्ष तक राज्य कर सका और दलेलसिंह (१७३५-५८) तेईस साल तक। लेकिन यह सम्पूर्ण समय कला की दृष्टि से उसे एक सुदृढ़ आधार देने में पर्याप्त महत्त्वपूर्ण रहा। दलेलसिंह पहले तो मुगल शासन का बन्दी रहा और बाद में उसका एक अच्छा मित्र बन गया। इस दौरान उसे मुगल कला को देखने-परखने और उसे पसन्द करने का अच्छा अवसर मिला। जब वह अपनी रियासत में लौटा तो उसमें कला के प्रति रूझान और रुचि थी।

कला को प्रश्रय देना अब एक परम्परा बनने लगी। उमेदसिंह (१७४८-६४) ने इस कला-थाती को संभाला। उमेदसिंह भी लाहौर में तेरह साल तक मुगल शासन का बन्दी रहा। जब वहाँ से मुक्त हुआ तो वह जसरोटा ठहरा जहाँ की राजकुमारी से उसका विवाह हुआ। जसरोटा और बसोहली के मार्ग से वह चम्बा वापस पहुंचा था। बसोहली और जसरोटा से सम्पर्क बनने पर और मुगल शासन के यहाँ एक लम्बे अर्से तक ठहरने के फलस्वरूप उमेदसिंह कला के प्रति पर्याप्त सजग रहा।

उमेदसिंह का उत्तराधिकारी राजसिंह (१७६४-६४) था और वह काँगड़ा के विख्यात शासक और महान कला-प्रेमी संसारचन्द का समकालीन रहा। राजा संसारचन्द के यहाँ तो पहाड़ी कला ने एक आन्दोलन का रूप ही ग्रहण कर लिया था। उनकी अपनी ख्याति और कला का प्रचार और प्रसार उच्चतम शिखर पर था जिसका प्रभाव पश्चिमी हिमालय की समस्त रियासतों पर पड़ा। १७६५ तक पहाड़ी कला का एक सिद्ध-हस्त चितेरा निक्का गुलेर से चम्बा आ गया था। राजा राजसिंह के शासनकाल में चम्बा शैली पनपी और उसमें अति सुन्दर चित्र बने। रूपचित्रों में राजा राजसिंह और उनके पुत्र राजा जीतसिंह के चित्र सुन्दरतम हैं। भूरिसिंह म्यूज़ियम के स्थापित होने तक एक लम्बा अन्तराल ऐसा रहा जब चम्बा से बाहर चित्र जाते रहे। इस दौरान अनेक अंग्रेज़ रियासत में आये जिन्हें कभी कोई राजा भेंटस्वरूप और कभी उनकी अपनी रुचि के कारण सुन्दर कलात्मक चित्र देता रहा जो आज अनेक यूरोपीय संग्रहालयों में सुरक्षित हैं। लाहौर म्यूज़ियम में भी राजसिंह के अनेक चित्र रहे।

राजसिंह के बाद जीतसिंह (१७६४-१८०८) चम्बा की गद्दी पर बैठा और यह भी राजा संसार-चन्द का समकालीन रहा। यह चम्बा शैली के हित में ही था कि इसकी रुचि अपने पूर्वजों की तरह चित्र-कला में बनी रही। यों अधिकांशतः यह संसारचन्द के प्रभाव व प्रभुत्व का ही बोलबाला था कि उसके गुणों की नकल करना समयोचित व्यवहार बन गया था और यही चित्रशैली के विकास का एक प्रमुख कारण रहा है।

राजसिंह और जीतसिंह की कला-रुचि संबंधी परम्परा को चढ़तसिंह (१८०८-४४) ने संभाल लिया। पहाड़ी चित्रशैली का इधर इतना बोलबाला हो गया कि राजा और रईसों के प्रश्रय से बाहर सामान्य लोगों में भी इसका प्रचार हो गया था जिसके फलस्वरूप यह प्रचलन में पुनः एक बार लोककला का रूप ले बैठी। चम्बा के भित्तिचित्र तो अत्यन्त कलात्मक हैं लेकिन सामान्य घरों की दीवारों और दरवाजों पर

भी कलापूर्ण चित्र बनाने का एक अच्छा-खासा रिवाज़ बन गया था और वे एक अच्छी-खासी संख्या में बनते रहे।

अन्य पहाड़ी चित्रशैलियों ही की तरह चम्बा चित्रशैली में भी दो प्रकार के चित्र विशेषतया नज़र आते हैं जिन्हें हम भूरिसिंह म्यूज़ियम में देख सकते हैं। एक ओर तो रूपचित्र हैं और दूसरी ओर पौराणिक विषयों को लेकर सुन्दर चित्रावलियाँ तैयार हुई हैं। रूपचित्रों में चम्बा के राजाओं के अतिरिक्त पड़ोसी राज्यों के शासकों के चित्र भी हैं। इन चित्रों की विशेषता यह है कि ये प्रोफाइल शैली में बने हैं और अधिकांशतः हुक्का पीते हुए दिखाए गए हैं। चम्बा रूपचित्रों की असामान्य विशेषता यह है कि अधिकांशतः राजा को रानी और गद्दी के उत्तराधिकारी अर्थात् सबसे बड़े लड़के के साथ दिखाया गया है। इस प्रकार चम्बा के रूपचित्र कुछ घरेलू विशिष्टता लिए हुए हैं। जिन कथा-वस्तुओं को लेकर पौराणिक चित्रों की सर्जना हुई उनमें तीन मुख्य हैं—अनिरुद्ध और उषा[1], कृष्ण और रुक्मिणी तथा सुदामा और कृष्ण। इन चित्रों में रेखाओं का लालित्य, रंगों की उज्ज्वलता, सूक्ष्मता तथा सज्जा सभी कुछ आकर्षक है। अन्य पहाड़ी चित्रों के समान इन चित्रों में कलाकार की श्रम-साधना, धैर्य और लगन का परिचय मिलता है। भूरिसिंह म्यूज़ियम में उपर्युक्त विषयों के अतिरिक्त ऋतु-विषयक छः चित्रों का भी एक सेट है। ऋषि वाल्मीकि रचित रामायण के छः काण्ड—बाल काण्ड अयोध्या काण्ड, अरण्य काण्ड, निष्कंध काण्ड, सुन्दर काण्ड और लंका काण्ड—को लेकर भी एक लम्बी चित्र-श्रृंखला की सर्जना हुई है। दुर्गा सप्तशती को भी चम्बा कलाकारों ने चित्रित किया है। रामायण के ही अन्य विषयों में वाल्मीकि के आश्रम में लव और कुश के जन्म से संबंधित भी एक चित्र है। अन्य चित्र ऋषि नारद का किसी राजा के यहाँ उपस्थित होने का है। पाँच अन्य महत्त्वपूर्ण चित्रों की एक श्रृंखला के विषय हैं—पंडित उत्सव में रघुवीर के प्रथम पुजारी द्वारा लक्ष्मी-नारायण की पूजा, लक्ष्मी-नारायण, कमलासन देवी गायत्री, देवी महेश्वरी, देवी ब्रह्माणी और देवी वैष्णवी। छः चित्रों की एक चित्रावली में छः ऋतुओं का अंकन है। दो चित्रों का विषय दस अवतार है। 'प्रेमसागर' में वर्णित कृष्ण के युवाकाल और कंस-वध को भी कलाकारों ने अनेक चित्रों के लिए अपना विषय बनाया है। इसके अतिरिक्त 'प्रेमसागर' की अन्य अनेक घटनाओं का चित्रण हुआ है।

चम्बा राजाओं में जिनके चित्र भूरिसिंह म्यूज़ियम में संगृहीत हैं उनके नाम और काल निम्नलिखित हैं—

राजा पृथ्वीसिंह (१६४१-६४), राजा छत्तरसिंह (१६६४-९०), राजा उमेदसिंह (१७४८-१७६४), राजा राजसिंह (१७६४-९४), राजा जीतसिंह (१७९४-१८०८), राजा चढ़तसिंह (१८०८-४४), भागा वज़ीर (१८३४-५४)।

ये तो रहे चम्बा के शासकों के चित्र। भूरिसिंह म्यूज़ियम में अन्य पहाड़ी राजाओं के चित्र भी देखने में आते हैं। जम्मू के राजा रणजीत देव, बसोहली के राजा अमृतपाल, काँगड़ा के राजा घमण्डचन्द, काँगड़ा के राजा अनिरुद्धचन्द, नूरपूर के राजा वीरसिंह, सुकेत के राजा विक्रमसेन, जम्मू-कश्मीर के राजा गुलाबसिंह तथा ध्यानसिंह (*गुलाबसिंह का अनुज जो महाराजा रणजीतसिंह के यहाँ वज़ीर भी रहा*)।

१८८१ के ग्रीष्म में हंगरी का के० ई० वान उज्फाल्वी नामक मानवशास्त्री चम्बा पहुँचा। इस समय चम्बा में राजा श्यामसिंह राज्य करता था जिसकी आयु पन्द्रह वर्ष थी। उज्फाल्वी ने राजा से कुछ चित्र

१. अनिरुद्ध और उषा के प्रेमाख्यान सम्बन्धी जो चित्र मिला है वह इंग्लैंड और कनाडा में हुई कला-प्रदर्शनियों में रखा जा चुका है जहाँ यह कला-प्रेमियों और कला-समीक्षकों का ध्यान आकृष्ट करता रहा है।

प्राप्त किए जिनमें छः चित्रों का ज़िक्र उसके यात्रा-वर्णन (Aus dem Westlichem Himalaja) में मिलता है। इनमें पाँच तो राजाओं के चित्र हैं और छठा गणेश का। इन पाँच चित्रों में एक चित्र में राजा चढ़तसिंह अपनी रानी के साथ झंझावात को देख रहे हैं, यह चित्र जी० फलैशिया (G. Flechia) ने 'मेघदूत' के इतालवी अनुवाद में भी उद्धृत किया है।

भित्तिचित्र

चम्बा कलम का उदय सत्रहवीं शताब्दी का मध्य माना जाता है। जब इस रियासत के पड़ोसी राज्य बसोहली और गुलेर में शासन-व्यवस्था डाँवाडोल होने लगी तो चितेरे राज्य-प्रश्रय की खोज में चम्बा जाकर बस गये। ये चितेरे पर्याप्त संख्या में इकट्ठे हो गये थे और अठारहवीं शताब्दी के अंतिम चरण में चम्बा की अपनी निजी शैली स्थापित हो चुकी थी जो पूरी उन्नीसवीं शताब्दी तक पनपती रही। यों प्रत्यक्षतः इस चम्बा शैली पर बसोहली और गुलेर का प्रभाव देखा जा सकता है।

चम्बा स्थित रंगमहल के भित्तिचित्र जब दिल्ली के नेशनल म्यूज़ियम में स्थानांतरित हुए तो उन्होंने कला-प्रेमियों का ध्यान आकर्षित किया था। रंगमहल राजा उमेदसिंह (१७४८-६४) के वक्त में बनना आरंभ हुआ था। उन्होंने १७७५ ई० में राजनगर में एक महल का निर्माण करवाया था लेकिन बसोहली के साथ उनकी लड़ाई (१७७२-७५) में वह नष्ट हो गया। रंगमहल राजा उमेदसिंह के जीवनकाल में पूरा नहीं हो सका। राजा उमेदसिंह के बाद राजसिंह (१७६४-९४), जीतसिंह (१७९४-१८०८) और चढ़तसिंह (१८०८-४४) अपनी रुचि के अनुकूल इस महल का निर्माण करवाते रहे। अंतिम रूप से यह महल राजा चढ़तसिंह के समय में बनकर तैयार हो गया था। कुछ एक भित्तिचित्र राजा श्रीसिंह (१८४४-७०) के वक्त में भी बने। रंगमहल के अतिरिक्त चम्बा में जिन अन्य भवनों में भित्तिचित्रों का निर्माण हुआ उनमें अखनचण्डी महल, लक्ष्मीनारायण मन्दिर और दुर्गा और मंगणू नामक चित्रकारों के निजी मकान थे। सतलुज पर बने पुल के पास एक मन्दिर में भी कुछ भित्तिचित्र हैं। चम्बा नगर से बाहर लेकिन जिला चम्बा में ही देवी कोठी मन्दिर और छत्राड़ी में शक्ति मन्दिर में भी भित्तिचित्र देखे जा सकते हैं।

अखनचण्डी और धर्मशाला के भित्तिचित्र बहुत ही सुन्दर और आकर्षक थे लेकिन इनमें धर्मशाला के चित्रों के संरक्षण की कोई व्यवस्था न थी, वे अपनी आभा खोते गये और उनमें अनेक खरोंचें पड़ गईं। अखनचण्डी के भित्तिचित्र किन्हीं विशेष परिस्थितियों में स्वयं ही बाहरी नोच-खरोंच से बच गये। चम्बा के अंतिम शासक की जायदाद पर कोर्ट ऑफ वार्ड लग गया था और इस प्रकार महल में बाहर से आने-जाने पर नियंत्रण था। इन्हीं परिस्थितियों में ये भित्तिचित्र भी सुरक्षित हो गए थे।

भित्तिचित्रों के निर्माण का यह कार्य एक लम्बे अर्से तक चलता रहा। उपर्युक्त भित्तिचित्रों में से अधिकांश १७८० के करीब बनकर पूरे हुए।

पहाड़ी चित्रकला में भवन-निर्माण के अंकन के अध्ययन से पता चलता है कि भवन मुगल शैली का प्रभाव लिए हुए हैं। पहाड़ी रियासतों में जहाँ कहीं सुन्दर राजभवन बने हैं वे मुगल शैली से ही प्रभावित हैं, अतः उनका चित्रकला में यथातथ्य प्रतिफलित हो आना स्वाभाविक था। रंगमहल भी मुगल शैली में बना है। आठ सौ वर्ग फुट की धरती पर खड़ा यह तीन-मंजिला महल किले की शक्ल लिए हुए है। अप्रैल, १९४८ में चम्बा हिमाचल प्रदेश में मिल चुका था जिससे इस मकान पर भी राजा का आधिपत्य खत्म हो गया था। १९६२ तक इसका उपयोग दूसरे ढंग से होने लगा। इसमें हाथ-करघा और बूट-चप्पल बनाने के लघु उद्योग

स्थापित हुए।

रंगमहल के भित्तिचित्र एक अर्से तक बनते रहे थे। इसलिए यह बहुत संभव है कि उनको बनाने में अनेक चित्रकारों का हाथ रहा हो। इन चित्रकारों में कुछ स्थानीय चित्रकार थे, कुछ बसोहली तथा दूसरी जगहों से आये थे लेकिन जिन विशिष्ट चित्रकारों के नाम इन भित्ति चित्रों के साथ सम्बद्ध बतलाते हैं वे दुर्गा और मियाँ तारासिंह हैं।

एक पर्याप्त समय तक ये भित्तिचित्र साधारण लोगों की उपेक्षा का शिकार बने रहे। इन पर नोच-खरोंच करना साधारण-सी बात थी और उस पर कोई नियंत्रण न था।

जब इन भित्तिचित्रों के संरक्षण का कोई अन्य तरीका नज़र न आया तब 'वैज्ञानिक अनुसंधान एवं सांस्कृतिक मामलों के मंत्रालय' ने उनके उपचार के लिए उन्हें नेशनल म्यूज़ियम की लेबोरेटरी में पहुँचाया। म्यूज़ियम के संरक्षण विभाग ने १९६२ में ही उनकी संरक्षण की दिशा में उचित कदम उठाने शुरू किए—रंग-महल की दीवारों से इन चित्रों को उखाड़ना था और इस काम में लगभग दो वर्ष लग गए और तब कहीं अत्यन्त कुशलता, परिश्रम तथा दक्षता से इनका नेशनल म्यूज़ियम में पुनर्स्थापन हुआ।

ये भित्तिचित्र विभिन्न आकारों के हैं जिनमें एक फुट लम्बे और एक फुट चौड़े से लेकर पाँच फुट लम्बे और दस फुट चौड़े तक आकार के हैं। १०'×५' आकार वाले नयनाभिराम चित्र का विषय राधा-कृष्ण है और यह अच्छी हालत में संरक्षित है। कुल मिलाकर १३४ पैनल स्थानांतरित किए गए हैं। इनमें से कुछ वृहत् आकार की कलाकृतियों के ही भाग हैं।

विषय : पहाड़ी कलम के लघुचित्रों की तरह चम्बा भित्तिचित्र केवल धार्मिक विषयों तक ही सीमित नहीं रह गये हैं। मुख्य विषय राधा और कृष्ण की प्रेम-लीला है। लेकिन उसके अतिरिक्त अन्य विषय हैं—शिव और पार्वती, राम का दरबार, संगीत के प्रति उन्मुख स्त्रियाँ, केश-विन्यास तथा दर्पण में छवि को आँकना। कुछ चित्रों पर यशोदा और कृष्ण अंकित हुए हैं। अन्य चित्रों पर अंकित हैं—स्नान करती हुई गोपियाँ, प्रणया-कृतियाँ, हरिणों व पक्षियों को खिलाती हुई स्त्रियाँ, युगल-प्रणय आदि। कुछेक कृतियाँ दुर्गा सप्तशती को चित्रित करती हैं।

५

मण्डी कलम

मण्डी कलम के उद्गम, विकास और उपलब्धियों को ध्यान में रखते हुए यह स्पष्ट हो जाता है कि यह राज्य-प्रश्रय में पनपी लेकिन कलाकार लोक-कला के प्रति सदा ऋणी रहा और उसने ऐसे विषयों को छुआ जो लोक-जीवन की अन्तरंग झाँकियाँ प्रस्तुत करते हैं। इसके क्रमिक विकास के अध्ययन से इस तथ्य की पुष्टि हो जाती है। सुविधा के लिए शिल्प की दृष्टि से मण्डी कलम को तीन भागों में बाँटा जा सकता है :

१. १८०४ तक—लोक-शैली का प्रभाव,

२. १८०४ से १८४६ तक—पड़ोसी शैलियों का प्रभाव,

३. १८४६ से १९१२ तक—पाश्चात्य प्रभाव।

लोक-शैली (१८०४ तक)

स्थानीय लोक-शिल्प, मुहावरे तथा रंग-विधान लिए लोक-कला का प्रथम परिष्कृत रूप राजा केशव-सेन के रूपचित्र (१५९५) के रूप में हमारे सामने आता है। मण्डी स्टेट से सम्बद्ध पंजाब गज़ेटियर के अनुसार उपर्युक्त चित्र सबसे पुराना है। १८०४ ई० तक कतिपय कलाकार अपनी भावनाओं की अभिव्यक्ति या अपने

आश्रय-दाताओं का चित्रण करने में स्वच्छन्द उड़ान लेते रहे। उनकी रेखाओं में अल्हड़पन है तथा सम्पूर्ण अंकन स्थूल है। पर इस अल्हड़पन को शिल्पगत कमी न कहकर शैलीगत विशेषता कहना न्याय-संगत होगा। लोक-कला के निकट होने पर उसकी विशेषता है—भारी, स्पष्ट तथा प्रवहमान रेखाएँ। जहाँ तक रंग-विधान व चयन का संबंध है, इसकी परम्परागत विशेषताएँ स्पष्टतया लक्षित होती हैं जैसे सपाट पृष्ठभूमि व सरल दृश्यों का अंकन, प्राथमिक रंगों का चटकीला प्रयोग इत्यादि।

कई अज्ञात कलाकारों ने इस काल में काफी चित्र बनाये होंगे पर जो चित्र उपलब्ध हैं उनमें से राजा केशवसेन (१५६५-१६३७) के रूप-चित्र के अतिरिक्त राजा सिद्धसेन (१६८४-१७२७) के तीन चित्र तथा राजा समशेरसेन (१७२७-८१) के चित्र का हम विवेचन करेंगे। राजा सिद्धसेन के प्रथम दो चित्र मण्डी राजा के संकलन में रहे तथा तीसरा चित्र श्री ओ० सी० सूद (शिमला) के निजी संकलन में है।

'हिमालयन आर्ट' में उद्धृत एक चित्र में भीमकाय राजा सिद्धसेन अपनी तीन परिचारिकाओं के साथ चित्रित किया गया है। चित्र में राजा को भीमकाय दिखाने के लिए चित्रकार ने उसे परिचारिकाओं के मुकाबले में स्थूलाकार बनाया है। कलाकार ने अपनी सामान्य सूझ-बूझ के आधार पर महल की कल्पना भी की है। उसके लिए फूलों से लदी, झालरदार कपड़े से ढंकी हुई वेदी ही महल है। राजा के गले के आभूषण आज ग्रामीण-से दिखाई देते हैं। परिचारिकाओं का अंकन भी काफी रोचक है। उनके परिधान स्थानीय हैं तथा माथे पर त्रिपुण्ड ध्यान आकर्षित करता है।

सिद्धसेन ने सिद्ध भद्रा व सिद्ध काली के मंदिर तथा सिद्ध गणेश की प्रस्तर मूर्ति बनवाई। सिद्ध गणेश का आकार भी राजा के आकार की तरह स्थूल व विशाल है। ये निर्माण राजा की कलाप्रियता के प्रमाण हैं यद्यपि वास्तुकला की अपेक्षा उनके समय में चित्रकला उन्नत नज़र नहीं आती। 'हिमालयन आर्ट' में उद्धृत राजा सिद्धसेन का एक और चित्र है जो प्रत्यक्ष में किसी दूसरे चित्रकार की कृति लगती है। इसमें राजा को गंगा के किनारे अपने सेवकों के साथ दिखाया गया है। यह चित्र संभवतः चित्रकार ने वास्तविकता के आधार पर बनाया है क्योंकि राजा का आकृति अंकन यहाँ रूपचित्र की-सी विशेषता लिए हुए है। शिल्प की दृष्टि से भी यह चित्र पहले की अपेक्षा सुधरा हुआ है। गंगा की लहरों को चित्रकार ने वक्र समानान्तर रेखाओं में अंकित किया है। राजा व सेवकों के अंकन में पहाड़ी कला के अनुरूप नफासत नहीं।

एक चित्र में राजा सिद्धसेन को अपने अहलकारों और वादकों के समूह के साथ चित्रित किया गया है। संभवतः यह चित्र राजा सिद्धसेन के उपर्युक्त चित्रों से पहले का है। रेखांकन में भारीपन तथा पृष्ठभूमि का हरा, भगवा तथा भूरा रंग इस चित्र की लोक-परम्परा से निकटता का परिचायक है। राजा सिद्धसेन को अन्य लोगों से बड़ा दिखाया गया है जो कि उनके भीमकाय आकार के अनुकूल ही है। राजा के चेहरे पर चेचक के दाग यथातथ्य उभार दिए गए हैं। चित्र में वादकों के परिधान—चोला व पाजामा, वाद्ययंत्र—नगारा आदि सभी स्थानीय हैं।

राजा सिद्धसेन के समय में गुरु गोबिन्दसिंह[1] का मण्डी में आना एक महत्त्वपूर्ण घटना है। वे सत्रहवीं

---

१. गुरु गोबिन्दसिंह के सम्बन्ध में एक किंवदन्ति प्रचलित है। जब वे कुल्लू पहुँचे तो उन्हें वहाँ कैद कर लिया गया था। कुल्लू के तत्कालीन राजा राजसिंह ने गुरु को चमत्कार दिखाने के लिए कहा। गुरु गोबिन्दसिंह ने चमत्कार द्वारा अपनी दाढ़ी बहुत लम्बी बढ़ा ली जिस पर राजा ने मुँह से आग उगलकर गुरु की दाढ़ी को जला दिया तथा उन्हें लोहे के पिंजरे में बन्द कर दिया। कहावत के अनुसार गुरु गोबिन्दसिंह पिंजरे सहित उड़कर मण्डी पहुँचे जहाँ राजा सिद्धसेन ने उनका स्वागत किया।

शताब्दी के अन्त में इस ओर आए थे और मुगल साम्राज्य के विरुद्ध पहाड़ी राजाओं से मदद लेना चाहते थे। गुरु गोबिन्दसिंह मण्डी के राजा से आदर-सत्कार पाकर बड़े खुश हुए और उन्होंने जो वचन दिया वह आज भी लोगों में प्रचलित है—"मण्डी को जो लूटेंगे, आसमानी गोले छूटेंगे।" यही कारण है कि यहाँ राजा रणजीतसिंह के आतंक से मण्डी सुरक्षित रही। व्हीन १८३९ में राजा बलबीरसेन के समय मण्डी आए थे, उन्होंने एक घटना के उल्लेख में इस बात की पुष्टि की है। उन्होंने अपनी पुस्तक 'ट्रैवल' के प्रथम भाग के पृष्ठ ९९-१०० में लिखा है—"लगान शहर से बाहर जमा किया गया और महाराजा का जो अधिकारी था वह शहर के भीतर नहीं घुसा।"

सिद्धसेन के बाद उसका पौत्र समशेरसेन (१७२७-८१) पाँच वर्ष की आयु में गद्दी पर बैठा। उसके नाबालिग होने के कारण सिद्धसेन के अवैध भाई मियाँ जुप्पू ने शासन की बागडोर हाथ में रखी। जब समशेर सेन सिंहासन पर बैठा तो चम्बा के राजा उग्रसेन (१७२०-३५) की लड़की से उसकी मंगनी ठहराई गई। उसके विवाह सम्बन्धी एक चित्र की हम यहाँ विस्तृत चर्चा करेंगे। इस चित्र की परख में भूल हो गई है। यह चित्र ग्रीटिंग कार्ड के रूप में प्रकाशित हुआ है जिसके व्यौरे[१] के अनुसार चित्र रामायण से संबंधित है लेकिन यह उचित नहीं। चित्र निश्चित रूप से समशेरसेन का चम्बा की राजकुमारी (उग्रसेन की पुत्री) से विवाह के एक दृश्य को अंकित करता है। संभवतः यह चित्र मण्डी से उपलब्ध हुआ—जिसके कारण यह मण्डी में बना बताया गया है।

प्रस्तुत चित्र की भूमिका समतल है जिसमें हरे रंग का नीली आभा के साथ प्रयोग हुआ है। इसमें प्रयुक्त अन्य रंग गहरा पीला, गहरा व हल्का हरा, लाल, भगवा और सेपिया आदि हैं। मुख्यतः प्राथमिक रंगों व उनके मिश्रण का प्रयोग हुआ है। यों नीला रंग अलग भी इस्तेमाल हुआ है जो थोड़े से काले रंग के मिश्रण में गहरा सलेटी-सा लगता है। पीला रंग अपनी एक से अधिक टोन में नज़र आता है। पीतल व सोने के लिए जहाँ-तहाँ सुनहरी रंग का प्रयोग हुआ है। घोड़े सामान्य तीन रंगों सफेद, भूरे और नीले में नज़र आते हैं। लेकिन गहरी पृष्ठभूमि में नीला-काला घोड़ा सलेटी रंग में उभरा है। वाद्य-यंत्र विशिष्टतः स्थानीय हैं—नगाड़ा, शहनाई, कनाल। कहारों के पैरों में पहाड़ी क्षेत्रों में प्रचलित जूतियाँ (पोलड़ियाँ) दिखाई देती हैं।

आभूषणों से सुसज्जित लाल, भगवा व गहरे भगवा वस्त्रों से ढकी पालकियाँ पहाड़ी वैभव और परम्परा की परिचायक हैं। इन पालकियों को उठाने वाले कहार अपनी राजकीय वेशभूषा में हैं। जो कोने पर तीन व्यक्ति बैठे नज़र आते हैं वे संभवतः कोई तीन राजा हैं ऐसी पहचान उनके मुकुट से होती है। उनकी वेशभूषा और आभूषणों से भी ऐसी पुष्टि होती है। चित्र की संरचना में लोक-परम्परा की झलक है जो कि चित्र के विभिन्न पहलुओं में जाने-अनजाने उभर आयी है।

राजा सूरमासेन (१७८१-८८) के चित्र में राजा को हुक्का पीते हुए दिखाया गया है। चित्र की पृष्ठभूमि में सपाट हरे रंग का प्रयोग हुआ है। धरती तथा राजा के अंकन में भगवा रंग का अपनी विभिन्न आभाओं में प्रयोग हुआ है। भगवा तथा हरा रंग मण्डी कलम के इस काल में बने चित्रों की विशेषता

---

१. Royal procession, Pahari School, Basohli Kalam (Style) from Mandi State, circa 1750 A. D. A scene from the Ramayana showing royal procession. The stylised facial types and the red colour are characteristic of the Basohli Kalam. Reproduced from the collection of Shri N. Bomon-Behram.

है। रेखांकन स्पष्ट तथा भारी है।

चित्र में राजा को अस्त्र-शस्त्र से लैस दिखाया गया है। उसका इस प्रकार का अंकन उसके व्यक्तित्व का प्रतिनिधित्व करता है। रंग-विधान में लोक-शैली का प्रभाव है पर रेखांकन काफी सूक्ष्म है। आकृति-अंकन संतुलित है और रंगों का प्रयोग कलाकार की दक्षता का परिचायक है।

मण्डी कलम में बने चित्रों के बारे में यह धारणा है कि उन पर बसोहली कलम की छाप है। बहुत से चित्रों को तो बसोहली कलम के अन्तर्गत ही मान लिया गया है। यह दावा मुख्यतः इस काल में बने चित्रों पर किया जाता है। परन्तु जब हम इन चित्रों का नज़दीक से अध्ययन करते हैं तो यह दावा तर्कसंगत नहीं लगता। आरंभिक अवस्था में इसमें भी प्राथमिक रंगों तथा गहरी व स्थूल रेखाओं के माध्यम से चित्रांकन हुआ, जिसे मण्डी कलम पर बसोहली का प्रभाव माना जाता रहा। वास्तव में दोनों ही कलमों—बसोहली तथा मण्डी पर यह प्रभाव लोक-कला का ही है। सांस्कृतिक, सामाजिक तथा आर्थिक सम्बन्ध और भौगोलिक समता से लोक-जीवन और लोक-कला में एकरूपता आ जाती है। इस दृष्टि से बसोहली तथा मण्डी कलमों में उनका दो विभिन्न स्थानों से सम्बन्ध होते हुए भी समता नज़र आयेगी।

१७५० तक मण्डी कलम में पूर्णता व निखार आ गया था। इसी काल में बना राजा समशेरसेन के विवाह का चित्र शिल्प, आकृति-अंकन तथा संयोजन की दृष्टि से काफी परिष्कृत है। यह चित्र इस बात का आभास देता है कि इस काल में मण्डी कलम में सौम्यता आ गई थी। चित्र की आत्मा लोक-कला के अनुरूप ही थी पर उसकी सरंचना लालित्यपूर्ण हो गई थी। राजा सूरमासेन के चित्र भी उपर्युक्त धारणा को काफी हद तक पुष्ट करते हैं।

पड़ोसी शैलियों का प्रभाव (१८०४-४६)

राजा ईश्वरीसेन (१७८८-१८२६) पांच साल की आयु में गद्दी पर बैठा। नाबालिग होने के कारण राजकाज वज़ीर वैरागी राम, जो राजा ईश्वरीसेन से पूर्व राजा सूरमासेन के शिक्षक व मंत्री थे, के हाथों में ही रहा। राजा के सम्बन्धी व मियाँ लोग तो वैरागी राम से पहले ही असंतुष्ट थे। वे लोग मंत्री को अपदस्थ करने के लिए षड्यन्त्र रचने लगे। वैरागी राम ने अपनी सुरक्षा के लिए काँगड़ा के तत्कालीन राजा संसारचन्द से सहायता माँगी। राजा संसारचन्द महत्त्वाकांक्षी और अवसरवादी राजा था। १७९२ में उसने मण्डी पर आक्रमण किया तथा राजा ईश्वरीसेन को बारह साल के लिए टीरा-सुजानपुर में कैद कर लिया। बाद में महल-मोरी नामक स्थान पर राजा संसारचन्द को अमरसिंह थापा के नेतृत्व में गोरखों से हार खानी पड़ी और काँगड़ा वापिस भागना पड़ा। विवश हो राजा संसारचन्द को गोरखों के विरुद्ध महाराजा रणजीत-सिंह से सहायता माँगनी पड़ी।

१८०९ में ज्वालामुखी में गोरखों तथा महाराजा रणजीतसिंह के बीच एक सन्धि हुई। इसके बाद राजा संसारचन्द का पतन आरंभ हो गया तथा काँगड़ा और पंजाब की सभी पहाड़ी रियासतों पर सिक्ख प्रभुसत्ता छा गई।

१८०४ में राजा के मुक्त होने तक मण्डी में अराजकता का चक्र चलता रहा। ईश्वरीसेन के पुनः गद्दी पर बैठने के बाद स्थिति में सुधार होना आरंभ हुआ। और तब राज्य में लोग आने-जाने लगे। ऐसे ही समय में १८०८ के लगभग सजनू नामक चित्रकार कुल्लू से मण्डी आया। यह चित्रकार काँगड़ा का मूलवासी था। कुल्लू के राजा प्रीतमसिंह (१७६७-१८०६) के राज्यकाल में वह काँगड़ा से कुल्लू आया था। वहाँ उसने

राजा के एक भवन शीशमहल में त्रिपुरा सुन्दरी विषयक भित्तिचित्रों का निर्माण किया। इन भित्तिचित्रों का विस्तृत वर्णन कुल्लू कलम के अन्तर्गत किया गया है।

मण्डी में सजनू ने हिन्दी-काव्य 'हमीर-हठ' पर आधारित २१ चित्रों का एक संकलन तैयार किया। 'हमीर-हठ' काव्य में चित्तौड़ के राजा हमीर का अलाउदीन खिलजी से लड़ाई का वर्णन है। इन चित्रों के पिछली ओर उनके विषयों का विवरण है। इन चित्रों में चित्रकार ने आकृति-अंकन इस सूक्ष्मता से किया है कि प्रत्येक आकृति कीव यक्तिगत विशेषताएँ उभर आयी हैं जो चित्रकार की शिल्प-दक्षता का प्रमाण है। 'हमीर-हठ' पर सचित्र लेख पंडित हीरानन्द शास्त्री के नाम से 'इंडियन आर्ट एण्ड इंडस्ट्री' नामक पत्रिका के अक्तूबर, १६१५ के अंक में प्रकाशित हुआ था जिसमें उपर्युक्त चित्र-संकलन से कुछ चित्र प्रकाशित हुए थे।

मण्डी स्टेट से सम्बद्ध पंजाब गज़ेटियर (१६२०) के अनुसार यह चित्र-संकलन मण्डी ट्रेज़री में सुरक्षित था। गज़ेटियर में पौराणिक विषयों पर आधारित चित्रों का भी उल्लेख है। पुराण विषयक चित्रों में दुर्गा के दस रूपों पर बने चित्र सबसे सुन्दर हैं। चित्रों के पिछली ओर दुर्गा के अलग-अलग रूप का आख्यान है जिसे चितेरों ने कूची की अद्‌भुत विशिष्टताओं के साथ उभारा है। जहाँ तक उनके शिल्प पक्ष का सम्बन्ध है उसमें मुगलकाल के उत्तरार्द्ध में पनपी कला के लक्षण बताए जाते हैं।

मार्च, १८२० में पहला यूरोपियन यात्री मूरक्राफ्ट मण्डी से होकर गुज़रा था। स्टेट ट्रेज़री में मूर-क्राफ्ट का भी एक चित्र उपलब्ध रहा। संभवतः यह चित्र मूरक्राफ्ट के मण्डी-आवासकाल में बनाया गया होगा।

सजनू ने राजा ईश्वरीसेन के प्रश्रय में और चित्र भी बनाये। एक चित्र में राजा ईश्वरीसेन के समय के शिवरात्रि मेले का दृश्य अंकित किया गया है। यह चित्र मण्डी गज़ेटियर (१६२०) में प्रकाशित हुआ था। चित्र में राजा ईश्वरीसेन को मेले की भीड़ में अंकित किया गया है। चित्र में स्त्रियों का समूह ध्यान आकर्षित करता है। हिंडोले, हाथी, लोकनृत्य, देव-नृत्य आदि मेले की बहुरंगी झाँकी प्रस्तुत करते हैं। राजा को फर्शी हुक्का पीते हुए दिखाया गया है। पृष्ठभूमि में राजा के महल का दृश्य है। चित्र का हरेक भाग रुचिपूर्ण ढंग से उभारा गया है।

चित्र देखने से प्रतीत होता है कि सजनू इस चित्र को बनाने से काफी पहले मण्डी में आ चुका था। मण्डी के लोक-जीवन में घुलमिल जाने के कारण ही वह सामान्य लोगों का अंकन वास्तविकता के साथ कर सका है। मण्डी के बदार, सनोर व सराज के इलाकों के लोगों का अंकन वास्तविकता के काफी नज़दीक है। ऐसा चित्रण तभी संभव हो सकता है जब कलाकार ने लोक-जीवन का पूर्ण अध्ययन किया हो। संभव है सजनू ने कुल्लू में भी लोक-जीवन से सम्बद्ध चित्रों का निर्माण किया हो। मण्डी के पूर्व-उत्तरी इलाके के लोगों का जीवन काफी कुछ कुल्लू जैसा ही है। उनका पहनावा इत्यादि कुल्लू के पहनावे जैसा तो नहीं पर काफी मिलता-जुलता है। यह प्रभाव यहाँ स्पष्टतया लक्षित है। कुछ देवताओं का चित्रण भी कुल्लू के देवताओं के आधार पर हुआ है। राजा व उसके अहलकारों के अंकन में चित्र काँगड़ा कलम का प्रभाव लिए है। सजनू काँगड़ा का मूलवासी था, कुल्लू में आने से पहले वह राजा संसारचन्द के दरबार में काफी नाम कमा चुका था। राजदरबार के अंकन में संसारचन्द के दरबार की परम्परा उसके दिमाग में थी। राजा ईश्वरीसेन तथा दरबारियों का अंकन काफी हद तक उससे प्रभावित है।

मुख्य प्रभाव इस चित्र पर मण्डी कलम का है, जिसके अन्तर्गत इस चित्र को ठहराया गया है। चित्र का विषय विशिष्टतः मण्डी से सम्बद्ध है। शिवरात्रि मण्डी का मुख्य सांस्कृतिक व पारम्परिक मेला है। वास्तु-

चित्रण भी स्पष्टतया मण्डी का ही है। ढलानदार स्लेट की छतें जिस प्रकार इस चित्र में बनाई गई हैं अब भी मण्डी के दमदमा भवन में देखी जा सकती हैं। लकड़ी की छोटी-छोटी मेहराबों पर बनी इस प्रकार की छतें मण्डी की वास्तुकला की विशेषता रही है।

जहाँ कलाकार ने सामान्य लोगों का अंकन किया है मण्डी चरित्र उभर आया है। दो-चार के झुण्डों में बैठी नारियाँ, हिंडोले झूलते हुए और नगाड़ा बजाते हुए लोग, लोक-नृत्य आदि शिवरात्रि मेले के मुख्य अंग व आकर्षण हुआ करते थे। इस प्रकार विश्लेषण करने पर इस चित्र में हम तीन प्रभाव पाते हैं—काँगड़ा कलम का, कुल्लू कलम का और मण्डी कलम का। लेकिन मण्डी की कलागत विशेषताएँ सर्वोपरि हैं।

वस्तुतः १८०४ के बाद मण्डी कलम का दूसरा पड़ाव आरम्भ हो चुका था। बाहर से आए कलाकारों ने मण्डी-कलम को नये विषय और मुहावरे दिये जिस कारण मण्डी-कलम में काफी निखार आ गया, वह एक नया सौन्दर्य-विधान लिए और भी मुखर हो उठी। इस काल (१८०४-४६) में बने चित्रों की आत्मा तो स्थानीय रही पर अभिव्यक्ति में शिल्पानुगत परिवर्तन आ गया। मण्डी कलम को काँगड़ा कलम ने विशेष रूप से प्रभावित किया पर कुल्लू व बिलासपुर कलमों के छिटपुट प्रभाव भी कहीं-कहीं नज़रअंदाज़ नहीं किए जा सकते। इन बाहरी प्रभावों के कारण मण्डी-कलम को बल ही मिला, वह और भी निखरी परन्तु उसने कभी भी अपनी विशिष्टता को बाहरी प्रभावों में लुप्त नहीं होने दिया। विभिन्न कालों में भिन्न-भिन्न प्रभावों को समेटती यह शैली सदा प्रगतिशील रही, यहाँ तक कि बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में जब पहाड़ी कला समाप्तप्राय हो चुकी थी, मण्डी-कलम रूपचित्रों के रूप में विकसित होती रही।

राजा ईश्वरीसेन की कोई वैध संतान न होने के कारण उसका भाई जालिमसेन १८२६ में गद्दी पर बैठा। उसने १८३९ तक शासन किया। राजा जालिमसेन अपने नाम को पूर्णरूपेण चरितार्थ करता रहा। उसने अपने राज्यकाल के तेरह वर्षों में १५०० मनुष्यों को फाँसी चढ़ाया। मण्डी के इतिहास में यह सबसे दुर्भाग्यपूर्ण काल था।

संभवतः इस काल में कोई मुसलमान चितेरा परिवार यहाँ आकर बसा, जिसे सौभाग्यवश राज-प्रश्रय भी प्राप्त हुआ। राजा जालिमसेन का एक चित्र 'हिस्ट्री ऑफ मण्डी स्टेट' में प्रकाशित है। इसमें राजा को अपने तीन सहायकों—वज़ीर सहाय, देवीसिंह और पुरोहित शिब्बू के साथ चित्रित किया गया है। चित्र की पृष्ठभूमि में शिखायुक्त मेहराबें विभिन्न तलों में नज़र आती हैं जो कि चित्र-दृश्य को गहराई प्रदान करती हैं। मेहराबें षटकोणाकार गोल कढ़ाईदार खम्भों पर टिकी हुई हैं। राजा को हुक्का पीते हुए दिखाया गया है। हुक्का फर्शीदार है। राजा के वस्त्राभूषण आदि विशेषकर पगड़ी और सिर के आभूषण का अंकन काफी सूक्ष्मता और दक्षता से हुआ है।

जालिमसेन ने अपनी मृत्यु से पहले ही राज्य-भार अपने भतीजे बलवीरसिंह को सँभाल दिया था। राजा का यह काम भी उसके और कामों की तरह अजीब था। राजा ने अपना उत्तराधिकारी अपने भतीजे को चुना था जबकि अपने वैध पुत्र मियाँ रघुनाथसिंह को उत्तराधिकार से वंचित रखा।

मियाँ रघुनाथसिंह का एक चित्र पंडित चन्द्रमणि के 'हिमाचल लोक-साहित्य संस्कृति संस्थान' (मण्डी) में उपलब्ध है। यह चित्र पुनः हमें मण्डी की लोक-शैली की याद दिलाता है। गहरे प्राथमिक रंग, स्थूल व वेगपूर्ण रेखाएँ आदि चित्र के कुछ ऐसे अवयव हैं जो परम्परा से प्रभावित नज़र आते हैं। संभवतः यह चित्र किसी ऐसे चित्रकार की कृति है जिसका बाहर के किसी चितेरे से सम्पर्क न रहा होगा। शिल्प की दृष्टि से पहाड़ी कला द्वारा स्थापित मानदण्डों पर यह कृति सामान्य होते हुए भी एक सफल रूपचित्र है। भारी रेखाएँ व गहरे रंग

मियाँ रघुनाथसिंह के व्यक्तित्व को उभारने में सहायक हैं। चित्र का निर्माणकाल १८२६-३९ के मध्य लगता है।

राजा जालिमसेन काली के उपासक थे। उन्होंने जाल्पा तथा टारना के काली-मन्दिरों में भित्तिचित्र बनवाये थे। ये भित्तिचित्र संभवतः मण्डी कलम के सबसे पुराने भित्तिचित्र रहे होंगे। इनमें केवल फूल-पत्तियों तथा बेल-बूटों का ही अंकन हुआ था। जाल्पा मन्दिर शहर के बाहरी भाग में स्थित था जिस कारण वहाँ के भित्तिचित्र उपेक्षित अवस्था में रहे तथा समय के भारी हाथों ने उन्हें नष्ट कर दिया।

टारना मन्दिर लोगों की मान्यता प्राप्त होने के कारण अच्छी हालत में है। मन्दिर के गर्भगृह के चित्रांकन में खनिज रंगों के साथ सोने तथा चाँदी के वर्कों का भी प्रयोग हुआ था। बाहरी भाग में केवल खनिज रंग ही उपयोग में लाए गए थे। गर्भगृह के चित्रों को भित्तिचित्र न कहकर भित्तिसज्जा कहना अधिक उपयुक्त होगा। यहाँ चित्रण नयनाभिराम है और इतने सघन ढंग से हुआ है कि दीवार का कोई भी भाग सज्जा से अछूता नहीं। समय-समय पर सुधार के कारण यह भित्ति-सज्जा अपनी मौलिकता तो खो बैठी है परन्तु अब भी सुरुचिपूर्ण तथा लुभावनी लगती है। मन्दिर के प्रदक्षिणा तथा बाहरी भाग के भित्तिचित्र कुछ साल पहले तक अच्छी हालत में थे, परन्तु अब उन्हें नष्ट कर नये साधारण चित्र बना दिए गए हैं।

जाल्पा तथा टारना मन्दिरों की भित्ति स्थानीय विधि से बनी थीं। दीवार पर पहले चूने, ईंट, उड़द की दाल, कौड़ियाँ तथा भांग की छाल के चूर्ण को मिश्रित करके उसका पलस्तर किया जाता था। इसके बाद भित्ति पर 'फरैस्को-सैक्को' शैली में चित्रांकन कर दिया जाता था।

१८३९ में व्हीन नामक यात्री मण्डी आया। उसने राजा संबंधी विवरण में हल्का-सा ज़िक्र भित्ति-चित्रों का भी किया है, "महल के जिस भाग में मैंने राजा का आतिथ्य ग्रहण किया उसकी हिम-धवल दीवार कुछ समय पहले की भारतीय परम्परा में बने भित्तिचित्रों से सुसज्जित थी।"

उपर्युक्त ब्यौरे के अनुसार ये चित्र निश्चित रूप से राजा जालिमसेन के राज्यकाल में, उनके अंतिम दिनों में बने थे। १८३९ में राजा जालिमसेन की मृत्यु हुई और उसी वर्ष व्हीन भी बलवीरसेन के गद्दी पर बैठने के दो महीने बाद मण्डी पहुंचा था। इन चित्रों का अब कोई अवशेष नहीं।

१८३९ से १८४१ तक का काल मण्डी के राजनैतिक तथा लोक-जीवन के लिए काफी अशान्तिपूर्ण रहा। सिक्ख-हमले के कारण शासन-व्यवस्था बिखर-सी गई थी। १८४६ तक कुछेक पौराणिक विषयों पर आधारित चित्रों के अलावा कोई चित्र नहीं बन पाए। फिर भी इस काल में बने थोड़े-बहुत चित्र मण्डी कलम की विशिष्टतम उपलब्धि कहे जा सकते हैं।

बाला सुन्दरी का एक चित्र पुस्तक में उद्धृत किया जा रहा है। यह कृति संभवतः उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध की कृति है। बाला सुन्दरी दुर्गा के दस रूपों में से एक है। चित्र में देवी की चार भुजाएँ दिखाई गई हैं। एक हाथ में आदि पुस्तक है, दूसरे में रुद्राक्ष की माला। तीसरा हाथ स्मृद्धि-दान का द्योतक है तथा चौथा हाथ अभयदान की मुद्रा में है। चित्र अण्डाकार गोलाई में बना है। चारों कोनों पर बेल-बूटों का सूक्ष्म व सारूप्य अंकन है। रेखाएँ प्रवाहपूर्ण तथा संवेदनशील हैं जो कि चित्र पर काँगड़ा प्रभाव प्रकट करती हैं। फर्श का अंकन भी ध्यान देने योग्य है। चौकोर ईंटों में बारीकी से गुलाब के फूलों का अंकन मुगल-प्रभाव की ओर संकेत करता है। चौकी का तीन आयामों में समितीय अंकन भी मुगल-प्रभाव का लक्षण है। पूजा के उपकरण और मण्डप आदि का अंकन तथा भगवा, लाल तथा हरे रंगों का बाहुल्य स्थानीय विशेषताएँ हैं।

इस काल में मण्डी में देवी विषयक चित्र पर्याप्त संख्या में बने। यह परिपाटी बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध

तक बनी रही।

गज-लक्ष्मी का चित्र भारतीय कला विषय की दृष्टि से काफी महत्त्वपूर्ण है। प्रस्तुत चित्र में कमल पर बैठी लक्ष्मी को चार हाथियों के साथ चित्रित किया गया है। चित्र की लयात्मक अभिव्यक्ति में सन्तुलन है। हाथियों का अंकन बहुत ही दृढ़ता से हुआ है जो कि पहाड़ी कलम में सहज ही देखने में नहीं आया है। नीले रंग का विभिन्न आभाओं में प्रयोग करके कलाकार पानी में लहरें दिखाने में सफल रहा है। पानी में डोलते कमल चित्र को और भी मुखर व लालित्यपूर्ण बनाते हैं। सामान्यतः पहाड़ी चित्रों में मुख्य विषय या पात्र को प्रधानता दी गई है। तदनुसार चित्रण में शरीर-रचना के मानदण्डों की अवहेलना की जाती रही है और मुख्य पात्र का चित्रण अतिशयोक्तिपूर्ण ढंग से हुआ है। इसको हम शिल्पगत न्यूनता नहीं कह सकते, यह तो पहाड़ी कला में अलंकारपूर्ण अभिव्यक्ति लिए एक शैलीगत विशेषता ही है। यह चित्र उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध का है।

सिक्ख-प्रभाव

महाराजा रणजीतसिंह अपने जीवनकाल में अपनी महत्त्वाकांक्षाओं की पूर्ति के लिए राज्य-विस्तार व शक्ति-संचय में ही व्यस्त रहे। पहाड़ी रियासतों में सिक्ख प्रभुसत्ता केवल नज़राने और राजकरों तक ही सीमित रही। राजाओं पर तो सिक्खों की सत्ता का बोलबाला रहा लेकिन यह प्रभाव लोक-जीवन तक न पहुँच सका और चित्रकला भी अप्रभावित ही रही। जहाँ चित्रकार ने अपने आश्रयदाताओं का अंकन किया वहाँ चित्रांकन में सिक्ख चरित्र भी उभर आया है। यह प्रभाव केवल सिक्ख पहरावे तथा सिक्ख जीवन-पद्धति के अंकन तक ही सीमित रहा। शिल्प-पक्ष तथा भाव-पक्ष पर इसका कोई भी प्रभाव नहीं पड़ा। वह अपनी स्थानीय परम्पराओं के अनुसार ही रहा। कहीं-कहीं इस प्रभाव को सिक्ख कलम की संज्ञा दे दी गई है। परन्तु यह केवल अतिशयोक्ति ही कही जा सकती है।

मण्डी के राजनैतिक व लोक-जीवन को सिक्खों के किसी प्रकोप का भाजन नहीं बनना पड़ा। मण्डी कलम पर भी उसकी कोई विशेष छाप नज़र नहीं आती। मण्डी का एक चित्रकार मुहम्मद बख्श १८८० के लगभग गुलेर गया जहाँ उसने तत्कालीन राजा जयसिंह (१८७७-८४) के लिए चित्र बनाए। एक चित्र, जिसमें राजा जयसिंह को अपने पुत्र टीका रघुनाथसिंह तथा दरबारियों के साथ दिखाया गया है, में सिक्ख-प्रभाव उभर आया है। लेकिन यह प्रभाव केवल विशिष्ट पहनावे के अंकन से ही स्पष्ट होता है। यह प्रभाव मुहम्मद बख्श की शैली के अनुरूप नहीं था, यह तो गुलेर के तत्कालीन राज-जीवन का यथातथ्य अंकन था। इस चित्रकार के मण्डी में बने चित्र विशुद्ध परम्परा में देखे जा सकते हैं।

चन्द्रमणि के 'हिमाचल लोक-साहित्य संस्कृति संस्थान' में सिक्ख मत विषयक तीन चित्र गुरु अमरदास (१५५२-७४), गुरु अर्जुनदेव (१५८१-१६०६) तथा गुरु गोबिन्दसिंह (१६७५-१७०८) हैं। ये चित्र संभवतः दस गुरुओं की एक चित्र-शृंखला की कड़ियाँ हैं। तीनों चित्र एक ही माप के हैं तथा एक ही शैली में बने हैं। रंग व शिल्प-विधान से स्पष्ट है कि ये चित्र एक ही चित्रकार द्वारा बनाये गये। इन चित्रों में काफी हद तक एक ही जैसे रंगों का प्रयोग हुआ है, अन्तर केवल इतना है कि वही एक रंग अलग चित्रों में अलग-अलग जगह प्रयुक्त हुआ है। रंगों में मुख्यतः भगवा, लाल, हरा, नीला, जामुनी, पीला, काला और सुनहरा है। इन चित्रों के किनारे गहरे लाल रंग में बने हैं जैसा कि बसोहली के चित्रों में पाया जाता है। रंगों की प्रखरता पर्याप्त रूप से उभरी है और उस पर सुनहरी रंग का उपयोग और भी निखार लाने में सफल हुआ है। चित्र

अच्छी अवस्था में हैं। चित्रों में आकृतियों का बगली चित्रांकन हुआ है। प्रत्येक चित्र में गुरु को तकिए के सहारे बैठा दिखाया गया है। गुरु के साथ एक सेवक हाथ में चंवर (सुरागाय के बालों का बना) लिए खड़ा है।

ये चित्र संभवतः उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम चरण या बीसवीं शताब्दी के आरंभिक दशक में बने लगते हैं। चित्रों का शिल्प विशुद्ध पहाड़ी है, फिर भी इन चित्रों को कलम विशेष के अन्तर्गत अभिहित नहीं किया जा सकता। चित्रों पर कुल्लू कलम का मुख्य प्रभाव लगता है। रंगों का प्रतिपादन इस ढंग से हुआ है कि गहराई का आभास होता है—विशेषकर मुखाकृतियों में—जिससे वे और भी सजीव हो गई हैं। गुरुओं के चित्रों में पहनावा और आभूषणादि भी उनके अनुरूप हैं।

पाश्चात्य प्रभाव (१८४६-१९१२)

सिक्ख-हमले से पहले ही बलवीरसेन गुप्त रूप से पहाड़ी रियासतों के प्रबन्धक असकिन से राज्य-सुरक्षा के लिए पत्र-व्यवहार कर रहा था। ९ मार्च, १८४६ में सिक्ख दरबार तथा ब्रिटिश सरकार के मध्य सन्धि पर हस्ताक्षर हुए, फलस्वरूप सतलुज और ब्यास नदियों के बीच का क्षेत्र (दोआब) ब्रिटिश आधिपत्य में आ गया।

ब्रिटिश प्रभाव मण्डी की राजनैतिक स्थिति पर ही नहीं पड़ा परन्तु इससे लोक-जीवन भी काफी प्रभावित हुआ। मण्डी का वास्तु-शिल्प, रहन-सहन इत्यादि इस प्रभाव में काफी बदले। मण्डी कलम की कलात्मक परम्परा का तो इस प्रभाव में रूपान्तर ही हो गया। आरंभिक वर्षों में तो यह प्रभाव शरीर-रचना, सादृश्य बोध, परिप्रेक्ष्य तक ही सीमित रहा पर कालान्तर में रेखांकन और रंग-विधान भी इससे प्रभावित होने लगे तथा चित्रांकन के साधन पर भी यह प्रभाव छा गया। हाथ से बने कागज़ के स्थान पर कैनवास का प्रयोग होने लगा, स्थानीय खनिज तथा वनस्पति रंगों का स्थान तैल-रंगों ने ले लिया और चित्रकार द्वारा बनाये गए ब्रश पश्चिमी-मण्डियों से आये हॉग-हेयर तथा सेबल-हेयर ब्रश के आगे घटिया लगने लगे।

राजा बलवीरसेन का एक चित्र[१], जिसका निर्माणकाल १८४६-४७ लगता है, कम्पनी-काल का संभवतः सबसे पहला चित्र होगा। इस चित्र में राजा को कुर्सी पर बैठे दिखाया गया है, सामने कुर्सी पर असकिन और राजा के पास फर्श पर गुसांऊ वज़ीर बैठा है।

राजा तथा वज़ीर का बगली अंकन हुआ है परन्तु असकिन का अंकन अर्द्ध-बगली है जो कि पहाड़ी शैली की परम्परा के प्रतिकूल-सा लगता है। सामान्यतः पहाड़ी कलम में रूप-चित्रांकन बगली ही हुआ है। अर्द्ध-बगली अंकन में चित्रकार पूरी तरह सफल नहीं हो सका है, इस अपूर्णता ने चित्र के शिल्प पर काफी प्रभाव डाला है।

पहली बार इस चित्र में तीन आयामों का प्रभाव नज़र आता है। चित्रकार ने परिप्रेक्ष्य और गहराई का बोध भी दिया है। किन्हीं रेखाओं का अंकन लम्बाई, चौड़ाई तथा ऊंचाई का बोध देता है। समतल अक्ष रेखाएँ दूरी तथा लम्ब अक्ष रेखाएँ ऊँचाई का बोध कराती हैं। कमरे की सज्जा जैसे झाड़-फानूस, दरवाज़े, पर्दे और झालरें इत्यादि पाश्चात्य प्रभाव की ओर संकेत करते हैं। खुले हुए दरवाज़े से दूर खड़े वृक्ष दिखाये गये हैं जिनसे हमें गहराई का आभास होता है। ये पूर्णतः पश्चिमी प्रभाव के सूचक हैं। चित्र में स्पष्ट रूप से

---

१. Prof. Man Mohan, A History of the Mandi State, 1930.

यदि स्थानीय लक्षण कहीं नज़र आते हैं तो वह केवल फर्श के अंकन में हैं जहाँ बेल-बूटों का चित्रण है। यह चित्र किसी स्थानीय चित्रकार की कृति नहीं लगती। संभवतः इस चित्र का कलाकार मण्डी आने से पहले ही ब्रिटिश प्रभाव में आ चुका था था। ब्रिटिश प्रभाव लघु-चित्रों तक ही सीमित रहा जिन्होंने बाद में बड़े कैनवास का रूप ले लिया था।

भित्तिचित्र ब्रिटिश प्रभाव से काफी हद तक मुक्त रहे। इसका कारण यह था कि कागज़ या कैनवास पर बने पश्चिमी शैली के चित्रों से स्थानीय चित्रकार अपने लघु-चित्रों के सृजन में प्रभावित हुआ। भित्तिचित्रों तक यह प्रभाव प्रत्यक्ष रूप से न आ सका और परोक्ष रूप से पड़ा प्रभाव भी स्थानीय भित्तिचित्रों की परम्परा में उभार न पा सका।

भित्तिचित्र के निर्माण में पर्याप्त समय लगता था और खर्च भी बहुत आता था। इसलिए यह सम्भव न था कि सामान्य घरों में भित्तिचित्र बनते। जिन घरानों का राजवंश से संबंध रहा, राजप्रासाद के अतिरिक्त वहीं भित्तिचित्र बने।

१८३६ और १८४६ के मध्य राज्य में अव्यवस्था होने के कारण भित्तिचित्र नहीं बन पाए। १८४६ और १८५१ के मध्य मियाँ भागसिंह की हवेली में भित्तिचित्र बने। मियाँ भागसिंह राजा बलवीरसेन के अनुज थे। भागसिंह की हवेली में ड्योढ़ी से ऊपर वाले कमरे के भित्तिचित्र अब भी काफी अच्छी अवस्था में हैं। आजकल यह हवेली 'मोहनसिंह (मियाँ भागसिंह का पुत्र) की हवेली' के नाम से जानी जाती है।

इन भित्तिचित्रों में सबसे ऊपर फूलों की बेल बनी हुई है जो स्थानीय परम्परा की सूचक है। वास्तव में फूल-पत्तियों का दीवारों पर अंकन लोक-कला के अन्तर्गत एक परम्परा रही है। सामान्य घरों में भी गृहिणियाँ अपनी परम्परागत मान्यताओं तथा रुचि के अनुसार भित्ति-सज्जा करती हैं जिसमें प्रायः फूल-पत्तियों के अंकन का बाहुल्य रहता है।

कमरे का जो भाग देखने को मिला उसमें कुल मिलाकर तेरह चित्र हैं। एक बड़े चित्र में, जो अब क्षतिग्रस्त अवस्था में है, तत्कालीन राज्य और नागरिक जीवन की झलकियाँ प्रस्तुत की गई हैं। चित्र के ऊपरी भाग में बाल-शासक, विजयसेन राजगद्दी पर बैठा दिखाया गया है। एक ओर सेना का दृश्य है। सेना में हाथी, घोड़े, पैदल आदि सभी हैं। ब्यास में स्नान करते हुए लोग दिखाई देते हैं। एक ओर बच्चे मदारी का तमाशा देखने में मस्त हैं। इस पैनल में मण्डी नगर के तत्कालीन नागरिक जीवन की सम्पन्नता की एक झलक-सी मिलती है। शहर में अधिकांशतः ज़मींदार लोग रहते थे, जिनका राज्य में बोलबाला था। इन सम्पन्न लोगों में मियाँ (राजवंशी राजपूत) और खत्री जाति के ही अधिकांशतः लोग थे जो किसी न किसी रूप से राजा के कृपापात्र बने हुए थे। शहर में किसी व्यक्ति पर जब राजा प्रसन्न हो जाता था तो उसे गाँव में ज़मीन जागीर के रूप में मिल जाती थी या सदा के लिए नमक मुफ्त में मिलने लगता था ताकि एक अर्थ में उसकी नमकहलाली बनी रहे।

दूसरे चित्र में पौराणिक गाथा से संबंधित लक्ष्मी-नारायण, गरूड़ और हनुमान हैं। तीसरा चित्र मियाँ भागसिंह का है जिसने इस हवेली का निर्माण करवाया था। यह रूप-चित्र काफी प्रभावपूर्ण बना है और अभी तक बहुत अच्छी हालत में हैं। चित्रकार ने इन भित्तिचित्रों में जहाँ भी रूप-चित्र बनाए हैं वे बहुत ही अच्छे ढंग से बने हैं जो रूप-चित्रांकन में चित्रकार की दक्षता का प्रमाण है। चौथा चित्र काली-दहन का है। पाँचवाँ राधा-कृष्ण का है। इससे अगले पैनल में दो चित्र हैं—पहला पंचवक्त्र महादेव का, दूसरा कृष्ण-लीला का है। कृष्ण-लीला का दृश्य काफी रूमानी बन पड़ा है। यमुना में स्नान करती हुई गोपियों के वस्त्र उठाकर कृष्ण पेड़ पर

चढ़ गया है। कुछ गोपियाँ लज्जावश अपने आप में सिकुड़ गई हैं और अन्य परस्पर लिपट गई हैं। अन्य चित्र-विषय राज-राजेश्वरी (भूतपूर्व मण्डी रियासत की इष्टदेवी), काली, शिव-पार्वती और राधा-कृष्ण का नायक व नायिका के रूप में मिलन आदि हैं।

ये भित्तिचित्र टैम्परा प्रणाली में बने हैं। इन भित्तिचित्रों का कलाकार संभवतः मुहम्मदी रहा होगा। मुहम्मदी राजा बलवीरसेन और विजयसेन की दो पीढ़ियों का चित्रकार रहा। संभवतः मुहम्मदी के पूर्वज अवध से राजा जालिमसेन के समय मण्डी में आकर बसे थे। यह चित्रकार आकृति-चित्रण, विशेषकर रूप-चित्रण में बहुत सिद्धहस्त था। इसका छोटा भाई हयात भी कलाकार था। ऐसा विचार किया जाता है कि मण्डी में अनेक भित्तिचित्र मुहम्मदी के बनाए हैं। बड़ा भाई मुहम्मदी चित्रकार के रूप में प्रसिद्ध हुआ और छोटे भाई हयात की संगीत में रुचि रही, विशेषतः सितार-वादन में उसे कमाल हासिल था।

मुहम्मदी मण्डी से बाहर मुहम्मद बख्श के नाम से जाना गया। उसके एक चित्र 'ब्रह्मा-ब्रह्माणी' का विश्लेषण कलाकार की व्यक्तिगत शैली को समझने में सहायक सिद्ध हो सकता है। यह चित्र चन्द्रमणि (मण्डी) के निजी संकलन में है। चित्र में ब्रह्मा तथा ब्रह्माणी कमलासन पर कोणाकार चौकी पर बैठे हैं। ब्रह्मा को चार भुजाओं में दिखाया गया है। प्रत्येक हाथ विभिन्न मुद्रा में है। ब्रह्माजी के एक हाथ में कमल है, और दूसरा हाथ ब्रह्माणी के कन्धों पर टिका है। चित्र की पृष्ठभूमि आसमानी नीले रंग में है। आकृति-अंकन में लाल, पीले, नीले, सुनहरी आदि रंगों का प्रयोग हुआ है। चित्रकार इस चित्र में लघु-चित्र परम्परा से आगे निकल गया है, ब्रिटिश प्रभाव में चित्र का आकार भी बढ़कर १५" × १७½" हो गया है।

आकृति-अंकन में चित्रकार शरीर-रचना तथा सारूप्य-बोध के बारे में सजग है। रेखाओं का प्रवाह भी इसी के अनुकूल हुआ है। आकृतियों में गहराई लाने के लिए चित्रकार रंग-प्रतिपादन में पूर्णतः सफल रहा है। कमल का अंकन भी चित्रकार की सामान्य सूझ-बूझ का प्रमाण है। वस्त्र तथा अलंकारों का सूक्ष्म और सघन अंकन इस चित्रकार की व्यक्तिगत विशेषता थी।

पाश्चात्य प्रभाव में रेखाएँ अब रंग में ही लुप्त होना आरंभ हो गई थीं जिससे इस चित्र में भी रेखाओं के गहरेपन का स्थान कोमलता ने ले लिया है और सपाट रंग के स्थान पर विभिन्न रंगों के प्रतिपादन ने। रेखांकन भी अब अधिक ज्यामितिक तथा संतुलित हो गया है।

इस चित्र का रचना-काल उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध का अंतिम दशक लगता है।

१८७१ में वायसराय लार्ड मेयो मण्डी आये। उनके स्वागत के लिए तत्कालीन राजा विजयसेन (१८५१-१६०३) ने नये महल का निर्माण करवाया। इस भवन का निर्माण मुगल-वास्तुकला के रंगमहलों की दिशा में हुआ था। इसकी सज्जा के लिए भित्तिचित्र भी बनाये गये जो मण्डी भित्तिचित्र परम्परा की विशिष्ट उपलब्धि थी। इस भवन में भीतरी भाग के चित्रण में आकृतियों का भी समुचित अंकन हुआ था परन्तु बाहरी भाग में केवल बेल-बूटों तथा पशु-पक्षियों के अंकन के अलावा छिटपुट मानवाकृतियों का ही अंकन था। भित्तिचित्रण काफी सघन था और काफी हद तक मुगल शैली से प्रभावित था जो उसकी प्रत्यक्ष दक्षता तथा सूक्ष्मता से स्पष्ट होता था। इन भित्तिचित्रों में मुगल वेशभूषा तथा हाथ में तन्तु-वाद्य यन्त्र लिए परियों का अंकन मुगल प्रभाव की ओर स्पष्ट निर्देश करता है। १६६२ में अग्नि के भयानक विस्फोट के कारण यह नया महल जलकर भस्म हो गया।

उपर्युक्त भित्तिचित्रों के निर्माण-काल के आस-पास दमदमा भवन के निचली मंजिल के बाहरी भाग में भी भित्तिचित्र बने। दमदमा भवन राजा सूरजसेन (१६३७-६४) ने बनवाया था। इस भवन में बने

चित्र भी नये महल के बाहरी भाग में बने चित्रों जैसे ही हैं। इसमें भी परियों तथा पशु-पक्षियों का अंकन मुगल शैली का प्रभाव लिए है। पक्षियों में चकोर, मोर और कोयल आदि पक्षियों का अंकन हुआ है। समय के आघातों से क्षतिग्रस्त साजसज्जायुक्त दीवारें आज भी देखी जा सकती हैं। ये चित्र मुहम्मदी द्वारा तथा उसकी देख-रेख में उसके शिष्यों द्वारा बनाये गये थे। भित्तिचित्र एक से अधिक चित्रकारों की व्यक्तिगत शैली में बने नज़र आते हैं।

१८६० तक कैमरा भारत में प्रवेश कर चुका था और विक्टोरियन स्टाइल के छायाचित्र दिल्ली से बाहर भी पहुँचने लगे थे। १८८० तक छायाचित्रों का यह प्रभाव मण्डी कलम में प्रवेश पा चुका था। फोटोग्राफी से प्रभावित मण्डी कलम को नयी दृष्टि मिली। पड़ोसी कलमों से प्रभावित मण्डी कलम ब्रिटिश प्रभाव में पहले ही अपनी निजी विशेषताएं खो रही थी और अब आकृतियाँ भी अलग-अलग स्थितियों में अंकित होने लगीं। फलतः चेहरे विभिन्न दिशाओं में उन्मुख नज़र आने लगे। दो विभिन्न कलात्मक मान्यताओं और मानदण्डों का यह मिलन आरंभ में काफी अटपटा रहा और चित्र अस्वाभाविक-से लगने लगे। बाद में छायाचित्रों के गुण और विशेषताओं ने स्थानीय परम्पराओं व मानदण्डों को बहुत अधिक प्रभावित कर लिया। बीसवीं शताब्दी के आरम्भिक दशकों में यह प्रभाव पहाड़ी कला पर पूर्ण रूप से छा गया। अन्ततः पहाड़ी कलम के विलोप का मुख्य कारण पश्चिमी प्रभाव तथा कैमरा बना, इस तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता।

मुहम्मदी (मुहम्मद बख्श) १८८० के लगभग गुलेर गया जहाँ उसने गुलेर के तत्कालीन राजा जयसिंह के लिए कुछ चित्र बनाये। राजा जयसिंह तथा रघुनाथसिंह की प्राथमिकता लिए हुए एक सामूहिक चित्र है जिसमें मुहम्मदी की निजी शैली पर छायाचित्रों का प्रभाव स्पष्ट होता है। विभिन्न दिशाओं में उन्मुख चेहरे पहाड़ी शैली के अनुकूल नहीं बने हैं। मुहम्मदी के चित्रांकन की व्यक्तिगत विशेषताएँ जैसे वस्त्राभूषणों का सूक्ष्म व सघन अंकन इस चित्र में भी परिलक्षित हुआ है।

उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम दशक के लगभग मुहम्मदी का देहान्त हो गया। उसके बाद मण्डी में कला-परम्परा को गाहिया नरोत्तम तथा मोतीराम राजड़ा ने प्रवहमान रखा।

गाहिया नरोत्तम का जन्म मण्डी के एक ब्राह्मण परिवार में हुआ था। इनके पिता का नाम गाहिया था। मण्डी में नरोत्तम नाम के कई लोग होने के कारण इन्हें गाहिया नरोत्तम पुकारा जाने लगा था।

मोतीराम राजड़ा मण्डी के निम्नवर्गीय परिवार में पैदा हुआ। मण्डी में अकसर पत्थर का काम करने वाले को राज कहा जाता है। इसके पूर्वज राज का काम करते थे जिससे इसके नाम के साथ राजड़ा जुड़ गया। वैसे इस विशेषण से यह भ्रांति फैलती है कि वह चित्रकार के अतिरिक्त पत्थर का कारीगर भी रहा होगा। अन्य पहाड़ी रियासतों में भी चित्रकारों के साथ मिस्त्री विशेषण लगा मिलता है परन्तु उन्हें केवल चितेरे के अतिरिक्त कुछ और नहीं समझना चाहिए।

१८८० के बाद मण्डी में कागज़ का स्थान कैनवास ने ले लिया था और स्थानीय खनिज तथा वनस्पति रंगों के स्थान पर तैल-रंगों का प्रयोग होने लगा था। मण्डी में राजाओं के तैल-चित्र जो संभवतः इस समय बनना आरम्भ हो गये थे मुहम्मदी तथा गाहिया नरोत्तम की ही कृतियां थीं। मुहम्मदी की मृत्यु के बाद गाहिया नरोत्तम बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक चित्र बनाते रहे। कुछ वर्ष पहले तक ये चित्र स्थानीय दरबार हाल में प्रदर्शित रहे।

गाहिया नरोत्तम एक प्रतिभावान् कलाकार थे जिन्होंने अपनी कला-शैली और कला विषय दोनों को ही प्रवहमान रखा था, यह उनके विभिन्न चित्रों के अनुशीलन से स्पष्टतः दृष्टिगोचर होता है। आरम्भ में

उन्होंने पहाड़ी कला की थाती को संभाला लेकिन जिस युग में उन्होंने कला की यह थाती संभाली उस युग में पहाड़ी-कला की परम्परा ह्रासोन्मुख हो चुकी थी। प्रतिभा परिस्थितियों से चुनौती ग्रहण करती है और युग की माँग के अनुकूल मुखरित होती है। मण्डी के अनेक सम्भ्रान्त परिवारों में गाहिया नरोत्तम के बनाये पौराणिक विषयों पर चित्र व रूपचित्र देखे जा सकते हैं। आज की पीढ़ी उन्हें भूली नहीं है। उन्हें राज्य-प्रश्रय तो प्राप्त था ही लेकिन कला को उन्होंने आजीविका का साधन भी बराबर बनाये रखा। गाहिया नरोत्तम ने मण्डी के तीन शासक राजा विजयसेन, राजा भवानीसेन और राजा जोगिन्द्रसेन के युग को अपनी कलाकृतियाँ दी थीं। उनकी बीसों कलाकृतियाँ आज भी मण्डी में देखी जा सकती हैं। लेकिन किसी स्थानीय म्यूज़ियम के अभाव में उनका भविष्य सुरक्षित नहीं।

यहाँ हम गाहिया नरोत्तम के दो चित्र उद्धृत कर रहे हैं। पहला चित्र राजा भवानीसेन के राजगुरु हिमांशु पंडित का है जो चित्रकार ने जीवन के अन्तिम दिनों में बनाया था। दूसरा चित्र विषय एवं शैली दोनों ही दृष्टिकोणों से अत्यन्त आकर्षक एवं परिपक्व है। कलाकार की कलम परम्परा को सहेजते-सहेजते एक करवट ले बैठी है, यह चित्र उसी मनोस्थिति का द्योतक है। लेकिन यहाँ कलाकार ने पूर्णरूपेण न परम्परा को त्यागा है, न वह आधुनिकता की आँधी में ही बहा है। उसने परम्परा और आधुनिकता में विषय और शैली की दृष्टि से एक सन्तुलन प्रस्तुत किया है जो अत्यन्त आकर्षक प्रतीत होता है।

मुगल शैली में बने कामेश्वर शिवालय में भी भित्तिचित्र बने थे। इन भित्तिचित्रों में अधिकतर बेल-बूटों का ही अंकन हुआ है परन्तु जहाँ भी मानवाकृतियाँ चित्रित हुई हैं—विषयों पर मुगल प्रभाव उभर आया है, हुक्का पीती हुई एक औरत का पहरावा तथा हुक्के की बनावट स्पष्टतः मुगल ढंग से हुई है। ये भित्तिचित्र मोतीराम राजड़ा ने आरंभिक दिनों में बनाये होंगे क्योंकि इस कलाकार के बाद के बने भित्ति-चित्रों में मुगल प्रभाव नज़र नहीं आता। दमदमा के निकट भवानी निवास में भी इस कलाकार ने भित्तिचित्र बनाये थे लेकिन वे अधिक सुन्दर नहीं थे, फिर भी रेखाओं का प्रवाह, रंगों की आभा और उसकी समूची कलात्मकता मण्डी कलम के अनुकूल ही थी।

हरिजन के पुत्र गोवर्धन कायस्थ राजा विजयसेन के मुसाहिब थे। उन्होंने हरिजस हवेली के पूजा के कमरे में मोतीराम राजड़ा से भित्तिचित्र बनवाये। इन चित्रों में दुर्गा, शिव-पार्वती, लक्ष्मी, गणेश आदि पौराणिक विषयों का अंकन हुआ है। एक छोटे-से पैनल में राजा विजयसेन का रूप-चित्र भी बना है। टैम्परा प्रणाली में बने इन चित्रों में नफासत नहीं है।

१६०५ के विनाशकारी भूचाल से कई भवन नष्ट हो गये जिनके साथ ही उनमें बने भित्तिचित्र तथा लघुचित्र संग्रह भी विलुप्त हो गये। जो कुछ इस दैवी प्रकोप से बचा उसे १६१६ की भयंकर आग अपने में समेट गई। इस आग ने तो स्टेट-संग्रहालय को बिलकुल भस्म कर दिया था। फिर भी जो कुछ प्राकृतिक प्रकोपों तथा समय के आघातों से बचकर उपलब्ध हुआ है उसी से हम मण्डी कलम की उज्ज्वल कलात्मक परम्परा की झलक पा सकते हैं।

६

जम्मू व पुंछ कलम

जम्मू कलम

जम्मू की स्थापना मध्ययुग में हुई। पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्त तक यह उत्तरी हिमालय की पहाड़ियों में सबसे बड़े राज्य के रूप में विकसित हुआ। अठारहवीं शताब्दी के राजा ध्रुवदेव (१७०३-३५) बड़े महत्त्वाकांक्षी शासक थे। उन्होंने पास-पड़ोस के राज्यों को हथियाने के प्रयत्न किए और उनके उत्तराधिकारी राजा रणजीत देव (१७३५-८१) ने भी उसी नीति का पालन किया। इस विस्तारवादी नीति के कारण उन्होंने चिनाब और रावी नदी के बीच के समस्त इलाके पर अधिकार कर लिया था। इनके प्रभाव में किश्तवाड़, भद्रवाह, मनकोट, बन्धालटा, बसोहली और जसरोटा नामक रियासतों पर भी पड़ा। १७४८ में जम्मू राज्य ने अफगानों के साथ सहयोग किया जिसका अर्थ था कि राज्य बाहरी सत्ता के साथ सहयोग करने में अपनी स्वतंत्रता और महत्ता समझता था। १७५२ में जब पंजाब में मुगलों का प्रभुत्व पूर्ण रूप से खत्म हो चुका था तो रणजीत देव ने भी अपने राज्य से बाहरी सत्ता का प्रभुत्व समाप्तप्राय समझ लिया। उनके काल में जम्मू राज्य में अपेक्षतया शान्ति बनी रही और यह शान्ति का समय जम्मू नगर की प्रगति और सम्पन्नता के लिए विशेषतया अनुकूल रहा। बहुत से मुगल विस्थापितों ने यहाँ आकर आश्रय लिया और उनके धनी-मानी

व्यापारी भी यहाँ आकर बस गये। लेकिन उनके राज्य के अन्तिम चरण में सिक्खों की बढ़ती हुई सत्ता से उन्हें चिन्ता होनी स्वाभाविक थी। सिक्खों ने जब उनसे नजराने की माँग रखी तो वह उन्हें दे दी गई। उसके बाद उसके पुत्र बृजराज देव ने सिक्खों के प्रभाव से मुक्त होना चाहा लेकिन उसके प्रयास सफल न हो सके। इन झटकों और झकोलों का असर सबसे अधिक बृजराज देव के उत्तराधिकारी पर हुआ जिससे जम्मू राज्य का प्रभाव और प्रतिष्ठा क्षीण होती गई।

कला के उद्भव और विकास के लिए शान्तिपूर्ण परिस्थितियों की अपेक्षा रहती है। अठारहवीं सदी में जब जम्मू राज्य अपने प्रभुत्व और प्रतिष्ठा को स्थापित कर चुका था तो यह कुछ स्वाभाविक था कि वह पहाड़ी कला के लिए भी एक उपयुक्त आश्रय बना होगा। बाहर से कुछ चितेरे इस ओर स्वभावत: आकर्षित हुए होंगे। ऐसा मत कुमारस्वामी का है। लेकिन जम्मू को निश्चित रूप से किन्हीं चित्रों का जन्मस्थान बताना कठिन है क्योंकि अभी तक भी इस सम्बन्ध में निश्चित रूप से कोई प्रमाण नहीं जुटाए जा सके हैं। इस समस्या पर अजित घोष का एक लेख 'राजपूत चित्रकला की बसोहली कलम' १९२९ में 'रूपम' में प्रकाशित हुआ था। तब से यह धारणा भी बनी कि जिन चित्रों को जम्मू से सम्बन्धित बताया जाता रहा है, उनका जन्म सम्भवत: बसोहली में ही हुआ। चार चित्र ऐसे उपलब्ध हैं जिनमें राजा बलवन्त देव को चित्रित किया गया है। इनसे इतनी-सी बात की पुष्टि होती है कि अठारहवीं सदी के कुछ वर्ष तक यहाँ भी चित्रकला सम्बन्धी कुछ गतिविधि रही होगी। यह भी हो सकता है कि एक-दो चितेरे इस काल में यहाँ रहे हों। बलवन्त देव का एक अन्य चित्र ऐसा भी उपलब्ध है जिसमें टाँकरी में लिखे कुछ संकेत मिलते हैं। चित्र पर तारीख तेरह जेठ विक्रमी सम्वत् १८०५ अंकित है। 'महाराजा श्री बलवन्तसिंह' भी इस पर लिखित है। इससे यह भी पता चलता है कि जसरोटा वाले नैनसुख द्वारा यह चित्र तीन दिन में पूरा किया गया। दो अन्य चित्र भी इसी शैली में मिलते हैं जिनमें से एक 'द आर्ट ऑफ इंडिया एण्ड पाकिस्तान' (The Art of India & Pakistan) में प्रकाशित हुआ है। ये दोनों ही चित्र डब्ल्यू० जी० आर्चर द्वारा लिखित 'इंडियन पेंटिंग इन द पंजाब हिल्स' में चित्र संख्या ३७ और ४० के अंतर्गत प्रकाशित हुए हैं। चित्र संख्या ३७ में राजा बलवन्तसिंह का नर्तक और संगीतकार मनोरंजन करते हुए दिखाई दे रहे हैं। चित्र संख्या ४० में जसरोटा के मियाँ मुकुन्द देव घोड़े पर सवार कुछ अन्य घुड़सवारों, वाद्यकों तथा पत्नी के साथ भ्रमण करते दिखाई पड़ रहे हैं। दोनों चित्र १७५० के बने बताये गये हैं। एक अन्य चित्र 'मियाँ श्री बृजराज देव' का है। यह नाम चित्र पर टाँकरी लिपि में अंकित है। बृजराज देव राजा रणजीत देव के सबसे बड़े पुत्र थे। इस चित्र का कलाकार भी नैनसुख ही माना गया है। यह चित्र काँगड़ा, गुलेर और बसोहली के श्रेणीबद्ध चित्रों से भिन्न है। इसलिए भी यह जम्मू से सम्बन्धित प्रतीत होता है।

जम्मू शैली में जिस प्रकार राजप्रासादों का अंकन हुआ है वैसा गुलेर कलम में नजर नहीं आता। पहाड़ी चित्रकला ने जिस-जिस स्थान और जैसे-जैसे वातावरण में प्रवेश किया वह स्थानीय आवश्यकताओं और आश्रयदाता की रुचि के अनुकूल ढलती गई है। जम्मू और गुलेर कलम में किसी हद तक जो समानता नजर आती है, उसे दृष्टिगत रखते हुए यह अनुमान लगाया जाता रहा है कि संभवत: इन दोनों ही स्थानों से नैनसुख का सम्पर्क रहा है। गोवर्धनसिंह के जो चित्र उपलब्ध हैं वे नैनसुख की कलाकृतियों से मिलते-जुलते हैं। जम्मू में केवल इनेगिने चित्र ही पाये गये हैं। इसके विपरीत गुलेर कलम में पर्याप्त चित्र उपलब्ध हैं। इससे कुछ ऐसा अनुमान लगता है कि नैनसुख गुलेर से जम्मू गये होंगे और थोड़ा-सा अर्सा वहाँ रहकर पुन: गुलेर लौट आये होंगे।

जम्मू के राजा रणजीत देव (१७३५-८१) पर उसके शासन के अन्तिम चरण में सिक्खों का प्रभुत्व बढ़ गया था। इसीलिए जम्मू कलम के कुछ चित्रों पर सिक्खों का प्रभाव नज़र आता है। राजा बृजराज देव (१७८१-८७) सिक्खों से लड़ाई में मारे गये थे। उनके पुत्र सम्पूर्ण देव (१७८७-९७) के राज्यकाल के अन्तर्गत जम्मू सिक्खों के अधिकार में चला गया था। यह अधिकार १८१२ तक रहा जब रणजीतसिंह ने जीतदेव को गद्दी से उतारकर उसके लड़के खड़गसिंह को गद्दी संभाल दी। ऐसी राजनैतिक अस्थिरता और अव्यवस्था में कलाकारों का वहाँ बसे रहना मुश्किल था। वे अब मैदानों की तरफ भागने लगे थे। लेकिन कुछ ऐसे भी प्रमाण मिले हैं कि जब मैदानों में उन्हें कोई सुरक्षित आश्रय न मिल पाया तो वे काँगड़ा ही लौट आये हैं और वहीं अपने कला-सृजन में जुटे रहे।

पहाड़ी कला से सम्बन्धित चित्रों में कलाकारों के नाम अंकित नहीं हैं। यदि कहीं ऐसे नाम मिले भी हैं तो वे परम्परा से हटकर ही हैं। यहाँ एक स्थान पर नैनसुख का उल्लेख है। नैनसुख के सम्बन्ध में जो अधिक जानकारी मिलती है वह इस प्रकार है : नैनसुख मानक का दूसरा पुत्र था। मानक अपने पिता पंडित सेओ का सबसे बड़ा लड़का था। मानक के एक पुत्र का नाम खुशाला था। कामा, गौहू, निक्का और रामलाल नैनसुख के लड़के थे। एक अर्से तक एक परिवार का अनेक पीढ़ियों में कलाकार होना बहुत बड़ी बात है। यह निश्चित है कि यदि आज के ज़माने में ऐसे सधे हुए कलाकार किसी एक ही परिवार से हों तो उसे विश्व-स्तर मान्यता मिलना कठिन नहीं।

पुंछ

यह रियासत पंजाब की पहाड़ियों के पश्चिमी छोर पर स्थित है। काँगड़ा, बसोहली, गुलेर और जम्मू में जहाँ हिन्दू राजाओं की परम्परा पन्द्रहवीं सदी के मध्य से बनी हुई थी वहाँ पुंछ में इस्लाम राज्य-धर्म था। यों ये शासक जोधपुर के राठौर राजपूत थे जिन्होंने बाद में इस्लाम धर्म ग्रहण कर लिया था। १८१३ में सिक्खों ने इस राज्य पर आक्रमण कर विजय पायी और उसका इस्लामी दरबार खत्म कर दिया। १८४४ तक राजा गुलाबसिंह सिक्खों के प्रतिनिधि के रूप में इसके शासक रहे, लेकिन वह कभी-कभार ही यहाँ रहने के लिए आए। राजा मोतीसिंह के अधीन पुंछ को पर्याप्त स्वतन्त्रता मिली। पुंछ रियासत अपने आप में विचित्र रही—इसकी देहाती जनता अधिकांशतः मुसलमान थी, लेकिन राजधानी में हिन्दू अधिक थे। इसके अतिरिक्त १८१३ तक इसके दरबार पर मुसलमानों का आधिपत्य रहा और उसके बाद हिन्दुओं का।

पुंछ की कला की ओर सबसे पहले जे० सी० फ्रेंच आकर्षित हुए। वे जब १९२२ में वहाँ पहुँचे तो उन्हें राजप्रसाद में भित्तिचित्र देखने को मिले। ये चित्र राधा और कृष्ण को लेकर काँगड़ा शैली में थे। फ्रेंच का अनुमान था कि ये चित्र १८२० के बाद बने। यह तो स्पष्ट ही था कि काँगड़ा कलम के बढ़ते चरण इन दूर-दराज़ इलाकों में भी पहुँचे। लाहौर स्थित सेन्ट्रल म्यूज़ियम में चार ऐसे चित्र थे जिनसे पुंछ कलम के आरंभ का परिचय मिलता है। ये चित्र पुंछ में ही उपलब्ध हुए थे। श्री डब्ल्यू० जी० आर्चर[1] का मत है कि १७५५ के आसपास बने गुलेर कलम के चित्रों से ये अंशतः मिलते-जुलते हैं। उन्हीं की पुस्तक 'इंडियन पेंटिंग इन द पंजाब हिल्स' में चित्र संख्या ६३ में महाभारत का एक दृश्य अंकित है। यह चित्र गुलेर कलम के चित्र 'द्रौपदी चीरहरण' से मिलता-जुलता है। इन दोनों चित्रों को देखकर ऐसा लगता है कि यदि १७७५-८० के लगभग

१. W. G. Archer, Indian Painting in the Punjab Hills, Her Majesty's Stationery *Office, London*, 1952, *p.* 71.

गुलेर के चितेरे काँगड़ा और चम्बा की ओर चले आये थे तो इससे कुछ पूर्व कुछ चितेरे पुंछ की ओर भी निकल गये होंगे। यह समय १७७० के लगभग रहा होगा जब राजा गोवर्धनसिंह बूढ़े हो चुके थे। यदि अधिक नहीं तो गुलेर का एकाध चितेरा पुंछ में अवश्य आया होगा।

उपर्युक्त चित्रों के अतिरिक्त उसी शैली के अन्य चित्र 'विक्टोरिया एण्ड अलवर्ट म्यूज़ियम' में मिलते हैं जो डब्ल्यू० जी० आर्चर लिखित 'इंडियन पेंटिंग इन द पंजाब हिल्स' में चित्र संख्या ६१, ६६, ६६ और ७० में प्रकाशित हैं। इन सातों चित्रों की रूमानी अभिव्यक्ति द्रष्टव्य है और ये आकृतियाँ भी गुलेर कलम से मेल खाती हैं। केवल थोड़ा-सा जो भेद नज़र आता है वह इस प्रकार है—भौंहें गोलाई में कुछ अधिक हैं और नख-शिख में कुछ अधिक तीव्रता है। पेड़ और भवन अपने आकार में गुलेर के उन चित्रों से मिलते-जुलते हैं जब वे अभी पूर्णतया काँगड़ा कलम के रूप में नहीं उभरे थे। रंगों की ओर ध्यान देने पर भी कुछ भेद नज़र आते हैं। इन सब बातों से एक बात स्पष्ट होती है कि यदि पुंछ के चित्रों पर गुलेर का प्रभाव लक्षित है तो यह भी सुनिश्चित रूप से माना जा सकता है कि पुंछ कलम अपनी स्थानीय विशेषताओं को लेकर भी उभरी।

लाहौर म्यूज़ियम में जिन चार पुंछ चित्रों का संकलन मिलता है, उनके अतिरिक्त अभी तक अन्य चित्र नहीं देखे गये। दो चित्र ऐसे हैं जिनमें नायिका कुर्सी पर बैठी है और एक नौकरानी टोपी पहने हुए है। इनसे पुंछ कलम पर इस्लामी प्रभाव का भी पता चलता है। एक अनुमान यह है कि गुलेर से पहले ही कोई मुगल-प्रभावित शैली यहाँ रही है। एक चित्र पर जमील नामक मुस्लिम चितेरे का फारसी में हस्ताक्षर भी अंकित है और इस नाम का चितेरा अन्यत्र भी पहाड़ी कलम के साथ सम्बद्ध नहीं है।

१७७०-८० तक का ऐसा समय रहा जब पुंछ कलम पर गुलेर कलम का प्रभाव परिलक्षित होता है लेकिन इस कलम को छोड़कर अठारहवीं सदी के उत्तर में स्थानीय शैली पनपती नज़र आती है। १८१३ में सिक्खों के आक्रमण से यह विकास न केवल रुक ही गया अपितु इसकी समाप्ति ही हो गई। पहाड़ी कला की कोई भी शैली अपने आश्रयदाता के उत्थान के साथ फलती-फूलती रही है और उनके पतन के साथ विलुप्त होतीं गई है। वही हाल पुंछ शैली का भी हुआ। जब पुंछ राज्य की सत्ता सम्बन्धी स्वतंत्रता समाप्त हुई तो पुंछ शैली भी अपने आप में एकदम सिमट-सी गई मालूम होती है। इस सम्बन्ध में आर्चर का कथन है, 'राजनैतिक स्वतंत्रता का खोया जाना ही वास्तव में सबसे बड़ा कारण लगता है जिससे चित्रकला की स्थानीय शैली समाप्त हुई। इस विकास से हमें अधिक आश्चर्य नहीं होना चाहिए, क्योंकि यदि समस्त पंजाब की पहाड़ियों में स्थानीय शैलियों के लुढ़कने के लिए कोई एक तत्त्व उत्तरदायी दिखाई पड़ता है तो वह स्थानीय गौरव का बोध और प्रेषण सम्बन्धी कला की क्षमता है।'[१]

छोटी-छोटी पहाड़ी रियासतों में कला का पनपना एक महत्त्वपूर्ण बात है। वास्तव में इन छोटी रियासतों में कलाकारों को राजाओं का अधिक सामीप्य प्राप्त था। यही कारण था कि कुछ राजाओं की रुचि और

---

१. The loss of political independence seems in fact to have been the prime factor which brought the local style of painting to an end. Such a development need not greatly surprise us for, if there is any one factor which seems to account for the complex welter of local styles throughout the Punjab Hills, it is the ability of art to interpret and sustain a sense of local pride.

W. G. Archer, Indian Painting in the Punjab Hills, London, 1952, p. 84.

कुछ स्थानीय विशेषता ने कला को विशिष्ट आकार दिया है और स्थानीय शैली के निर्माण व निखार में सहायक हुई हैं। जो बड़े राज्य थे वहाँ कला अवश्य पनपी है लेकिन स्थानीय विशिष्टता वहाँ कलाकारों के लिए राजवैभव की चमक-दमक में संभव न हो पायी अपितु बाह्य आकर्षण समेटने में ही वे अधिक सक्षम हुए।

आर्चर इस सम्बन्ध में लिखते हैं, 'बड़ी रियासतों जैसे काँगड़ा और चम्बा का राजनीतिक सम्मान ऊँचा रहा। फिर भी विशेषतया यही दो क्षेत्र थे जहाँ विदेशी शैली सबसे अधिक सफलता से अपनायी गयी। इसलिए हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि जो रियासत जितनी ही अधिक शक्तिशाली थी उसकी कला की निजी शैली उतनी ही कम महत्त्वपूर्ण रही। दूसरी ओर छोटी रियासतों जैसे गुलेर और पुंछ में उनके दमन के कारण वंशगत ईर्ष्या और भी ज़्यादा ज़ोर पकड़ गई थी। दूसरे क्षेत्रों पर प्रभुत्व जमाना सम्भव न था और कला की शैलियों ने नये महत्त्व को प्राप्त कर सामन्तवादी प्रतिष्ठा के खो जाने की क्षति को पूरा कर लिया। जो कुछ भी हो यह एक बहुत बड़ा कारण नज़र आता है जिससे अठारहवीं शताब्दी के दूसरे अर्द्धभाग में हिन्दू मुकाम वाले पुंछ का मुसलमानी दरबार संगठित हुआ और जिससे चित्रकला की ऐसी शैली ने जन्म लिया जो अपनी गहरी सम्पन्नता और तीक्ष्ण व स्पष्ट आकार में विशिष्ट रही।"[१]

१....in major States such as Kangra and Chamba, political prestige stood high. Yet it was in precisely these two regions that a foreign style was most successfully adopted. We must therefore conclude that the more powerful the State the less immediately significant was the exact style of its art. In smaller States, on the other hand—and this must surely apply as much to Guler as to Punch–dynastic jealousies were all the stronger because of their necessary repression. Domination of other territories was impracticable and styles of art thus acquired a heightened importance as compensations for lack of feudal glory. This, at any rate, would seem to be the vital factor which in the second half of the eighteenth century unified the Muhammadan court of Punch *with its Hindu capital and thus bring into being a type of painting distinctive in its* sombre richness and sharp expressive forms.

W. G. Archer, Indian Painting in the Punjab Hills, London, 1952, p 84.

७

बिलासपुर कलम

बिलासपुर कलम का इतिहास राजा दीपचन्द (१६५०-६७) से आरंभ होता है। राजा दीपचन्द से पूर्व कहलूर रियासत की राजधानी सुनहानी थी। राजा दीपचन्द ने सतलुज के किनारे ब्यास नामक गुफा के आसपास नई राजधानी बसाई जिसका कालान्तर में बिलासपुर नाम पड़ा।

राजा दीपचन्द की मुगल दरबार में काफी पहुँच थी। उस समय भारत में औरंगज़ेब का राज्य था। औरंगज़ेब को ललित-कलाओं से स्वाभाविक चिढ़ थी अत: दिल्ली दरबार के शाहजहाँ-कालीन चितेरे सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में बिखरने आरम्भ हुए और अन्य पहाड़ी रियासतों की भाँति बिलासपुर में भी पहुँचे। इस समय के चित्रों में मुगल की-सी शान व शौकत नहीं थी। चित्रांकन में सूक्ष्मता भी नहीं थी परन्तु उन्होंने अपने पहाड़ी आश्रयदाताओं का जिस ढंग से चित्रण किया है उससे हमें इन चितेरों का मुगल कलम से प्रभावित होने का स्पष्ट संकेत मिलता है।

विक्टोरिया एण्ड अलबर्ट म्युज़ियम में राजा दीपचन्द का चित्र देखने में आता है जिसमें राजा दीपचन्द को गायिकाओं से राग सुनते हुए दिखाया गया है। यह चित्र राजा दीपचन्द के राज्यकाल में ही बनाया गया था। इस चित्र में मुगल शैली की नफासत तो नहीं है पर उसमें अंकित हरी पृष्ठभूमि और सपाट धरातल से

मुगल शैली का प्रभाव समझ आता है। इस चित्र में कोई उल्लेखनीय मौलिकता नहीं है पर फिर भी गायिकाओं का केश-विन्यास स्थानीय ढंग से हुआ है।

दीपचन्द के बाद १६६७ ई० में राजा भीमचन्द गद्दी पर बैठे। उस समय सिक्ख अपनी शक्ति व सीमा बढ़ा रहे थे। १६८२ ई० में गुरु गोबिन्दसिंह और भीमचन्द में झगड़ा हो गया। इस झगड़े में भीमचन्द को जान व माल की काफी क्षति हुई। उसके बाद बिलासपुर पर सिक्खों का आतंक छाया ही रहा। राजा भीमचन्द ने अपने को सिक्खों के समक्ष कमज़ोर पाकर काँगड़ा तथा गुलेर के राजाओं की ओर मित्रता का हाथ बढ़ाया। इसके बाद बिलासपुर तथा काँगड़ा के आपसी सम्बन्ध बढ़ते गये। १७५१ ई० के आसपास जब जसवाँ के राजा अमीचन्द ने काँगड़ा पर हमला किया तो बिलासपुर के तत्कालीन राजा देवीचन्द (१७४१-७८) ने काँगड़ा के राजा घमण्डचन्द की सहायता की। देवीचन्द के राज्यकाल में रियासत ने काफी उन्नति की थी। राजा कलाप्रिय शासक था तथा उसने अपने यहाँ कई कलाकारों को प्रश्रय भी दे रखा था। किशनचन्द नामक चित्रकार इस संदर्भ में एक उल्लेखनीय नाम है। इस चित्रकार का जन्म १७५० ई० के लगभग एक चित्रकार घराने में ही हुआ था।

अनुकूल वातावरण तथा राज्य-प्रश्रय और बौद्धिक अपेक्षाओं के बीच बिलासपुर कलम ने नया मोड़ लिया। उस समय गुलेर तथा बसोहली के चित्रकार बिलासपुर में बसने आरंभ हो गये थे। अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में सम्भवतः गुलेर का एक चितेरा-परिवार भी वहाँ आकर बस गया था। बाहर से आये इन कलाकारों ने बिलासपुर कलम को निखारा। वहाँ नये मुहावरे, नये विषय तथा नये प्रयोग अपनाये गए। वस्तुतः यह बिलासपुर कलम का सुनहरी काल था। इस काल में बने चित्र पर बसोहली तथा गुलेर कलमों की मिली-जुली छाप है। चित्रों में गहरे भूरे और हरे रंगों का प्रयोग तथा सुन्दर, सुगढ़ और मुखर आकृतियों और दृश्यों का अंकन इस बात की पुष्टि करता है।

राजा देवीचन्द के बाद मोहनचन्द (१७७८-१८२४) के नाबालिग होने पर रानी के ही संरक्षण में राज-काज चलता रहा पर अब बिलासपुर के पतन के दिन आरंभ हो गये थे। १७७८ ई० में काँगड़ा का किला जयसिंह तथा राजा संसारचन्द ने मुगल किलेदार सईफ अली खान से हथिया लिया। सईफ अली खान ने बिलासपुर की रानी से सैनिक सहायता माँगी जो उसे तत्काल प्राप्त हुई। १७८६ ई० में काँगड़ा किला पूर्ण रूप से संसारचन्द के हाथ में आ गया। वह रानी द्वारा अपने विरुद्ध दी गई सैनिक सहायता को नहीं भूला था और इसके प्रतिकार के लिए अवसर की ताक में था।

राज्य में अशान्ति तथा अरक्षा का दमन-चक्र चल रहा था। कला तथा कलाकारों ने अपने आपको ऐसे वातावरण में असहाय पाया तथा सुरक्षित स्थान के लिए इधर-उधर भटकने लगे।

मोहनचन्द ने वयस्क हो जाने पर राज्य तो अवश्य सँभाला पर राज्य-व्यवस्था तथा सुरक्षा की ओर कोई ध्यान नहीं दिया। वह केवल ऐश्वर्य और विलास में ही मग्न रहा। मौका पाकर १७९५ ई० में संसारचन्द ने बिलासपुर पर आक्रमण किया और हटवाट की चौकी पर अपना अधिकार कर लिया। रानी ने अपनी सहायता के लिए सिरमौर के राजा धर्मप्रकाश का सहारा लिया। परन्तु धर्मप्रकाश भी लड़ाई में काम आया और संसारचन्द ने सतलुज पर अधिकार कर लिया। इसके बाद भी राज्य में कई ओर से हमले हुए और बिलासपुर की सीमा दिन-प्रतिदिन सिकुड़ती ही गई।

१८२० ई० में मूर क्राफ्ट बिलासपुर में से गुज़रे। उन्होंने अपने यात्रा-विवरण में राजमहल की दीवारों पर सुन्दर ढँग के भित्तिचित्र होने का उल्लेख किया है।

खड़गचन्द (१८२४-३९) का काल बिलासपुर के लिए और भी दुर्भाग्यपूर्ण था। राज्य में गृह-युद्ध तथा जनता का राजा के प्रति आक्रोश विद्रोह के रूप में उमड़ पड़ा। १८८३ ई० तक राज्य में कला की प्रगति सुप्त अवस्था में ही रही।

१८८३ ई० में राजा अमरचन्द गद्दी पर बैठा और उसने १८८९ ई० तक केवल छः साल राज्य किया। यह एक उल्लेखनीय बात है कि राजा अमरचन्द न केवल कला-प्रेमी ही था बल्कि स्वयं एक कलाकार भी था। संभवतः अमरचन्द ही पहाड़ी कला के इतिहास में एकमात्र चित्रकार राजा हुआ है। वह राम का उपासक था। उसने राम के प्रति अपने भक्तिभाव को अपने चित्रों में भी अंकित किया है। पुस्तक में उद्धृत बिलासपुर कलम के चित्र में राम-दरबार का दृश्य चित्रित है। संभवतः राम के पीछे चँवर लिए हुए स्वयं राजा अमरचन्द ही है। उसके चित्र मुख्यतः रामभक्ति तथा कृष्ण विषयक ही थे। उसकी कला काफी हद तक गुलेर कलम से प्रभावित रही।

इस काल में बाहर से फिर कुछ कलाकार उपयुक्त वातावरण पाकर बिलासपुर में बस गये। संभवतः राजा अमरचन्द ने भी गुलेर से आये किसी सिद्धहस्त चित्रकार से कला में शिक्षा पायी जिससे उसकी कला पर गुलेर का प्रभाव नज़र आता है।

राजा अमरचन्द ने राजस्थानी शैली में महल का निर्माण करवाया था लेकिन यह महल उस वास्तु-शैली से अप्रभावित न था जो स्थानीय रुचि-शुचि के अनुकूल पनपी थी। महल की दीवारों पर उसने चित्रांकन करवाया। भित्तिचित्रों का मुख्य विषय राम-कृष्ण और उनकी लीलाएँ तथा बेल-बूटों का अंकन रहा। बिलासपुर के दरबार हाल की दीवारों पर भी भित्तिचित्र बने थे जिनमें मुख्यतः बेल-बूटों तथा पक्षियों का अंकन हुआ। भित्तिचित्रों पर गुलेर कलम की गहरी छाप रही।

इस कलम का वैभव थोड़े ही दिनों तक सीमित रहा जिससे भित्तिचित्र तथा लघुचित्र पर्याप्त संख्या में नहीं बन सके। जो कुछ बने भी वे राज्य में समय-समय पर अव्यवस्था तथा राज्य-संरक्षण न मिलने के कारण नष्ट हो गये। फिर भी इस कलम के कुछेक चित्र संग्रहालयों, निजी संकलनों तथा मंदिरों में सुरक्षित हैं। बिलासपुर नगर के मन्दिरों तथा महलों के भित्तिचित्र, नगर के गोबिन्दसागर में समा जाने के कारण अब विस्मृति के गर्भ में पहुँच चुके हैं।

८

कुल्लू कलम

कुल्लू कलम का अलग नामकरण अब संभव हो पाया है। १६३१ ई० में जे० सी० फ्रैंच ने अपनी पुस्तक 'हिमालयन आर्ट' में इसकी व्याख्या की थी। इससे पूर्व कुल्लू के बारे में यही धारणा थी कि यह कभी कला का केन्द्र नहीं रहा।

अन्य कलमों की तरह कुल्लू कलम की भी अपनी स्थानीय विशेषताएँ हैं जिससे हम उसे अन्य शैलियों से अलग पहचान सकते हैं। ये स्थानीय विशेषताएँ बाद में शैलीगत गुण बन गये जिनका प्रभाव इस शैली के आरंभिक काल में इतना स्पष्ट नहीं जितना इसके विकसित हो जाने पर हुआ।

सत्रहवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में जब चितेरे मुगल साम्राज्य का आश्रय खोकर पश्चिमी पहाड़ी क्षेत्रों की ओर गये तो उनमें से कुछ कुल्लू भी पहुँचे। लेकिन कुल्लू के चित्रों को देखकर वे अधिक परिष्कृत नहीं कहे जा सकते जिससे यह स्पष्ट होता है कि उस दूर-दराज़ इलाके तक सिद्धहस्त व नामी चितेरे तो नहीं, कुछ अन्य अवश्य पहुँचे। इन चित्रों में कलापूर्ण सौम्यता नहीं लेकिन एक आवेग है जो अनुभूति को सजग करता है।

इस समय कुल्लू में राजा मानसिंह (१६८८-१७१६) शासक थे। कुल्लू अपनी भौगोलिक स्थिति के कारण तथा पड़ोसी राजाओं से मैत्रीपूर्ण संबंध न होने के कारण कुछ अलग-थलग ही रहा। राजा मानसिंह

महत्त्वाकांक्षी स्वभाव के कारण अपने राज्य के विस्तार तथा शक्ति को संगठित करने में निमग्न रहे जिससे कुल्लू कलम आरंभिक काल में कला-आन्दोलन से उपेक्षित रही, फिर भी अपनी सीमाओं पर कुछ विकसित अवश्य हुई।

इस समय एक-सी लोककलागत मान्यताओं, मुहावरों और प्रतीकों की छाप बसोहली, चम्बा और मण्डी आदि कलमों पर पड़ी देखी जा सकती है। कुल्लू के साथ मण्डी राज्य की सीमा लगती है परन्तु प्राकृतिक बाधाओं और राजनैतिक वैमनस्य के कारण इस कलम का विकास अलग से हुआ। इसी के अनुरूप इसका शिल्प, रेखाएँ, रंग और आकृतियाँ उभरीं।

राजा मानसिंह के बाद कुल्लू की स्थिति पूर्ववत न रही। यद्यपि कला की दृष्टि से कहीं कोई महत्त्वपूर्ण घटना नहीं लेकिन राजा राजसिंह (१७१६-३१) और राजा जयसिंह (१७३१-४२) का समय ऐसा रहा जो स्थानीय कलाकारों के लिए कोई चिन्ताजनक भी नहीं था। सजनू तथा अन्य दो स्थानीय कलाकारों ने राजा प्रीतमसिंह के शासनकाल के आरंभिक दिनों में ही शीशमहल में भित्तिचित्र बनाये। इनमें से भगवान नामक एक चितेरा कुशल कलाकार था। इन स्थानीय कलाकारों से यह पता चलता है कि राजा प्रीतमसिंह से पूर्व राजा तेधीसिंह (१७४२-६७) के समय में भी कुछ कलाकार अवश्य रहे होंगे और उन्होंने कुछ कलाकृतियाँ बनाई होंगी लेकिन किसी विशिष्ट प्रमाण के अभाव में निश्चित रूप से कुछ भी कहना सम्भव नहीं।

कांगड़ा का राजा घमण्डचन्द कुल्लू के राजा तेधीसिंह का समकालीन था। राजा घमण्डचन्द की मुगल सेना ने कुल्लू पर आक्रमण किया। १७५८ ई० में अहमदशाह दुर्रानी ने घमण्डचन्द को जालन्धर दोआब का गवर्नर नियुक्त किया जिससे पहाड़ी राजाओं पर उसका बोलबाला बढ़ गया। कुल्लू पर भी उसका प्रभुत्व छाया रहा जिससे काँगड़ा चितेरों के लिए कुल्लू जाने में कोई स्पष्ट बाधा न रही।

तेधीसिंह के बाद १६६७ ई० में कुल्लू की गद्दी पर प्रीतमसिंह बैठा। इसी के काल में कुल्लू कलम को स्थायित्व प्राप्त हुआ और वह विकसित होने लगी।

वास्तव में एक लोक-संस्कृति होने पर भी कभी-कभी राजाओं का परस्पर द्वेष-भाव इतना बढ़ गया है कि लोक-जीवन पर भी उसकी विकृत छाया पड़ती रही है। राजाओं का आपस में मेल-जोल भी चलता रहा है और लड़ाई-झगड़ा भी। कुल्लू की बात कुछ अजीब-सी रही। कला-आन्दोलन के समय-विशेष में तो इसकी अपने पड़ोसियों से बनी ही नहीं। इस संबंध में भूरिसिंह संग्रहालय में सुरक्षित एक पत्र (कागज़) पर एक उल्लेख मिलता है जिससे पता चलता है कि कुल्लू के राजा प्रीतमसिंह (१७६७-१८०६) के विरुद्ध मकर्ष (कुल्लू में) पर राजा संसारचन्द (काँगड़ा), समशेरसेन (मण्डी), मियाँ सूरमासेन (समशेरसेन का पुत्र), राजा राजसिंह (चम्बा) ने १७७८ ई० में मिलकर आक्रमण का षड्यन्त्र रचा था जिससे वे वंगाहल क्षेत्र को उससे छिनकर आपस में बाँटना चाहते थे। १७८६ ई० में मकर्ष पर आक्रमण की योजना एक बार फिर बनी थी जिसमें चम्बा, मण्डी और कहलूर (बिलासपुर) के राजा सम्मिलित थे। यह योजना तो कार्यान्वित न हुई लेकिन पहले समझौते के बाद अकेले चम्बा के राजा ने वंगाहल पर आक्रमण कर उसे हथिया लिया था। इन घटनाओं से कुल्लू चित्रशैली पर प्रकाश पड़ता है और यह समझ में आता है कि वह क्यों विकसित न हो सकी।

राजा प्रीतमसिंह के कलाप्रेम का स्पष्ट प्रमाण मिलता है। उसके शासनकाल में कुल्लू कलम को निश्चित दिशा मिली। उसके ही समकालीन राजा संसारचन्द के समय में कला ने एक आन्दोलन का रूप ग्रहण

कर लिया था। उनकी देखा-देखी उनके मित्र तथा दुश्मन दोनों ही कला के प्रति अपना प्रेम-परिचय देने लगे थे। उस समय कलाकारों को प्रश्रय देना और अपने भवनों को लघुचित्रों तथा भित्तिचित्रों से सजाना राजकीय सम्मान व प्रतिष्ठा की अनिवार्यता बन गई थी। काँगड़ा से आये चित्रकारों ने कुल्लू कला की स्थानीय विशेषताओं को उभारकर नया रूप दिया। चित्रांकन में परम्परा को भी प्रतिष्ठा मिली थी पर काँगड़ा कला के प्रभाव के अन्तर्गत उसमें निखार आया था, वह उद्दण्डता को छोड़ नाज़ुक दिखने लगी थी। इस काल में जो भित्तिचित्र बने वे स्पष्टतः ही काँगड़ा कलम का प्रभाव लिए हुए हैं।

आज भी शीशमहल में बने भित्तिचित्र देखे जा सकते हैं जिनका प्रमुख विषय देवी त्रिपुरा सुन्दरी का चित्रण है। इन चित्रों का निर्माण राजा प्रीतमसिंह ने करवाया था और उन्हें बनाने वाला सजनू नामक चित्रकार समझा जाता है। सजनू को दो अन्य स्थानीय चित्रकारों ने सहयोग दिया था जो उनके विभिन्न शिल्प से स्पष्ट होता है। इसी चित्रकार ने १८१० ई० में ईश्वरीसेन को हमीरहठ विषयक चित्र भेंट किए थे।

राजा प्रीतमसिंह के बाद कुल्लू में विक्रमसिंह (१८०६-१०) सिंहासनासीन हुआ जिसके राज्यकाल में कुल्लू की परम्परा सुदृढ़ हो गई और इसमें भगवान नामक चितेरे का सर्वोपरि हाथ रहा। भगवान ने शीशमहल में जिन विषयों को चित्रांकित किया है वे रामायण के दृश्य, नायिका-भेद, रूपचित्र आदि हैं। राम-सीता-विवाह, रुक्मिणी-हरण तथा राजा विक्रमसिंह का चित्र विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इसके अतिरिक्त भगवान ने राजा विक्रमसिंह के लिए मधुमालती और भागवतपुराण विषयक चित्र-मालाएँ भी तैयार कीं।

व्यक्तिगत शैली की विशेषता के कारण यह समझा जा सकता है कि भगवान नामक चितेरे ने राजा प्रीतमसिंह और राजा विक्रमसिंह दोनों ही के शासनकाल में चित्र बनाये। इन चित्रों को देखने से पता चलता है कि इनमें ऐसे उजले-चमकीले रंगों का उपयोग हुआ जो नीले, संग्रफी लाल और हरा-मूँगिया रंगों का प्रभाव लिए हुए हैं तथा आकृतियों के पहनावे पर तीन और चार बिन्दुओं से जो पैटर्न बनाया गया है वह सुरुचिपूर्ण दिखता है।

कुल्लू कलम जो कुछ उपलब्ध कर सकी वह राजा विक्रमसिंह के शासनकाल तक सीमित रहा। उसके बाद चित्र अवश्य बने लेकिन अपेक्षतया वे कला की दृष्टि से अवनत ही रहे। राजा दलीपसिंह (१८६३-९२) के काल में कलागत विशेषता केवल बेलबूटों का अंकन रहा। उसके बाद राय मेघसिंह (१८९२-१९२१) ने १९१० ई० में अपने लिए जिस महल का निर्माण करवाया था उसमें काँगड़ा कलम की शैली में कुछ भित्तिचित्र बनवाये थे। इन भित्तिचित्रों की विशेषता इनके चटख रंग तथा स्थानीय वृक्षों जैसे देवदार, चीड़ इत्यादि का अंकन था।

९

गढ़वाल कलम

पहाड़ी चित्रकला अपने विकास में जिन तीन मुख्य शाखाओं में वितरित हो पनपी, उनमें गढ़वाल के नाम से एक शाखा अभिहित हुई। गढ़वाल के राज्य ने अपनी शक्ति-सामर्थ्य के लिए पर्याप्त ख्याति अर्जित की थी। गढ़वाल का महीपति शाह (१६२५ ई०) पंवारों में योग्य और मनस्वी शासक के रूप में प्रसिद्ध हुआ। इसी से एक मुठभेड़ में गुलेर का राजा रूपचन्द मारा गया जो बादशाह शाहजहाँ की सेना का संचालन कर रहा था। शाहजहाँ के जीवन-काल के अन्तिम वर्षों में जब दिल्ली साम्राज्य की गद्दी के लिए उसके उत्तराधिकारियों में युद्ध और षड्यंत्र चले तो उनमें न केवल शाहजहाँ के पुत्र ही थे अपितु रिश्ते-नाते के अनेक लोग भी थे। शाहजहाँ को औरंगज़ेब ने कैद कर लिया था। शाहजहाँ के पुत्रों में सबसे बड़ा दाराशिकोह था जो लाहौर की ओर लड़ाई में व्यस्त था। उसके पुत्र सुलेमान शिकोह की औरंगज़ेब के प्रतिनिधि महाराजा जयसिंह से मुठभेड़ हुई और वह मई, १६५८ ई० में हार खाकर गढ़वाल भाग गया था। उसे अब कोई दलबल प्राप्त नहीं था। उसके साथ केवल उसकी पत्नी, उसका दूधभाई मुहम्मदशाह तथा कुछ दास-दासियाँ थीं। इस वक्त गढ़वाल में महीपतिशाह का पुत्र पृथ्वीशाह (१६४६-६०) शासनासीन था और उसी के यहाँ अलकनन्दा के किनारे बसी गढ़वाल की राजधानी श्रीनगर में शिकोह ने डेढ़ साल तक शरण ली थी। उसके लिए

पृथ्वीशाह को मुगल सेना से टक्कर लेनी पड़ी, लेकिन उसने अपनी शरण में आए शाहज़ादे को औरंगज़ेब के हवाले नहीं किया। बाद में सुलेमान शिकोह ने तिब्बत की ओर भागना चाहा, लेकिन वह रास्ते में भटक गया और रामसिंह द्वारा पकड़ा गया। औरंगज़ेब ने उसे कुछ समय तक ग्वालियर के किले में कैद रखा और बाद में उसे मौत के घाट उतार दिया।

अपने प्रवास के दिनों में सुलेमान शिकोह के साथ शाहजहाँ के दरबार के दो चितेरे, रामदास और उसका पुत्र हरिदास, गढ़वाल पहुँचे थे। इन्हीं कलाकारों से गढ़वाल में कला का आरम्भ देखा जा सकता है। यहीं उन्हें नये संदर्भ, परिप्रेक्ष्य और वातावरण में अपनी कला को मोड़ देने का अवसर मिला। सुलेमान शिकोह के चले जाने के बाद ये कलाकार गढ़वाल में ही रहे तथा इन्हें यहाँ अपनी कला और कौशल के लिए दरबार में स्थान भी मिला। इन्होंने गढ़वाल की राजधानी श्रीनगर को अपना आवास-स्थान बनाया जहाँ आज तक उनका वंश चला आया है। कलाकार की इस वंश-परम्परा में मंगतराम हुआ जो काष्ठकला में पारंगत था। इसी मंगतराम के सुपुत्र का नाम मोलाराम था और वह गढ़वाल कलम के सिद्धहस्त चितेरे के रूप में जाना गया। यूँ तो पहाड़ी कलाकारों के नाम तथा उनके जीवन-चरित्र सम्बन्धी जानकारी बहुत कम उपलब्ध है लेकिन इन सबमें मोलाराम के सम्बन्ध में मुकुन्दीलाल ने बहुत कुछ निश्चित और प्रामाणिक रूप से लिखा है। राहुल सांकृत्यायन ने अपनी पुस्तक 'हिमालय परिचय (१)' में इस वंश का परिचय यों दिया है[1]—
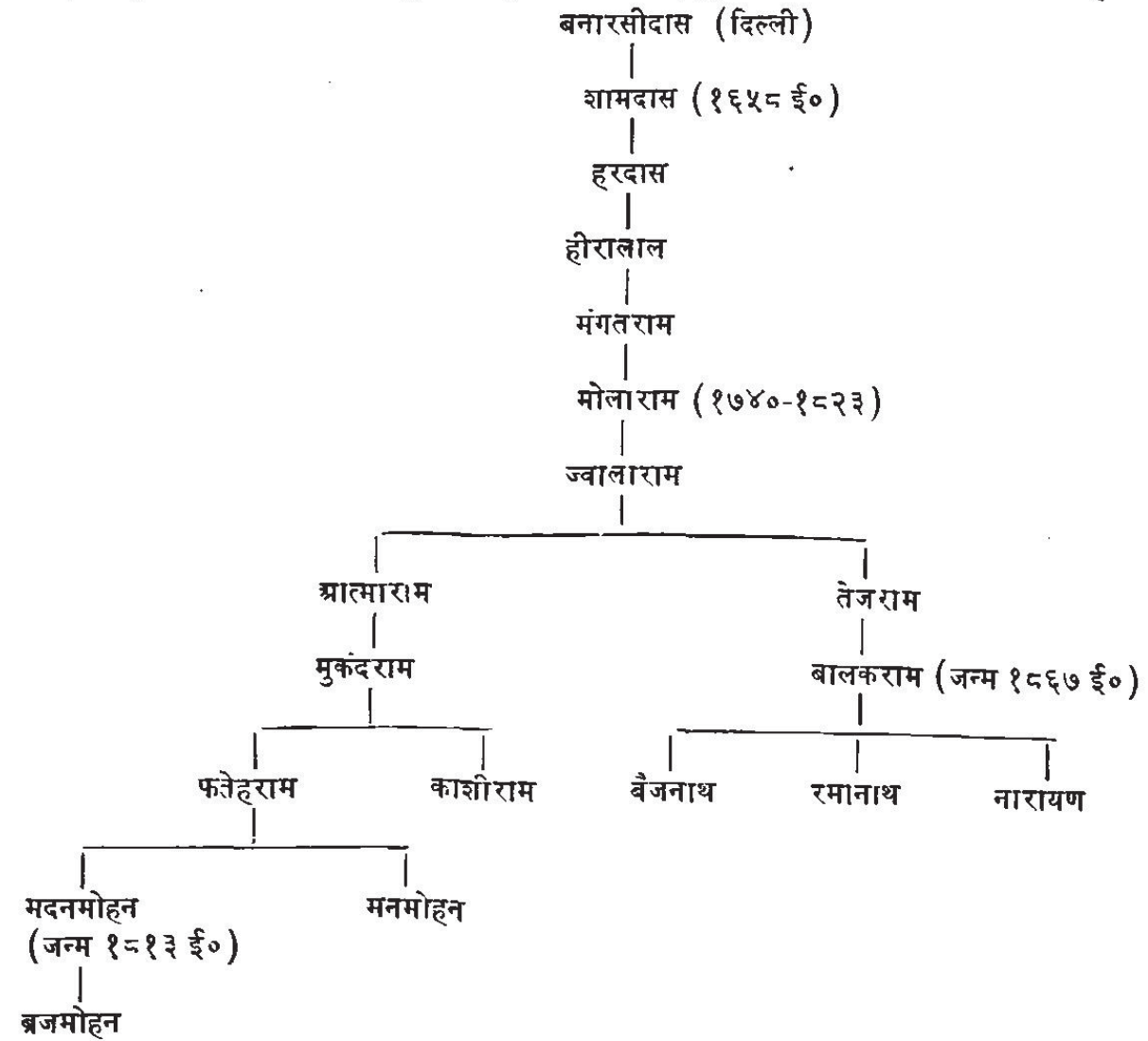
१. राहुल सांकृत्यायन, हिमालय परिचय (१), पृ० १३३

कलाकार मोलाराम के जन्म के सम्बन्ध में कुछ भ्रान्ति है। एक अनुमान के अनुसार वह १७४० ई० में उत्पन्न हुआ तथा दूसरे के अनुसार १७६० ई० में। लेकिन मरण के सम्बन्ध में यह निश्चित है कि वह भरी-पूरी आयु का उपभोग कर १८३३ ई० में परलोक सिधारा। कवि-चित्रकार मोलाराम ने 'गढ़राजवंश का इतिहास' नामक एक ग्रन्थ की रचना की जिसमें उसने श्यामशाह से लेकर अपने समकालीन शासकों तक की जीवन-गाथा पर प्रकाश डाला है।[1] ग्रन्थ का आरम्भ श्यामशाह के सम्बन्ध में लिखी निम्न पंक्तियों[2] से होता है—

क्योंकर भ्रष्ट राज यह भयो। सब पंचन हूँ यह मिलि कयो
तब यह पावन पुस्त सौ, कीनी कथा बखान
एक एक कर कहत हूँ, सुनो पंच पर प्रधान

मोलाराम बहुमुखी प्रतिभा का धनी था जिसका परिचय हमें उसकी चित्रकला तथा काव्य-कृतियों से मिलता है। उसने अनेक चित्रों का संकलन भी कर रखा था जिसमें उसकी अपनी कलाकृतियों के अतिरिक्त उसके साथियों तथा उसके शिष्यों के चित्र भी रहे होंगे। अनेक चित्रों के ऊपर अथवा पृष्ठ पर कुछ पद्यात्मक पंक्तियाँ लिखी गई हैं जिनसे मोलाराम द्वारा उनके चित्रांकन का सीधा पता चलता है। लेकिन इनमें अधिकांश ऐसी हैं जिससे मोलाराम की कला अपने विशिष्ट प्रभाव का परिचय नहीं देती। स्पष्ट है कि उस समय तक उसकी कला निखार नहीं पा सकी थी। यौवन में लिखे पदों से यह स्पष्ट होता है कि उन दिनों उसका युवक-मन अपनी परिस्थितियों से संघर्ष कर रहा था और जिस मान्यता की वह अपेक्षा करता था वह उसे नहीं मिल रही थी। यह सम्भव है कि इस समय बाहर से कुछ सिद्धहस्त कलाकार गढ़वाल पहुँचे हों और मोलाराम का 'यौवन' और 'कलाकार' उस स्थिति को अपने लिए चुनौती समझ बैठा हो। ऐसी परिस्थितियों में वह आत्म-विश्वास के साथ कहता सुनाई पड़ता है कि अन्त में विजय उसकी ही होगी। १७७५ ई० की अपनी एक काव्य-कृति में भी वह मान्यता के लिए अपने संघर्षयुक्त मन को ही अभिव्यक्त करता है। ऐसा लगता है कि मोलाराम की यह मानसिक स्थिति गढ़वाली कलम का आरम्भिक संघर्ष है। और इसी काल में बाहर से जो चितेरे आये होंगे, कालान्तर उनकी देखादेखी स्थानीय प्रतिभा में परिष्कार अवश्य हुआ होगा।

मोलाराम अपने यौवन में सूफी-मत के एक मुसलमान अनुयायी से शिक्षा-दीक्षा ग्रहण करता रहा लेकिन स्वयं प्रतिभावान होने पर उसका मौलिक चिन्तन जाग उठा जिसने उसकी काव्य-कला और चित्रकला को भी उजागर किया। अब वह सचेतन रूप से हिन्दू मत का अनुयायी था और शक्ति की पूजा में विश्वास रखने लगा था। काली की स्तुति में उसने अनेक कविताओं की रचना की। वह शक्ति के प्रति इतना अभिभूत रहा कि उसके पुत्र ने उसके इस पक्ष को चित्रित भी किया। ६३ वर्ष की आयु में वह काली से वरदान प्राप्त करता हुआ दिखाया गया है। पहाड़ी कलाकृतियाँ जिस उच्चकोटि को प्राप्त हैं उसका कारण कलाकारों का धार्मिक विश्वास था जो दुराग्रह न बन उनकी कल्पना को सहेजता रहा, उनके आत्म-चिन्तन को बल देता रहा और उनके 'कलाकार' को अद्भुत समर्थता देता रहा।

आरम्भ में गढ़वाल शैली में किन्हीं रूपचित्रों का प्रचलन रहा है लेकिन जिस प्रकार पहाड़ी चित्रकारों को अन्यत्र कृष्ण के प्रेमाचार के अंकन में अपनी कला-कौशल दिखाने का अवसर मिला, उसी प्रकार गढ़वाल शैली भी इसी विषय की अभिव्यक्ति में निखरी। इस चित्रण की पृष्ठभूमि में निश्चित ही संस्कृत तथा हिन्दी की समृद्ध काव्यधारा थी। काव्य और कला के सुन्दर सम्मिश्रण का परिचय हमें गढ़वाल शैली में

१. उदाहरण के लिए देखिए राहुल सांकृत्यायन की पुस्तक 'हिमालय परिचय (१)', पृ० १३३ से १८३ तक।
२. राहुल सांकृत्यायन, हिमालय परिचय (१), पृ० १३४।

भी मिलता है।

सुविधा के विचार से गढ़वाल कलम का विकास हमें दो चरणों में दिखाई देता है। पहले चरण का आरम्भ १७७० ई० के लगभग हुआ और १७७५ ई० तक गढ़वाली चितेरे एक विशिष्ट शैली का परिचय देने में समर्थ नज़र आते हैं। यदि स्थानीय परम्परा का कोई विशेष आग्रह ध्यान में न रखें तो यह निश्चित है कि गुलेर में सर्वप्रथम पहाड़ी कला के शिष्ट और सुसंस्कृत रूप के अभ्युदय का परिचय मिलता है। बाद में गुलेर के ये चित्रकार काँगड़ा और गढ़वाल की तरफ भी बढ़े और उन्होंने स्थानीय परम्परा को नये आयाम देकर शिष्ट कला का एक सुनिश्चित स्वरूप स्थापित किया। इस बात का समर्थन गढ़वाल के राजकुमार से गुलेर की राजकुमारी के विवाह से भी होता है। १७७२ ई० से १७८० ई० तक गढ़वाल में राजा ललितशाह ने शासन किया। इसी शासनकाल में उनके लड़के तथा स्वतन्त्र गढ़वाल के अंतिम राजा प्रद्युम्नशाह (शासनकाल १७९७-१८०४) का विवाह गुलेर राजवंश के अजबसिंह की पुत्री से सम्पन्न हुआ। स्पष्ट है कि इस अवसर पर गढ़वाल से बहुत-से लोग गुलेर गए होंगे और बाद में गुलेर से भी कुछ लोग लड़की को विदाई देने गढ़वाल पहुँचे होंगे। ऐसा अवसर कला के आदान-प्रदान में विशेष रूप से सहायक रहता है। और इस बात की अवश्य सम्भावना दिखती है कि गुलेर के सिद्धहस्त चितेरों से गढ़वाल की कला को निखरने का यह अनुकूल अवसर रहा हो। दोनों स्थानों के चितेरों का सीधा साक्षात्कार हुआ होगा। दूसरे दहेज में गुलेर से पर्याप्त संख्या में गढ़वाल में कलाकृतियाँ गई होंगी। तीसरी बात यह है कि राजकुमारी के साथ ही कुछ चितेरे गढ़वाल जाकर राज्य-आश्रय लेकर बस गये हों—ऐसी सम्भावना परम्परा के अनुकूल ही दिखाई पड़ती है। इन सब बातों से गुलेर कला के गढ़वाल कलम पर पड़े प्रभाव की पुष्टि होती है।

दुर्भाग्य से १८०३ ई० में हुए गुरखा आक्रमण से गढ़वाल कलम तहस-नहस हो गई। इस समय गढ़वाल की गद्दी पर प्रद्युम्नशाह आरूढ़ थे। फरवरी, १८०३ ई० में जब अमरसिंह थापा और हस्तिदल चौतरिया के नेतृत्व में नेपाली सेना ने गढ़वाल पर आक्रमण किया तो प्रद्युम्नशाह उनसे टक्कर लेने में असमर्थ रहा। इससे एक वर्ष पूर्व श्रीनगर में भूचाल आया था जिससे राजप्रासाद को पर्याप्त हानि हुई थी। बहुत सम्भव है कि कुछ कलाकृतियाँ इस समय नष्ट हुई हों। ऐसी परिस्थितियों में दल-बल को संगठित करने का थोड़ा-बहुत प्रयास अवश्य हुआ लेकिन १८०४ ई० में तो चारों ओर विघटन के ही दर्शन होते हैं। प्रद्युम्नशाह अपने अनेक सेनाधिकारियों सहित मारा गया। उसके पुत्र राजकुमार सुदर्शनशाह ने भागकर ब्रिटिश अधिकृत क्षेत्र में आश्रय लिया और उसके भाई परखराम ने काँगड़ा के महाराजा संसारचन्द की शरण में।

१८१६ ई० में जे० बी० फ्रेज़र ने गुरखों के इस आक्रमण तथा तदोपरान्त अवस्था का चित्रण करते हुए लिखा है, "गुरखों ने गढ़वाल में बारह वर्ष तक शासन किया। ऐसा लगता है कि उसे जीतने में उन्हें जो कष्ट हुआ उसका बदला लेने के लिए वे संकल्पबद्ध थे। गढ़वाल राज्य के पुराने वंशजों को नष्ट कर दिया। सभी महत्त्वपूर्ण लोगों को पकड़कर या तो उनका वध कर दिया गया या अन्यथा उनका उन्मूलन कर दिया गया। गाँवों को जला और उजाड़ दिया गया और उनके अनेक निवासियों को दासों के रूप में बेचा गया। शेष भाग का भारी कर लगाकर दमन किया गया। बहुत से लोग पीड़ा व कठोरता से बचने के लिए स्वेच्छा से भाग निकले।"[1]

---

१. The Goorkhas have ruled in Garhwal for nearly twelve years and appear to have borne in mind the trouble it cost them to win it and acted as if determined to revenge it. Its old families were destroyed, all those persons of rank and importance

ऐसी अवस्था में कला तथा कलाकारों की नियति का सहज अनुमान लग सकता है। गढ़वाल में रह पाना तो असम्भव ही था। उनमें से कुछ गुलेर लौट गये होंगे, कुछ पड़ोसी राज्य सिरमौर में चले गए होंगे और किन्हीं अन्य ने काँगड़ा तथा अन्य पहाड़ी रियासतों में शरण ली होगी। प्रद्युम्नशाह के भाई परखराम के साथ अवश्य कुछ चितेरे तथा गुणी व्यक्ति महाराजा संसारचन्द के यहां गए होंगे। लेकिन मोलाराम विषम परिस्थितियों के बाद भी अपनी भूमि को त्याग न सका। वह श्रीनगर में ही रहा। गुरखा-प्रशासक हस्तिदल के साथ गठजोड़ कर वह उसका विश्वासपात्र बन गया था। यहां वह राजनैतिक परिस्थितियों के प्रति सजग नज़र आता है और समझौते के लिए तत्पर।

१८१५ ई० में ब्रिटिश फौजों ने गढ़वाल को गुरखों के नियंत्रण से मुक्त कर डाला। अंग्रेज़ सरकार ने राजा सुदर्शनशाह को उसका शासन लौटाने से पूर्व दो शर्तें रखीं—भविष्य में राजा इतनी सेना रखे जिससे वह गुरखों के आक्रमण का मुकाबला कर सके अथवा अपने राज्य का पूर्वी भाग जिस पर से गुरखों का आक्रमण होता था अंग्रेज़ सरकार के हवाले कर दे। राजा ने दूसरी शर्त स्वीकार कर ली। इस शर्त के अनुसार श्रीनगर अंग्रेज़ों के हवाले हो चुका था। इसलिए राजा को टिहरी में अपनी राजधानी निर्मित करनी पड़ी। अब राजा के अधिकार में गढ़वाल का जो उत्तरी क्षेत्र बचा था उसमें बहुत-सा जंगली था और उससे विशेष आय न थी। लेकिन सुरक्षा का आश्वासन मिलने पर सुदर्शनशाह (शासनकाल १८१५-५९) ने अपनी व्यवस्था के प्रति रुचि दिखाई। ऐसी परिस्थितियों में कला का पुनर्जीवन एक दुष्कर कार्य था लेकिन राजा की व्यक्तिगत रुचि और शांति तथा व्यवस्था की पुनर्स्थापना पर कला को पुनः सिर उठाने का अवसर मिल गया। इसी समय हमें चैतूशाह[१] नामक कलाकार का परिचय मिलता है।

१८१५ ई० में जब ब्रिटिश फौजों ने गढ़वाल को गुरखों के नियंत्रण से मुक्त कर डाला तो मोलाराम ने पुनः पैंतरा बदला और नई सत्ता से अपने सम्बन्ध बना लिए। उनके लड़के ज्वालाराम ने ब्रिटिश आयुक्त के यहां नौकरी कर ली। ज्वालाराम ने अब नई प्रशासनिक आवश्यकताओं के अनुकूल अपनी कलम का उपयोग किया। आगे आने वाले पचास वर्षों में भी मोलाराम के वंशज तथा दूसरे कलाकार चित्रकला में रत अवश्य रहे लेकिन यह किसी प्रश्रय के अभाव में महज़ एक व्यावसायिक धन्धा बन गया था और निर्धनता से जूझते हुए उनके लिए कला उन्हें मरने से बचने के लिए रोटी का एक छोटा-सा साधन बनकर रह गया था।

१८२९ ई० में काँगड़ा का शासक राजा अनिरुद्धचन्द अपनी दो बहनों के साथ गुरखों के आक्रमण के फलस्वरूप भागकर गढ़वाल आ गया था। उसके साथ काँगड़ा राज्य के चितेरे तथा कलाकृतियों का अच्छा-खासा भण्डार भी गढ़वाल आया था। काँगड़ा की इन दोनों राजकुमारियों का विवाह गढ़वाल के राजा सुदर्शनशाह

---

who were taken were murdered or banished, its villages burnt and desolated and great numbers of its inhabitants sold as slaves. The remaining parts were oppressed by heavy taxes and many voluntry banishments and emigrations took place to avoid a tyranny they could not withstand.

—J. B. Frazer, Journal of a Tour through part of the Himala Mountains (London, 1820, p. 384.)

१. चैतूशाह की कलाकृतियों के लिए देखिए एन० सी० मेहता की पुस्तक, स्टडीज़ इन 'इंडियन पेंटिंग' (बम्बई, १९३६), प्लेट १८-२०

के साथ सम्पन्न हुआ। प्रथानुसार दहेज में बहुत-सी अन्य वस्तुओं के साथ सुन्दर चित्र भी दिए गए और साथ आए चितेरों को वहाँ राज्याश्रय भी प्राप्त हुआ। इन्हीं चितेरों ने गढ़वाल शैली को पुनः निखारा जो गढ़वाल की स्थानीय कला, गुलेर कला तथा काँगड़ा कला के समन्वय के रूप में सुलभ है। गढ़वाल कला की यह यात्रा हमें उन्नीसवीं शताब्दी के आठवें दशक तक दिखाई पड़ती है।

गढ़वाल कलम के अन्त के सम्बन्ध में जे० सी० फ्रेंच ने एक रोचक किस्सा लिखा है। मोलाराम के बाद उसके पुत्र ज्वालाराम और ज्वालाराम के बाद उसके पुत्र तेजराम ने चित्रकार के रूप में अपना परिचय दिया है लेकिन तेजराम ने एक विशिष्ट आशंका से ग्रसित हो चित्रकारी त्याग दी थी और फिर उसके पुत्र बालकराम[1] ने तो उस परम्परा को छूने की गरज से भी सँभाला नहीं। बालकराम के पूर्वज अपनी आठ पीढ़ियों तक चित्रकारी करते रहे थे लेकिन उनकी हर पीढ़ी में एक आदमी पागल हो जाता था। दुर्भाग्य की इस आशंका को टालने के लिए ही इस परिवार ने चित्रकला छोड़ दी थी। राहुल सांकृत्यायन ने भी लिखा है, "मोलाराम के पौत्र आत्माराम तक वंश में चित्रकला रही, उसके बाद वंशजों ने पहले सोनारी, फिर दूकानदारी का काम सँभाल लिया—चित्रकारी से जीविका नहीं चल रही थी।[2]

गढ़वाल शैली पहाड़ी चित्रकला की अन्य शैलियों की तरह फली-फूली लेकिन गढ़वाल में अनेक चित्र अन्य स्थानों से पहुँचे हैं जो स्थानीय कला के मूल्यांकन में भ्रान्ति पैदा करते हैं। गढ़वाल शैली काँगड़ा शैली-सी समर्थ व सक्षम नहीं थी लेकिन बाहरी प्रभावों के बावजूद उसमें पर्याप्त निजी व स्थानीय विशेषताएँ रहीं।

गढ़वाल शैली में जिन विभिन्न विषयों को लेकर चित्र बने हैं, उनमें रुक्मिणि-मंगल, नल-दमयन्ती, नायिका-भेद, रामायण, महाभारत, दशावतार, अष्ट-दुर्गा, नवग्रह, कामसूत्र आदि विशेष रूप से गण्य हैं। इन्हीं विषयों को अन्यत्र भी पहाड़ी कलाकारों ने चित्रित किया है लेकिन शैलीगत विशेषता से स्पष्ट होगा कि एक ही विषय के चित्र एक-दूसरे की प्रतिकृति नहीं। उषा-स्वप्न को लेकर एक अत्यन्त सुन्दर व कलात्मक चित्र बना है जो मुकुन्दीलाल के निजी संग्रह में है। पुराणों में गढ़वाल को केदारखण्ड कहा गया है। उषा-स्वप्न की कथा की पृष्ठभूमि में केदारखण्ड आता है इसलिए भी मोलाराम अथवा किसी गढ़वाली कलाकार के लिए उषा-स्वप्न सम्बन्धी विषय बहुत अधिक रुचने की बात समझ में आती है। बाणासुर की पुत्री अत्यन्त सुन्दर थी। उसे कृष्ण के पोते अनिरुद्ध के स्वप्न में दर्शन हुए जिससे अभिभूत हो उसने उसी से विवाह करने का निश्चय किया। सोये हुए अनिरुद्ध को किसी चमत्कार द्वारा द्वारका से केदारखण्ड पहुँचाया गया और जब उसकी आँख खुली तो स्वनामधन्य रूप-सुन्दरी उषा उसके सम्मुख थी। जब उसे पाने के लिए उसने अपनी बाँहें फैलाईं तो वह आहिस्ता से पीछे हटने लगती है। इसी दृश्य को चित्रकार ने अत्यन्त कल्पनात्मकता से चित्रित किया है जिसे देखकर दर्शक सहज ही आत्म-विस्मृत हो चित्र से एकाकार कर लेता है। रेखा, रंग और संयोजन सम्पूर्ण चित्र को एक सुन्दर कलाकृति बनाने में समर्थ हैं। समस्त वातावरण चित्र के प्रमुख विषय को अधिक सक्षम बना डालता है। वातावरण का ऐसा आलेखन कि सम्पूर्ण चित्र की रागात्मकता कई गुणा बढ़ गई है। उषा और अनिरुद्ध युवती और युवक के रूप में इतने सुन्दर हैं कि लगता है जैसे इस आलेखन के बाद कलाकार ने कूची त्याग रखी हो।

---

१. बालकराम के यहाँ मुकुन्दीलाल को गढ़वाल कलम के चित्रों का संग्रह प्राप्त हुआ था।
२. राहुल सांकृत्यायन, हिमालय परिचय (१), पृ० १३३-३४।

गढ़वाल शैली के चित्रों को ध्यान से देखते हुए उसकी कुछ विशेषताएँ स्पष्ट हो आती हैं। इनमें अंकित आकृतियों के चेहरों की बनावट भी अन्य शैलियों से भिन्न है। अनेक चित्रों में कुछ पेड़-पौधे बिना पत्तों के हवा में झकोले खाते हुए दिखाई पड़ते हैं। पत्तों से भरे पेड़-पौधों का अंकन छोटे तथा गोलाकार रूप में हुआ है। ऐसी अनेक निजी विशेषताओं के कारण गढ़वाल कलम अपने अस्तित्व का समर्थ परिचय देने में सक्षम है।

१०

पहाड़ी रूमाल

पहाड़ी चित्रकला में रुचि रखने वाले चम्बा रूमाल के नाम से परिचित हैं। जिस प्रकार पहाड़ी चित्र-कला के लिए एक सामान्य नाम काँगड़ा चित्रकला रूढ़ हो गया था उसी प्रकार पहाड़ी रूमाल 'चम्बा रूमाल' के नाम से जाने गए। इन रूमालों का क्षेत्र चम्बा तक ही सीमित नहीं रहा बल्कि चित्रों की भाँति ये रूमाल भी चम्बा के अतिरिक्त काँगड़ा, मण्डी, बिलासपुर, कुल्लू, जम्मू, बसोहली आदि सभी क्षेत्रों में बने। एक बात उल्लेखनीय है कि जब अन्य क्षेत्रों में इन रूमालों को अवशेषों के रूप में ही पाया जाता है और वे महज़ एक ऐतिहासिक थाती के रूप में संरक्षित रह गए हैं, चम्बा में इन रूमालों को बनाने की प्रथा अभी तक प्रचलित रही और अब भी सरकारी सहयोग से इस प्रथा को पुनर्जीवित करने का प्रयास किया जा रहा है।

पहाड़ी चित्रकला का आरम्भ सोलहवीं शताब्दी का आरम्भ माना जाता है। लेकिन इस शैली से प्रभावित रूमाल उस शताब्दी के अन्त में सबसे पहले बनने शुरू हुए। एक अनुमान के अनुसार चम्बा में रूमालों की इस परम्परा का आरम्भ १७८२ ई० और १८२८ ई० के बीच में कभी हुआ। जिस प्रकार पहाड़ी चित्रकला की विभिन्न शैलियों अथवा कलमों में बसोहली प्राचीनतम है, उसी प्रकार पहाड़ी रूमालों की परम्परा में बसोहली में बने कशीदायुक्त रूमाल प्राचीनतम हैं। बसोहली में बने रूमाल चम्बा से प्राचीनतर हैं। अमृतपाल (१७-

५७-१७७६) के समय में बसोहली एक प्रमुख व्यापार-केन्द्र बन गया था। इसी के शासनकाल में रूमालों की परम्परा वहाँ स्थापित हुई। उसके बाद जब विजयपाल (१७७६-१८०६) ने शासन की बागडोर सँभाली तो यहाँ कला ह्रासोन्मुख ही रही। अब यहाँ यह कला खत्म होकर चम्बा में पनपने लगी थी। इसी दौरान काँगड़ा में संसारचन्द (१७७५-१८२३) की शक्ति का अभ्युदय हो चुका था और वहाँ उनके प्रश्रय में तो हर प्रकार की कला की उन्नति हुई। काँगड़ा में चित्रकला के साथ-साथ कढ़ाई का काम भी खूब पनपने लगा था। वहीं से कुछ ऐसे नमूने भी देखने में आए हैं जिनमें चित्रकला तथा कढ़ाई का मिला-जुला काम है।

चम्बा में रूमालों तथा अन्य वस्त्रों पर कढ़ाई के सबसे अधिक व उत्कृष्ट नमूने देखने में आते हैं और यह परम्परा वहाँ आज तक चली आयी है। ऐसा लगता है कि रूमालों तथा दूसरे कपड़ों पर कढ़ाई की एक लोक-परम्परा वहाँ पर्याप्त प्राचीन रही होगी। लोक-कला के रूप में थोड़ा-बहुत कढ़ाई का काम दूसरी रियासतों में भी होता रहा होगा लेकिन बसोहली का वैभव जब खत्म हुआ तो उसके बाद कढ़ाई की श्रेष्ठ परम्परा का पुनर्स्थापन पड़ोसी राज्य चम्बा में ही हुआ।

चम्बा के राजसिंह (१७६४-९४) के राज्यकाल का एक रूमाल लन्दन के साऊथ कैंसिंगटन म्यूज़ियम में है। १७८२ ई० में जब बसोहली को राजसिंह ने लूटा था, यह बहुत सम्भव है कि वह अपने साथ बहुत-सी वस्तुएँ ले गया हो जिसमें सुन्दर कलात्मक रूमाल भी होंगे। एक अन्य रूमाल बड़ौदा संग्रहालय में है जिसके सम्बन्ध में काल निश्चित करना तो सम्भव नहीं लेकिन वह कशीदाकारी और चित्रकला के सुन्दर सफल सामंजस्य का एक उत्कृष्ट उदाहरण है।

राजा संसारचन्द के पतन से अनेक छोटी-छोटी पहाड़ी रियासतों ने मुक्ति की साँस ली। १८०५ ई० से १८०९ ई० तक काँगड़ा घाटी में लूट-मार का बाज़ार गर्म रहा। इसी समय चम्बा में चढ़तसिंह शासक (१८०९-४४) था। जब चढ़तसिंह गद्दी पर बैठा तो राज्य की सम्पूर्ण देख-रेख रानी शारदा (राजा जीतसिंह की पत्नी) ने अपने हाथ में रखी। यह चम्बा में रानी शारदा की ही सूझ-बूझ थी कि वहाँ शांति और सुव्यवस्था रही। उन्होंने हर प्रकार की कला का आदर किया जिससे अनेक शिल्पी तथा कलाकार वहाँ आकर बस गए। रानी शारदा जम्मू की राजकुमारी थी जिससे दोनों रियासतों में सौहार्द भी बना रहा। वह कृष्ण की अनन्य भक्त थीं। कृष्ण के प्रति उनका व्यक्तिगत अनुराग उनकी कला में सहायक बना। कृष्ण-लीला विषयक रूमालों की उत्तम परम्परा को स्थापित करने में उनकी प्रेरणा उल्लेखनीय है। १८२५ ई० में उन्होंने चम्बा के सुप्रसिद्ध लक्ष्मीनारायण मन्दिर के पास ही श्रीकृष्ण का एक मन्दिर भी बनवाया।

चढ़तसिंह की पत्नी कटोच खानदान से थी और यह बहुत सम्भव है कि उसके साथ परम्परा के अनुकूल कुछ दासियाँ आयी होंगी। ये दासियाँ रूमालों की कशीदाकारी में निपुण रही होंगी, ऐसी सम्भावना से भी इन्कार नहीं किया जा सकता। कशीदाकारी की इस कला के लिए पनपने का समय मिल गया था क्योंकि चढ़तसिंह के बाद श्रीसिंह (१८४४-७०) भी कलाप्रेमी शासक रहा।

पहाड़ी रूमाल सामान्यतः वर्गाकार में ही मिलते हैं लेकिन ऐसे रूमाल भी सहज ही देखे जा सकते हैं जो लम्बाई में अधिक और चौड़ाई में कम हों। जिस कपड़े पर यह कशीदाकारी होती थी, वह रेशमी या सूती कोई भी हो सकता था। आज की भाँति भारत में कपड़ों का बाहुल्य व विविधता न थी। इसलिए जो थोड़ा-सा भी कपड़ा औरतों को मिल जाता था उसका भरा-पूरा उपयोग वे करती थीं। कपड़े के जो छोटे-छोटे टुकड़े बड़े कपड़े बनाने के बाद बच जाते थे, उनका उपयोग रूमाल, थापड़ा, (बड़े आकार का कशीदायुक्त कपड़ा), कौहरा (दीवार पर लटकाने का कपड़ा), गद्दियाँ, चोलियाँ, टोपियाँ, पंखे, चौपड़, गौमुखी (माला

डालने की छोटी-सी थैली) आदि ऐसी ही अनेक वस्तुएँ तैयार करने में हो जाता था। गृहिणियाँ इन वस्तुओं को कशीदे से सुन्दर-सज्जित कर डालती थीं। इन चीज़ों का उपयोग दैनिकी में शामिल नहीं था, बेशक इनमें से अधिकांश दैनिक व्यवहार में आने वाली दिखती थीं। वास्तव में जब ये चीज़ें पुरानी पड़ने लगती थीं तब ये प्रयोग-प्रचलन में निकल आती थीं। राजाओं, रइसों तथा सम्पन्न लोगों के घरों में इनका दैनिक प्रयोग होता था लेकिन सामान्य गृहिणियाँ इन्हें विशिष्ट अवसरों के लिए सँभालकर रखती थीं। मंगनी-विवाह के अवसर पर इन चीज़ों का लेन-देन होता था।

पीठिका-रहित चोलियों को देखकर थोड़ा आश्चर्य हो सकता है कि क्या उनका उपयोग आज से पचास-सौ वर्ष पूर्व भी होता रहा है। ऐसी चोलियाँ प्रचलन में खूब थीं, उनमें जड़ित छोटे-छोटे शीशे अथवा अबरख के टुकड़ों से उनकी उपयोगिता तो बढ़ ही जाती थी, उनकी सज्जा में भी निखार आ जाता था। उस युग में सामान्य घरों में शृंगार-सज्जा के लिए आदमकद शीशों का प्रचलन नहीं था लेकिन अपने सौन्दर्य की छवि पाने की नारी की स्वाभाविक इच्छा दमित होकर नहीं रह गई, उसने अपनी चोलियों में ही छोटे-छोटे शीशे जड़ दिए और ऐसा करना उसके वश में था ही। इसके लिए उसे पुरुष पर निर्भर नहीं होना पड़ता था। उसने अपने लिए कशीदायुक्त रंग-बिरंगी, झिलमिलाती चोलियाँ तैयार कर लीं। उन्हें पहना भी। लेकिन आज की तरह वह उन चोलियों का खुल्लमखुल्ला प्रयोग नहीं कर पायी। उसे उस पर भारी-भरकम चोलू (पहाड़ी इलाकों में प्रचलित विशिष्ट प्रकार के लहंगे) व पूरी देह को ढाँपती हुई कमीज़ व कुर्त्ता पहनना पड़ा। लेकिन कभी-कभार ऊपर से पहने गये इन वस्त्रों को भी उसने सँवारा-सजाया, उन्हें कशीदा किया और शीशे तथा अबरख के सादे व रंग-बिरंगे टुकड़ों से सुसज्जित किया।

साज-सज्जा तो नारी-देह की अपेक्षा है लेकिन सामान्य पुरुष भी किन्हीं उपकरणों से अछूता ही रहे, नारी ने ऐसी स्थिति न आने दी। उसका मन भी रख लिया। जहाँ उसने अपने लिए चोलियाँ सजाईं, वहाँ पुरुष के लिए टोपियों को अलंकृत करने में भी कोई कोर-कसर न उठा रखी। इन टोपियों पर भी रंग-बिरंगे रेशमी धागों से बेल-बूटों के आकार प्रस्तुत किए और उनमें कहीं बीच-बीच में एक विशिष्ट योजना के अन्तर्गत अबरख के टुकड़े भी जड़ दिए ताकि आवश्यकता समझने पर वह भी मुँह देख ले। पुरुष को ऐसा सुन्दर उपहार मिल जाने पर उसे स्त्री के साज-शृंगार पर अधिक आपत्ति न रही होगी। स्त्री बेचारी डरती जो थी, उसने पुरुषों के उपयोग की अन्य चीज़ों का अलंकरण कर डाला। गद्दियाँ, पंखे आदि की बात छोड़ भी दें, चौपड़, गौमुखी आदि तो उसी के उपयोग की वस्तुएँ रहीं।

साज-सज्जायुक्त इन वस्त्रों में सबसे अधिक विशिष्ट उपलब्धि रूमाल ही रहे। और इन रूमालों में भी सबसे अधिक कलापूर्ण कशीदाकारी चम्बा रूमाल में देखने में आयी। यह कशीदाकारी पहाड़ी चित्रकला की ही एक शाखा मानी जा सकती है। इस कला के उपकरण भिन्न थे लेकिन वस्तु-विन्यास, कला-सौष्ठव, आदि बातें सामान्य थीं। जहाँ पुरुषों ने कला के माध्यम के रूप में रंग, कूची और कागज़ पकड़े वहाँ महिलाओं ने धागे, सूई और कपड़ों का प्रयोग किया। रंगों के चयन में पुरुषों और महिलाओं ने एक-सी सूझ-बूझ का ही परिचय दिया। भेद केवल इतना रहा कि लघुचित्र तथा भित्तिचित्र के कलाकार जितनी विविधता से रंगों का उपयोग कर सकते थे, वह कपड़ों की कशीदाकारी में सीमित हो गई। पहाड़ी चित्रशैली के लघुचित्रों तथा भित्तिचित्रों में जो सघन और विस्तारपूर्ण अंकन नज़र आता है, वह रूमालों की कशीदाकारी के लिए अपेक्षतया कठिन रहा। उन रूमालों तथा लघुचित्रों में विषय की समानता भी अवलोकनीय है। यहाँ भी वही भेद है कि लघुचित्रों में विषयों की व्यापकता है और रूमालों के विषय कृष्ण-लीला,

रास-लीला, राग-रागिनियाँ तथा किन्हीं पौराणिक विषयों के चित्रण तक ही सीमित रहा। रास-लीला का अंकन रूमालों पर सबसे अधिक हुआ है। विवाह सम्बन्धी दृश्यों को अंकित करते हुए भी अनेक रूमाल दिखाई पड़ते हैं जिसका कारण स्पष्ट है। इन रूमालों का लेन-देन विवाह में सबसे अधिक रहा तथा विवाह की रीति-प्रचलन में भी उनका उपयोग आवश्यक रूप से हुआ। विवाह-वेदी पर टँगा हुआ रूमाल अथवा इसी अवसर पर पूजा के कमरे में भित्ति-रूमालों का प्रचलन आज भी देखा जा सकता है लेकिन कशीदायुक्त पुराने रूमालों के स्थान पर अब साधारण-से रूमाल रख दिए जाते हैं। अब भी जिन साधारण रूमालों का प्रयोग होता है वे इस रूप से विशिष्ट हैं कि उनमें चित्रित विषय रीति-अनुकूल है।

आज यद्यपि कशीदाकारी मशीनी ढंग से होने में सहज, सुलभ हो गई है लेकिन चम्बा रूमालों के रूप में हमें जिस हस्त-शिल्प के दर्शन होते हैं, वह मशीनी उपकरणों के प्रयोग पर भी सम्भव नहीं। रंग और रेखाओं का जो कला-विधान, सौष्ठव-संयोजन पहाड़ी चित्रकला में दिखाई देता है, वही पहाड़ी रूमालों में भी है। गहरे उजले रंग और घुमावदार रेखाएँ अपनी सम्पूर्णता में लयबद्ध हैं। आकृतियों के अंकन के अतिरिक्त रूमाल फूल-पत्ती तथा बेल-बूटों से सज्जित रहे। ऐसे रूमाल जिनमें केवल फूल-पत्ती और बेल-बूटों का ही अंकन है, बड़ी संख्या में आज भी देखने में मिल जाते हैं लेकिन आकृति-अंकन वाले रूमाल अपेक्षतया कम हैं। इन रूमालों पर छोटे-छोटे पक्षियों का साधारण अंकन भी हुआ जैसे मोर, तितली, तोता, चिड़िया आदि। कहीं तो यह अंकन अपने विस्तार के साथ उभरा है और कहीं वह प्रभाववादी अभिव्यंजना ही लिए है।

उपकरण व विधि

रूमालों के लिए रेशमी व सूती कपड़े दोनों ही प्रयोग में आते थे। कपड़ों का उन दिनों अभाव था। इसलिए ऐसे भी रूमाल बने जिनका कपड़ा तो साधारण नज़र आता है लेकिन उन पर हुई कशीदाकारी अत्यन्त कलापूर्ण है। इस कशीदाकारी में जिन रंगीन धागों का उपयोग होता था, वे साधारण ‡साटिन के बिना बटे हुए धागे थे। पुराने रूमाल में हस्तकला की सुन्दर उपलब्धि नज़र आती है, कपड़ा और धागा दोनों ही हथकरघा की उपज थी, कोई मशीन का उत्पादन नहीं था। यह हाथकरघे का साधारण कपड़ा था। अधिकांशतः कपड़ा सफेद या लाल रंग में होता था। लाल रंग के इस कपड़े को स्थानीय बोली में हलवाण कहा जाता था। अनेक कपड़ों के लिए अस्तर भी लाल हलवाण या नीले कपड़े का होता था।

पुराने पहाड़ी रूमालों तथा थापड़ों की एक बड़ी विशेषता उनका दोहरा टाँका था जिससे कपड़े के दोनों ओर एक-सी कढ़ाई या कशीदा देखने में मिलता है। उसमें उल्टा-सीधा कुछ न था, रूमालों तथा थापड़ों का प्रयोग दोनों ओर से कर लिया जाता था। यह दोहरा टाँका आज भी कश्मीरी कढ़ाई की विशेषता के रूप में देखा जा सकता है। इकहरे टाँके का प्रचलन भी रहा है। ऐसे वस्त्र जिन पर इकहरे टाँके का प्रयोग होता था उनके पीछे किसी रंगीन अथवा मोटे कपड़े का अस्तर लगा दिया जाता था ताकि इकहरे टाँके की उल्टी सिलाई न दिखाई पड़े। रूमालों और थापड़ों पर आकृतियों की कढ़ाई हुई है, जैसे रास-लीला आदि के अंकन में। उनमें आकृतियों की बाहरी रेखा अधिकांशतः काले धागे से टाँकी गई है जिससे आकार में गहराई व उभार का बोध भी होने लगता है। रास-लीला आदि के दृश्य में राधा तथा गोपियों के पहनावों के किनारे कभी-कभार चाँदी और सोने के धागों से भी अलंकृत होते रहे जो सोने-चाँदी की कढ़ाई से युक्त वास्तविक पहनावे की अल्पानुकृति मात्र थी। इन्हीं आकृतियों में सोने-चाँदी के गहनों का बोध देने के लिए भी उनके गहनों का अंकन सोने-चाँदी के धागों से हुआ।

जिन रंगीन धागों का कढ़ाई में प्रयोग होता था, उन्हें रंगने का काम भी स्त्रियाँ स्वयं करती थीं। आज की तरह उन दिनों बाज़ार में रंग सुलभ न थे। लाल, पीला, काला, नीला प्राथमिक रंगों को वे स्वयं तैयार करती थीं और उनके विभिन्न अनुपात में मिश्रण से अनेक रंग तैयार हो जाते थे। इन्हीं रंगों में साटन के धागे रंग लिए जाने पर उनका कढ़ाई में प्रयोग होता था। महिलाओं ने इन रंगों का प्रयोग अत्यन्त दक्षता से किया है। कहीं तो रंग अपनी सम्पूर्ण चमक के साथ उभरे हैं और कहीं अपनी अत्यन्त मनलुभावनी आभाओं के साथ। रंगों के सम्बन्ध में आज जब हम उनके प्रयोग पर दृष्टिपात करते हैं तो हमें आश्चर्य होता है। विभिन्न रंगों को प्राप्त करने के सहज सुलभ तरीके थे। उन रंगों की आभा प्रखर ही नहीं, स्थायी भी थी। सौ, दो सौ साल पुरानी यह कशीदाकारी एकदम ताज़ी और नई मालूम देती है क्योंकि उनके रंग फीके नहीं पड़े, वे धूल-धूसरित नहीं हुए।

कुसुम्भा[1] तथा तुन (स्थानीय बोली में तुन्ही) के फूल तथा बीजों से लाल और पीला रंग प्राप्त किया जाता था। विभिन्न अनुपात में उनके मिश्रण से विभिन्न रंग बन जाते थे। केशु फूलों से गहरा पीला, नील से नीला, काई से हरा, राब (सीरा) से काली आभा लिए सेपिया तथा दीए की कालिख से काला रंग तैयार किया जाता रहा है। दाड़िम (स्थानीय बोली में दाड़ू भी—जंगली अनार) और कच्चे अखरोट के छिलकों से भी काला तथा नीला रंग तैयार होता था जिसे पहाड़ी बोली में कट कहा गया है। यहाँ 'कट' शब्द की सार्थकता समझ आती है। यह रंग दूसरे रंगों को काट जाता है अर्थात् उन पर फिर जाता है लेकिन स्वयं किसी से नहीं कटता, अपना रंग नहीं बदलता। काली कामरी वाली बात है जिस पर दूसरा रंग नहीं चढ़ता। लेकिन पहाड़ी बोली की अभिव्यंजना देखिए कि पूरी बात एक छोटे से शब्द द्वारा कह दी गई है।

रूमालों तथा थापड़ों में पहाड़ी चित्रकला-सी अनुकृतियाँ कैसे सम्भव हुईं, यह जानना पर्याप्त रुचिकर है। इस भ्रान्ति का निराकरण करना उचित ही रहेगा कि रूमाल यद्यपि पहाड़ी चित्रकला की उपलब्धियों में से एक था लेकिन उसे किसी चितेरे अथवा शिल्पकार ने तैयार नहीं किया। उन्हें एकमात्र स्त्रियों ने तैयार किया। इन रूमालों के निर्माण के पीछे सम्भ्रान्त महिलाओं का शौक रहा होगा, ऐसा सहज ही समझ में आता है। जब पहाड़ी चित्रकला की उपलब्धियाँ किन्हीं सम्पन्न घरों में स्त्रियों के सामने आयी होंगी तो उन्होंने यह अवश्य चाहा होगा कि सूई और धागे से वे भी इस चित्रकला के अनुकरण में कशीदाकारी करें। उनकी यह इच्छा उनकी रुचि में बदलते अधिक समय न लगा होगा जब उन्हें सिद्धहस्त चितेरों से कुछ मदद मिल गई होगी। ऐसा विचार है कि कपड़े पर काले रंग में या गेरुआ रंग में एक आरम्भिक रेखाचित्र कुशल चितेरे ही तैयार करते थे और उन पर रंग सम्बन्धी निर्देश भी वे दे दिया करते थे। स्त्रियों को इससे पर्याप्त सहायता मिल जाती थी। वे सावधानी तथा सुघड़ता से इन रेखाचित्रों पर कढ़ाई कर डालती थीं और इस प्रकार रूमाल तैयार हो जाता था। बाद में जब कढ़ाई सम्बन्धी इस विशिष्ट कला का प्रचलन बढ़ा तो अनेक स्त्रियों को अपनी प्रतिभा तथा कला-कौशल दिखाने का भी अवसर मिला। जहाँ पुरुषों के हाथों ने कूची सँभाली,

---

१. कुसुम्भा का रंग अग्नि की तरह प्रज्वलित है, लोकगीत की निम्न कड़ियों में पीहर की याद में जल रही नायिका कुसुम्भा के फूल देखकर और भी व्याकुल हो जाती है :

उपरा थे पेइये डोरिडिए कि बहुती कुसुम्भया लाल।
वीरन ता आया भैणे पाहुणा कि केढ़े आदर देऊँ।।

अर्थात् कुसुम्भा फूल गया है। उस पर इन्द्र-धनुष की छाया पड़ी है। भाई बहन के घर आ पहुँचा है। बहन कहती कि वह किस प्रकार उसका आदर-सत्कार करे।

वहाँ स्त्रियों के हाथों ने सूई। दोनों ही अपने-अपने क्षेत्रों में कमाल दिखाने लगे। और ऐसा भी समय आया जब स्त्रियाँ बिना किसी सहयोग स्वयं कढ़ाई का यह कार्य अत्यन्त दक्षता से करने लगीं।

कुछ रूमालों व थापड़ों में कढ़ाई के अतिरिक्त रंगों का प्रयोग भी देखने में आया है। रंग और कढ़ाई का यह सम्मिश्रण भी रुचिकर बना है।

रूमालों का उपयोग

पर्वतांचल में आज भी रूमालों का उपयोग देखा जा सकता है। हिमाचल प्रदेश तथा उत्तर प्रदेश के पहाड़ी इलाकों में स्त्रियाँ दुपट्टे के स्थान पर सिर के लिए उसका प्रयोग करती हैं। सिर पर बाँधा जाने वाला यह रूमाल 'ढाठू' कहलाता है। शहरों में लड़कियाँ 'स्कार्फ' का उपयोग करती हैं, उसी प्रकार हिमाचली देहातों में ढाठू प्रचलित है। स्कार्फ गले में बाँधा जाता है, और ढाठू सिर पर। पहाड़ों में गले में रूमाल डालने की प्रथा प्रचलित है जबकि शहरों में अभी यह फैशन मात्र ही कहा जाएगा। ढाठू और स्कार्फ लम्बाई-चौड़ाई में बराबर हैं और उपयोगिता की दृष्टि से भी दोनों में पर्याप्त समानता नज़र आती है। आज ढाठू का प्रचलन केवल उपयोगिता की दृष्टि से ही रह गया है, इसलिए कोई भी रंगीन सूती अथवा रेशमी कपड़ा इसके लिए उपयुक्त है। अधिकांशतः काला रेशमी ढाठू एक मानदण्ड स्थापित करता है। लेकिन पीला, लाल, वासंती, केसरिया रंग भी प्रचलित हैं। आज जिन ढाठुओं का प्रचलन है, उनमें कशीदाकारी नहीं होती।

पहाड़ी शैली में कशीदायुक्त रूमालों का प्रयोग मंगनी, विवाह, त्यौहार आदि अवसरों पर सबसे अधिक होता रहा। उपहार के रूप में रूमाल लिए-दिए जाते रहे। उपहार-सामग्री जिन चंगेरों-छड़ों[1] तथा पटारियों में प्रस्तुत की जाती रही हैं, उन्हें ढाँपने के लिए इन रूमालों तथा थापड़ों का प्रयोग होता था। मन्दिरों में देवी-देवताओं को जो पूजन-सामग्री अथवा भेंट-प्रसाद आदि औरतें ले जाती रहीं उन्हें ढाँपने के लिए इन रूमालों का उपयोग होता रहा। जिस स्थान पर देवी-देवता रखे रहते हैं, उसकी पीठिका को रूमालों से सज्जित किया जाता था। विवाह के अवसर पर वेदिका में ऊपर टँगा रूमाल भी यही होता था और जिस जगह पूजन होता था वहाँ लगा भित्ति-रूमाल भी पहाड़ी रूमाल ही की परम्परा में था। इस भित्ति-रूमाल पर विवाह का दृश्य ही अंकित रहता था और यह एक निश्चित विषय था।

कढ़ाई में पारंगत लड़की को अपने ससुराल में विशेष सम्मान मिलता रहा है। और जब परम्परागत पहाड़ी रूमाल तथा थापड़े बनते थे तो विवाह की दृष्टि से लड़कियों का महत्त्व कितना बढ़ जाता होगा, इस बात का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। वधु की यह विशिष्ट योग्यता उसे अच्छा वर मिलने में निश्चित रूप से सहायक होती रही होगी। अपना दहेज जुटाने में लड़कियाँ माँ-बाप की सहायता करती ही रही हैं, विशेषतया कढ़ाई आदि के काम में तो वे इस दृष्टि से अत्यन्त रुचि लेती रही हैं। अपना ही विवाह हो, इससे अधिक प्रेरणा लड़कियों के लिए और क्या हो सकती है। इसी से प्रेरित होकर परम्परागत कढ़ाई-कशीदे में अनन्य उपलब्धियाँ देखने में आयीं। विवाहोत्सव पर दी जाने वाली सौगात में रूमाल, थापड़े, चोलियाँ तथा ऐसी ही अनेक चीज़ें शामिल थीं जिन्हें सामूहिक रूप से 'स्यानणू' कहा जाता था। 'स्यानणू' में लड़की के लिए बिना सिला कपड़ा और विविध रंगों में धागों की गुच्छियाँ भी दी जाती थीं ताकि विवाहोपरान्त वह उनका अपनी सुविधा व आवश्यकता के अनुकूल उपयोग कर ले। रिश्तेदारों में रंगीन धागे बाँटने की प्रथा तो खूब प्रचलित रही।

१. उपहार की चीज़ें रखने के लिए बाँस से बनी तश्तरियाँ।

जितनी बड़ी संख्या में पहाड़ी चित्रकला की कृतियाँ बनीं, उतनी संख्या में रूमाल और थापड़े नहीं बन पाये। चित्र आज भी बहुत बड़ी संख्या में उपलब्ध हैं जिसका एक कारण तो यह है कि वह केवल संकलन और संरक्षण की वस्तु थी। यदि राजाओं व रईसों के घरों की बैठकों, शयन-कक्षों तथा दरबार-हॉलों में वे दीवार पर फ्रेम के भीतर प्रदर्शित भी हुए तो वहाँ इस स्थिति में उनका संरक्षण ही हुआ। यदि किसी को उपहारादि में दिए भी गए तो एक दुर्लभ कलाकृति समझकर पाने वाले ने अत्यन्त सावधानी से उसे सँभाला। इसके विपरीत रूमाल, थापड़े, टोपियाँ, चौपड़, गौमुखी, बास्कट, कोट आदि तो दैनिक व्यवहार की वस्तुएँ रहीं। कढ़ाई-युक्त इन चीज़ों को असावधानी से तो न बरता गया लेकिन दैनिक उपयोग में आने से ये चीज़ें पुरानी पड़ जाती रहीं और फट जाती रहीं। फिर कुछ काल बाद जब इस कढ़ाई का प्रचलन अधिक न रहा तो पुरानी चीज़ें कम होने लगीं और उनके स्थान पर नई अधिक न बन पायीं। यही कारण है कि लघुचित्रों की अपेक्षा रूमाल, थापड़े आदि कम संख्या में मिलते हैं। आज पहाड़ी चित्रकला की भाँति रूमाल और थापड़े भी संग्रहालयों में आकर्षण और रुचि की वस्तुएँ हैं। भारत के अनेक कला-संग्रहालयों में रूमालों का संकलन किया गया है। चम्बा के भूरिसिंह म्यूज़ियम में रूमालों तथा थापड़ों के बहुत अच्छे नमूने देखे जा सकते हैं। इसके अतिरिक्त पंजाब म्यूज़ियम, चण्डीगढ़ तथा बड़ौदा, कलकत्ता, बम्बई के संग्रहालयों में भी इस दिशा में अच्छी कृतियाँ देखने को मिलती हैं। भारत से बाहर लन्दन, पेरिस, न्यूयार्क, बास्टन तथा कुछ अन्य स्थानों में स्थित म्यूज़ियमों में रूमालों की सुन्दर कलापूर्ण कृतियाँ प्रदर्शित हैं। हिमाचल-प्रदेश में चम्बा के भूरिसिंह म्यूजियम के अतिरिक्त मण्डी के लोक-संस्कृति संस्थान[1] का नाम भी इस दृष्टि से उल्लेखनीय है कि रूमाल, थापड़े, चोलियाँ और अनेक पुराने पहनावे उसमें देखे जा सकते हैं।

○ ○ ○

१. पंडित चन्द्रमणि का एक निजी संकलन।

परिशिष्ट

पारिभाषिक शब्दावली

अंकन : Drawing, painting
अग्रभूमि : Foreground
अण्डाकार : Oval
अतिशयोक्तिपूर्ण, अतिरंजित : Exaggerated
अनुकृति (सादृश्य विधान) : Imitation, copy
अनुभूति : Feeling, experience
अनुरेखण : Tracing
अनुशासन : Discipline
अबरख : Mica
अभिरुचि : Taste
अभिव्यंजना, अभिव्यक्ति : Expression
अर्ध-बगली : Semi-profile
अलंकरण : Ornamentation
अलंकार : Ornaments, tropes, figures
अलंकारिता : Ornamentation, decoration
अल्पानुकृति : Miniature
आकर्षण : Fascination
आकार : Shape, figure, form, pattern
आकार रेखाएं : Bounding lines
आकृति : Figure, Drawing
आकृति-अंकन : Figure drawing
आकृति-चित्रण : Figure painting
आकृति सौन्दर्य : Figural beauty
आत्मा : Self, soul, being
आध्यात्मिक अभिव्यक्ति : Spiritual utterance
आध्यात्मिकता : Spirituality, metaphysics
आभा : Glow, shine, lustre, tone
आयाम : Dimensions
आरम्भिक रेखाचित्र : Preliminary drawing or line-sketch
आलेखन : Portray
आलेप : Coating
आसमानी नीला रंग : Sky blue colour
कंगूरे : Battlements
कट : A local term used to express the fastness or indelibility of colours.
कलम : School, style
कला : Art
कला-आन्दोलन : Art movement
कलाकार : Artist
कला-केन्द्र : Art centre
कला-कौशल : Artistic skill, art and craft
कलाकृति : Art, creation
कलागत गुण : Artistic qualities
कला चेतना : Art consciousness
कलात्मक आवेग : Aesthetic impulse, artistic impulse
कलात्मकता : Artistic qualities
कलात्मक दृष्टिकोण : Aesthetic view, artistic view
कलात्मक बोध : Aesthetic sense, artistic sense

कलात्मक मूल्यांकन : Artistic assessment or evaluation
कलात्मक सौन्दर्य : Aesthetic beauty
कलात्मक श्रेष्ठता : Artistic excellence
कला थाती : Art heritage
कला दीर्घा : Art gallery
कला-पारखी : Connoisseur
कला-पोषक : Art patron
कलाप्रियता : Love of art
कला-प्रेमी : Art lover
कला-बोध : Aesthetic sense
कलाभिरुचि : Artistic taste
कलारुचि : Artistic interest, art interest
कला-विधान : Art form, art technique
कला-विज्ञ : Authority on art
कला-समीक्षक : Art critic
कला-सौष्ठव : Artistic beauty
कल्पना : Imagination
कल्पनात्मकता, कल्पनाशीलता : Imaginativeness
कसीदाकारी, कढ़ाई : Embroidery
कसीदायुक्त रूमाल : Embroidered kerchiefs
काई : A substance from which green colour is prepared
काजल : Lamp black, black soot
कान्ति : Glow
काव्य : Poetry
काष्ठ कला : Wood work, wood art, wood sculpture
कुसुम्भा : A flowery plant in the hills, deep orange colour
कूची : Brush
केन्द्र : Centre, focuss
केन्द्र-बिन्दु : Nucleus
केशु फूल : A flower from which deep yellow colour is prepared
केसरिया रंग : Saffron colour
कैनवास : Canvas
कोट : Coat
कोणाकार : Angular
कोमल : Supple, delicate
कोमलता : Suppleness, delicacy
कोमल संयोजन : Delicate composition
कौशल : Technique, craft, skill
कौहरा : Wall-hanging used in wedding ceremony
खनिज रंग : Pigments, mineral colours
ख्यानणू : A dowry box
गच : Plaster
गद्दियां : Pillows, seats
गर्भ-गृह : Cella, image chamber
गहराई : Depth, density
गहरे रंग : Deep colours
गहरे साये : Deep shades
गुण : Quality, feature, properties
गुम्बद : Dome
गेयता : Lyrical quality, lyricism
गेरु : Red ochre, light red (mineral colour)
गोमुखी : Beads cover
ग्रन्थ चित्रण : Book illustration
घनीभूत : Intensified
घसीट : Sweep
घुटाई : Burnishing
घुमाव : Curve
घुमावदार रेखा : Curved lines
चमक-दमक : Lustre, shine, glow
चम्बा रूमाल : Chamba Rumal—an embroidered piece of cloth—square in size—on the style of Pahari paintings

चरित्रांकन : Portrait painting
चितेरा : Artist, painter
चित्र : Painting
चित्रकला : Art of painting
चित्रकारी : Painting, drawing
चित्रण : Painting
चित्रमय : Pictorial, picturous
चित्रशैली : Art style, style of painting
चित्र शृंखला : Series of paintings
चित्र संकलन : Art collection
चित्रालय : A place where the art pieces are housed
चित्रावलि : A set of paintings
चिन्तन : Thinking, contemplation
चूना : Lime
चोलू : A plaited over-garment
चोलियां : Blouses, cholies
चौकियां : Square size seats
चौपड़ : Dice
छंदयुक्त : Harmonious, metric
छायाचित्र : Photograph
छायातप : A term used in context of painting in post-Vedic literature
जामुनी रंग : Purple colour
ज्यामितिक आकृतियां : Geometrical drawings
टांका : Stitch
टैम्परा : Tempera
टोपियां : Caps
ढाठू : A piece of cloth used as headgear by the hill women folk.
तत्त्व : Elements, factors
तमस् गुण : Property of Darkness
ताड़पत्र : Birch leaf
ताल : Proportion and ratio in Indian art, rhythmic timing
तुन : A flowery tree
तूलिका : Brush
तेजस्विता : Radiance
तैल रंग : Oil colours
त्रखाण : Carpenter, skilled craftsman
थापड़ा : An embroidered piece of cloth bigger in size than Rumal used as cover for the gifts or the offerings to gods
दक्षता : Dexterity, proficiency, skill
दर्शन : Philosophy
दाड़िम : A wild pomegranate
दीप्तिपूर्ण : Bright, shining, glowing, radiating
दृश्य : Scene
दृश्य कला : Visual art
दृश्य चित्र : Landscape
दृश्यावली : Scenery
दृष्टिकोण : View-point
दृष्टिक्रम : Perspective
धरातल : Base, ground
नक्काशी : Engraving
नफासत : Delicacy, fineness
नायिका : Heroine, mistress
नायिका-भेद : The subtle classification of woman according to mood, sentiment and situation.
निखार : Bloom, refinement
नील : Indigo (organic colour)
नीला रंग : Blue colour
पद्धति : Manner
परम्परा : Tradition
परम्परागत : Traditional, inherent
परिपक्वता : Maturity
परिप्रेक्ष्य : Perspective

परिष्कार : Refinement
परिष्कृत : Refined
पलस्तर : Plaster
परिस्थिति : Psychological situation, circumstance
पात्र चित्रण : Figure drawing
पाषाण मन्दिर : Stone temple
पार्श्वभूमि : Background
पीठिका-रहित चोलियां : Backless cholies
पीठिका : Back, background
पीला : Yellow
पीला पत्थर : Yellow ochre
पुरातत्त्व : Archeology
पृष्ठभूमि : Background
प्रकाश : Light
प्रकृति : Nature
प्रकृति-चित्रण : Landscape painting
प्रक्रिया : Action, process
प्रखरता : Fastness
प्रतिकृति : Copy, reproduction
प्रतिपादन : Rendering
प्रतिबिम्ब : Reflection
प्रतिभा : Genius, talent
प्रतिमान : Standards
प्रतिरूप : Copy, symbol, representation
प्रतीक : Symbol
प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति : Symbolic expression
प्रतीकात्मकता, प्रतीक सिद्धान्त : Symbolism, symbolicalness
प्रदक्षिणा : Circumambulation
प्रमाण : Proportion, perspective, measure, correct perception
प्रवहमान : Dynamic, flowing
प्रवहमान लयात्मक रेखाएं : Flowing rhythmical lines
प्रवाह : Flow
प्रवृत्ति : Tendency, urge, instinct
प्रशामक गुण : Soothing quality
प्रांगारिक पदार्थ : Organic material
प्राकृतिक सौन्दर्य : Natural beauty
प्राथमिक रंग : Primary colours
प्रेमाचरण : Courtship
प्रेम-लीला : Romance
फलक : Medium, ground, plate
फ्रैस्को : Fresco
फ्रैस्को-सिक्को : Fresco-secco
बाध्य सामग्री : Binding material, adhesives
बाह्य रेखानुकृति : Outline drawing
बिम्ब : Image
बिम्ब-विधान : Imagery
बिन्दु : Point, focuss
बोध : Sense, consciousness
बौद्धिक स्तर : Intellectual level
भंगिमा : Mood
भक्ति : Devotion
भगवा रंग : Ochre colour
भाव : Idea, concept, emotion, state, action of feelings on forms
भाव-कल्पना : State of imagination
भाव-चेतना : State of psyche
भावना : Sentiment, feeling, emotion
भावनात्मक तुष्टि : Emotional satisfaction
भावनात्मक स्तर : Emotional level
भाव-पक्ष : Conceptual aspect
भावप्रेषण : Communication of feelings
भाव-बोध : State of sensibility
भावभंगिमा : Mood
भावांकन : Expression of feelings, translation of thought into drawing or painting

भावाभिव्यक्ति : Expression of feelings
भावावेग : Emotion, impulse
भित्ति : Wall, ground, medium
भित्तिचित्र : Mural paintings, frescoes
भित्ति-रूमाल : Wall hangings, scroll paintings
भित्ति-सज्जा : Wall decoration
भू-दृश्य : Landscape
भूमिका : Background
मत : Cult
मनोहारी : Fascinating
मनोहारिता : Fascination
महावर : Lac (organic colour)
माध्यम : Form, medium, vehicle
मानवाकृति : Human figure
मानवीय चेतना : Human consciousness
मिश्रण : Combination, mixture
मुखर : Expressive
मुखाकृति : Face, face-drawing
मुद्रा : Symbolism of the hands
मुलतानी मिट्टी : Yellow olive (mineral colour)
मुसव्वर : Artist
मूरल : Mural
मूर्त्तता : Concreteness
मूर्त्तिकला : Sculpture
मेहराब : Arcade
मोक्ष : Release
मौलिक : Original
मृदुल : Tender
मृदुलता : Tenderness
युगबोध : Age sensibility
योजनाबद्ध, योजनापरक : Schematic
रंग : Colours, hues, dyes
रंग-चयन : Choice or selection of colours
रंग-पट्टिका : Palette
रंग-प्रखरता : Intensity of colours
रंग-प्रतिपादन : Rendering of colours
रंग-विधान : Colour scheme, Technique of colour laying
रंग-संगीत : Colour music
रंजकता : Colour, pleasantry
रक्तवर्णी : Red-blood
रचना आवेग : Creative impulse
रचना-प्रक्रिया : Creative process
रजस् गुण : Property of might
रमणीय रंग : Charming colours
रमणीय वनस्थलि : Charming woodlands
रमणीयता : Charm
रस : Flavour, transcendent sentiment, aesthetics, aesthetic appreciation
शान्त : Tranquillity
करुण : Compassion, pathos
वीर : Heroic valour
शृंगार : Love, erotic
बीभत्स : Disgust, odious
रौद्र : Fury
हास्य : Humour, joviality
अद्भुत : Wonder, marvellous
भय : Fear, terror
रस सिद्धान्त : Principles of aesthetics
रसात्मक : Flavourous
रसात्मकता : Aesthetics, aesthetic appreciation
रसास्वादन : Appreciation, tasting of flavour, aesthetic appreciation
रसिक : Taster, appreciative
रहस्यवाद : Mysticism
राग : Passion, melody, song
रागमाला : Garlands of musical modes

राग-रागिनी : Melody moulds, musical modes
रागात्मकता : Lyricism
राजड़ा : Craftsman
रासलीला : Krishna, the divine lover, dancing with the maidens of Brindavan
रुचि : Interest
रूप : Form, modes
रूप-कल्पना : Perception of form
रूप-चित्र : Portrait
रूप-चित्रण : Portraiture, portrayal
रूप-चित्रांकन : Portrait painting, portrayal
रूप-भेद : The knowledge of appearances
रूप-सौन्दर्य : Beauty or grace of form
रूपान्तर : Transformation
रूपायन : Painting, portrayal
रूमाल : Kerchief, a square piece of embroidered cloth, scarf
रेखांकन : Line drawing
रेखा : Line
रेखाकृति : Line drawing
रेखाचित्र : Line sketch
लघु आकार : Miniature form
लघुचित्र : Miniature painting
लम्ब अक्ष रेखाएं : Vertical axis
ललित कला : Fine art
लय : Rhythm
लयात्मक : Rhythmic
लयात्मक अभिव्यक्ति : Rhythmical expression
लयात्मक घुमाव : Rhythmic curves
लयात्मक रेखाएं : Rhythmic lines
लयात्मक सामंजस्य : Rhythmic harmony
लयात्मक सौन्दर्य : Rhythmic beauty
लक्षण : Characteristics
लाजवर : Ultra marine (Lapis Lazuli) (mineral colour)
लाल रंग : Red colour
लालित्य : Aesthetics, grace, beauty
लालित्यपूर्ण : Graceful
लालित्यपूर्ण अभिव्यक्ति : Artistic expression
लावण्य : Grace
लावण्य योजन : Infusion of grace, artistic representation
लाक्षणिक : Emblamatic, metaphorical
लेप : Coat, plaster
लैट्राइट : Laterite
लोक कला : Folk art
लोक परम्परा : Folk tradition
लोक शिल्प : Folk technique, folk craft
लोक शैली : Folk style
वक्र रेखाएँ : Curved lines
वनस्थली : Woodlands
वनस्पति रंग : Vegetable colour
वर्गाकार : Square formation
वर्ण : Colour
वर्णकारिता : Colouring
वर्ण-बोध : Colour sense, colour perception
वर्ण-विधान : Colour scheme, colour composition, colour combination, colour form
वर्णिकाभंग : Artistic manner of using the brush and colours
वातावरण : Atmosphere
वासंती : Orange colour
वास्कट : Waist-coat
वास्तु-अंकन : Architectural drawing
वास्तु-कला : Architecture
वास्तु चित्रण : Architectural painting
वास्तु सौन्दर्य : Architectural beauty

विचार : Thinking, thought, concept, idea
विचारधारा : Ideology
विधा : Medium, form
विधि : Technique
विन्यास : Texture
वियोग-स्थिति : Analytic state
विलक्षणता : Uniqueness
विश्लेषणात्मक अध्ययन : Analytical study
विषय : Theme, content, object
विषय-क्षेत्र : Scope
विषयवस्तु : Subject matter, content
विस्तार : Volume, details
विस्तारपूर्ण आलेखन : Detailed portrayal
विहार : Monastry
वृत-खण्ड : Arc
वेग : Flow
वेगपूर्ण रेखाएं : Flowing lines
वेगयुक्त : Flowing, forceful
वैष्णव धर्म, मत, भक्ति : Vaishnava cult
व्यक्ति चित्र : Portrait
व्यंजना : Expression
शबीह : Portrait
शरीर रचना : Anatomy, anatomical drawing
शाश्वत चेतना : Eternal conscience
शिखायुक्त चाप : Cusped arch
शिखायुक्त मेहराब : Cusped arcade
शिल्प : Craft
शिल्पकार, शिल्पी : Craftsman, artisan, technician
शिल्पगत न्यूनता : Technical flaw
शिल्प-दक्षता : Technical skill
शिल्प पक्ष : Technical aspect
शिल्प पद्धति : Technique
शिल्प विधान : Technical form
शैली : Style, school, technique
शैलीगत : Stylised
शैलीगत समानता : Similarity in style
शोभा शृंगार : Decoration, Ornamentation
शृंगार-प्रधान : Erotic
शृंगार रस : Erotic mode
षटकोणाकार : Hexagonal
संकलन : Collection
संगीतमयता : Melody, melodiousness
संग्रहालय : Museum
संग्राफ : Crude chinnabar (mineral colour)
संमितीय अंकन : Symetrical drawing
संयोजन : Synthesis, fusion, composition
संयोग-स्थिति : Synthetic state
संरचना : Composition
संस्कार : Culture, forced intution or conditioning
संस्कृति : Culture
सांस्कृतिक भूमिका : Cultural background
सज्जा : Decoration, lay-out, adornment
सत्व गुण : Property of Light
सपाट : Flat
सफेदा : Zinc white (chemical)
समतल : Smooth, flat
समतल अक्ष रेखाएं : Horizontal axis
समन्वय, समन्वयात्मकता : Synthesis, fusion
समानान्तर रेखाएं : Parallel lines
सम्मिश्रण : Mixture
सम्प्रदाय : Cult
सम्प्रेषणीयता : Communication
सम्वेदनशीलता : Sensitiveness
सम्वेदनशील रेखाएं : Sensitive lines
सर्जनशील, सर्जनात्मक : Creative
साज-सज्जा : Decoration
सादृश्य : Similitude
सामंजस्य : Harmony

साये : Shades
सारूप्य : Similarity in form or composition, similitude
सारूप्य बोध : Sense of similitude
सार्थकता : Meaningfulness
सिद्धहस्त कलाकार : Consumate artist
सिन्दूर : Red lead (chemical)
सियालकोटी कागज़ : Handmade paper
सुकुमार आकृतियां : Tender, delicate figures
सुकुमारता : Fineness, delicacy, tenderness
सुकोमल : Supple
सुनहरा रंग : Golden colour
सुन्दर : Beautiful
सुन्दरता : Beauty
सूक्ष्म : Fine, minute, subtle
सूक्ष्मता, सूक्ष्मात्मकता : Fineness, minuteness, subtleness, subtlety
सौन्दर्य : Beauty, aesthetics
सौन्दर्य-चेतना : Aesthetic consciousness
सौन्दर्य-दृष्टि : Aesthetic view
सौन्दर्य-बोध : Aesthetic sense
सौन्दर्य-भावना : Aesthetic feeling
सौन्दर्य-विधान : Aesthetics
सौन्दर्य-वैभव : Aesthetic richness
सौन्दर्यात्मक भावावेग : Aesthetic impulse
सौन्दर्यानुभूति : Aesthetic experience
सृष्टि : Creation
स्थायी भाव : Dominant state or emotion
स्थूल : Concrete
स्थूलाकार : Concrete form
स्वर-माधुर्य : Melody
हड़ताल : Orpiment (mineral colour)
हरमुंजी : Indian red (mineral colour)
हरा रंग : Green colour
हलवाण : A cotton cloth in red colour used on auspicious occasions in the hills
हस्तशिल्प : Handicrafts
हाज़ा पत्थर : Terra verte
हिम धवल : Snow-white
हिंगुल : Vermilion

सहायक ग्रन्थ

अंग्रेजी ग्रन्थ

Aggarwala, Vasudeva S.

The Heritage of Indian Art (1964)

Archer, W. G.

Garhwal Painting

Indian Miniatures (1960)

Indian Painting

Indian Painting in the Punjab Hills (1952)

Kangra Painting

The Loves of Krishna

Binyon, Laurence

The Court Painters of the Grand Moghuls (1921)

Brown, Percy

Indian Painting (1960)

Indian Painting under the Mughals (1924)

Coomaraswamy, A. K.

The Aims of Indian Art (1908)

Arts & Crafts of India and Ceylon (1913)

History of Indian and Indonesian Art (1965)

Indian Drawings (i) First series (1910)

(ii) Second series (1912)

Rajput Painting, 2 Vols. (1916)

Selected Examples of Indian Art (1911)

Coomaraswamy, A. K. & Duggirala, G. K.

The Mirror of Jesture (1917)

Dasgupta, S. N.

Fundamentals of Indian Art (1960)

Fabri, Charles
An Introduction to Indian Architecture (1963)
French, J. C.
Himalayan Art (1931)
Ganguli, O. C.
Masterpieces of Rajput Painting (1926)
Goetz, Hermann
The Early Wooden Temples of Chamba (1955)
India (1959)
Gray, Basil
Rajput Painting
Griffiths, J.
Paintings of Ajanta (1897)
Havell, E. B.
The Art Heritage of India (1964)
Handbook of Indian Art (1920)
Indian Sculpture and Painting (1920)
Herringham (Lady)
Ajanta Frescoes (1915)
Himachal Pradesh District Gazetteers—Chamba (1963)
Hutchison, J. & Vogel, J. Ph.
History of the Punjab Hill States, Vol. I & II (1933)
Khandalavala, Karl
Miniature Painting from the Sri Motichand Khajanchi Collection (1960)
Pahari Miniature Painting (1958)
Kramrisch, Stella
The Art of India (1954-55)
Lawrence, George
Indian Art—Mughal Miniatures (1963)
Indian Art (Paintings of the Himalayan States)
Man Mohan
A History of the Mandi State (1930)
Mehta, N. C.
Studies in Indian Painting (1926)

Mehta, N. C. & Moti Chandra
The Golden Flute (1962)
Mukherjee, Radhakamal
The Culture and Art of India (1959)
The Flowering of Indian Art (1964)
Publication Division, Govt. of India
Indian Art through the ages (1951)
Museums and Art Gallaries (1956)
Punjab Government, Lahore
Gazetteer of Chamba State (1910)
Kangra District Gazetteer (1904)
Kangra District Gazetteer (1926)
Punjab Gazetteers—Mandi State, Vol. XII-A (1920)
Randhawa, M. S.
Basohli Painting (1959)
Chamba Painting (1967)
Kangra Paintings of the Bhagavata Purana (1960)
Kangra Paintings of the Bihari Sat Sai (1966)
Kangra Paintings of the Geet Govinda (1963)
Kangra Paintings on Love (1962)
Kangra Valley Painting (1954)
The Krishna Legend in Pahari Painting
Read, Herbert
Art and Society (1956)
The Meaning of Art (1949)
Reiff, Robert
Indian Miniatures—The Rajput Painters (1959)
Rubissow, Helen
Art of Asia (1954)
Singh, R. N. N.
Geet Govind in Basohli School of Indian Painting (Introduction)
Smith, Vincent A.
A History of Fine Art in India and Ceylon (1930)
Shanti Swarup
The Arts and Crafts of India and Pakistan (1957)

Stooke, H. J. and Khandalavala K.
The Laud Ragamala Miniatures (1953)

Vogel, J. Ph.
Antiquities of Chamba State (1911)
Catalogue of the Bhuri Singh Museum of Chamba (1909)

Walton, H. G.
District Gazetteers of the United Province—Garhwal Vol. XXXVI (1910)

Zimmer, Heinrich
The Art of Indian Asia Vol. I & II (1955)

पत्र-पत्रिकाएं (अंग्रेज़ी)

1. Arts Asiatiques Tome XIII (1966)—Some early nineteenth century frescoes and the painter 'Angad of Sirmur' by Dr. B. N. Goswamy.
2. Bhavan's Journal (The Pageant of Indian Painting)
   - May 22, 1966 (1) The Glorious Beginning —Prof. O. C. Gangoli
   - June 5, 1966 (2) The Ajanta and Bagh Styles —Sri Asok Mitra
   - June 19, 1966 (3) Mughal Painting —Dr. Moti Chandra
   - July 3, 1966 (4) The Rajput Style —Dr. Niharranjan Ray
   - July 17, 1966 (5) The Kangra Kalam —Dr. M. S. Randhawa
3. The Himachal Times, Jan. 26, 1952—'Himachal—Abode of Pahari Paintings' by Mukandi Lal.
4. The Journal of Indian Art and Industry, Oct., 1915—"The Hamir Hath' or the obstinacy of Hamir, the Chauhan prince of Ranthambhor" by Hiranand Shastri.
5. Marg—June, 1964—Number 3
6. Marg—March, 1957—Number 3
7. The Modern Review, Oct., 1960—'Basohli Paintings in the Sri Chitralayam, Trivandrum' by K. P. Padmanabhan Tampy B. A.
8. Roopa-Lekha (1951) : R. L. Vol. XXII No. 1.
9. Roopa-Lekha (Summer, 1954) : R. L. Vol. XXV No. 1.

10. Roopa-Lekha (Summer, 1956) : R. L. Vol. XXVII No. 1 & 2.
11. Roopa-Lekha) :December, 1958) Vol. XXIX No. 1 & 2.
12. Roopa-Lekha (July, 1959) : Vol. XXX No. 1 & 2.
13. Rupam No. 27 (1929)
14. The Times of India Annual (1964)
15. The Times of India Annual (1966)
16. The Times of India Annual (1967)

हिन्दी-ग्रन्थ

१. श्री अरविन्द : भारतीय संस्कृति के आधार
२. असितकुमार हालदार : भारतीय चित्रकला (इतिहास) (१९५९)
३. डॉ० गणपतिचन्द्र गुप्त : बिहारी सतसई (१९६२)
४. डॉ० जगदीश गुप्त : प्रागैतिहासिक भारतीय चित्रकला (१९६७)
५. डॉ० जगदीश गुप्त : भारतीय कला के पदचिह्न (१९६१)
६. धीरेन्द्र वर्मा, ब्रजेश्वर शर्मा, धर्मवीर भारती, रामस्वरूप चतुर्वेदी, रघुवंश { हिन्दी साहित्य कोश (भाग १) (संवत् २०२०)
७. भगवतशरण उपाध्याय : सांस्कृतिक भारत (१९५५)
८. राजबली पांडेय : हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास (संवत् २०१४ वि०)
९. राजेश्वरप्रसाद नारायणसिंह : महाराजा संसारचन्द (१९५९)
१०. राधाकमल मुकर्जी : भारत की संस्कृति और कला (१९५९)
११. रामचन्द्र शुक्ल : कला और आधुनिक प्रवृत्तियाँ (१९५८)
१२. रामधारीसिंह दिनकर : संस्कृति के चार अध्याय (१९५६)
१३. डॉ० रामसागर त्रिपाठी : बिहारी मीमांसा (१९६०)
१४. राहुल सांकृत्यायन : हिमालय-परिचय (१) गढ़वाल
१५. वाचस्पति गैरोला : भारतीय चित्रकला (१९६३)
१६. विनयमोहन शर्मा : गीत गोविन्द (१९५५)
१७. हरिभाऊ उपाध्याय : भागवत धर्म (१९५१)

पत्र-पत्रिकाएं (हिन्दी)

किशोरीलाल वैद्य

आजकल, नवम्बर १९६६ : पहाड़ी कला की लुप्तप्राय रंगीनियां—मण्डी के भित्तिचित्र
जन-साहित्य, मई-जून-जुलाई १९६६ : कांगड़ा कलम

ज्ञानोदय, जून १९६३ : कांगड़ा चित्रकला—एक विहंगम दृष्टि
ज्ञानोदय, अप्रैल १९६५ : कांगड़ा कलम—एक सांस्कृतिक थाती
ज्ञानोदय, अगस्त १९६५ : कांगड़ा कलम की भावभूमि
धर्मयुग, २५ जून १९६७ : इतिहास और चित्रकला की घाटी—बसोहली
साप्ताहिक हिन्दुस्तान, २८ मई १९६७ : मन्दिरों की नगरी : मण्डी
हिमप्रस्थ, मार्च १९६६ : पहाड़ी चित्रकला—एक परिचय
हिमप्रस्थ, जनवरी १९६८ : मन्दिरों की नगरी : मण्डी

राजेश्वरप्रसाद नारायणसिंह

आजकल, नवम्बर, १९६५ : बिलासपुर कलम की चित्रकला

विश्वचन्द्र

हिमप्रस्थ, नवम्बर, १९६१ : चम्बा चित्रशैली का आरम्भ

अनुक्रमणिका

अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा
हिमालयो नाम नगाधिराजः
—कालिदास

धौलाधार
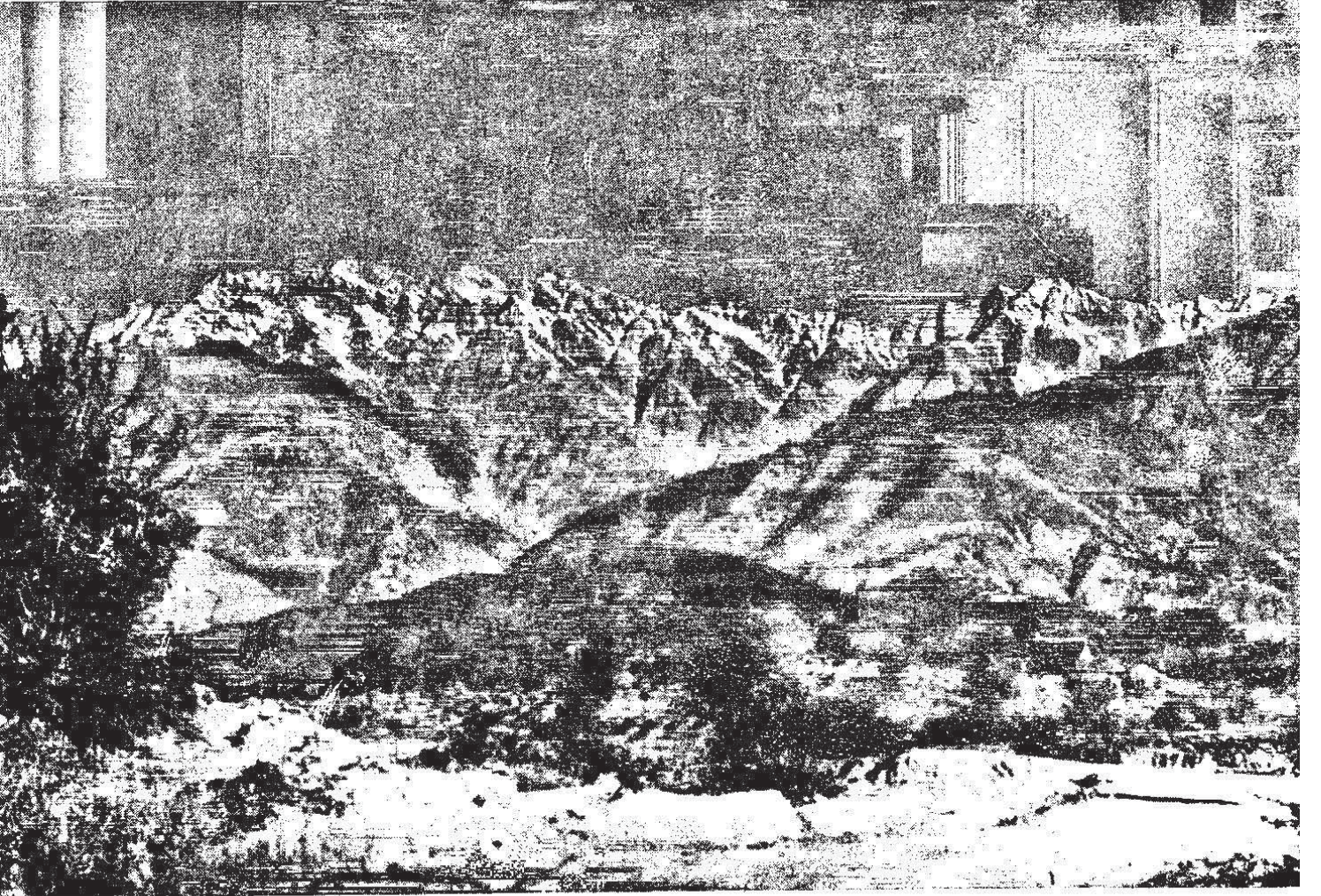
३. कांगड़ा घाटी : एक दृश्य-स्थली
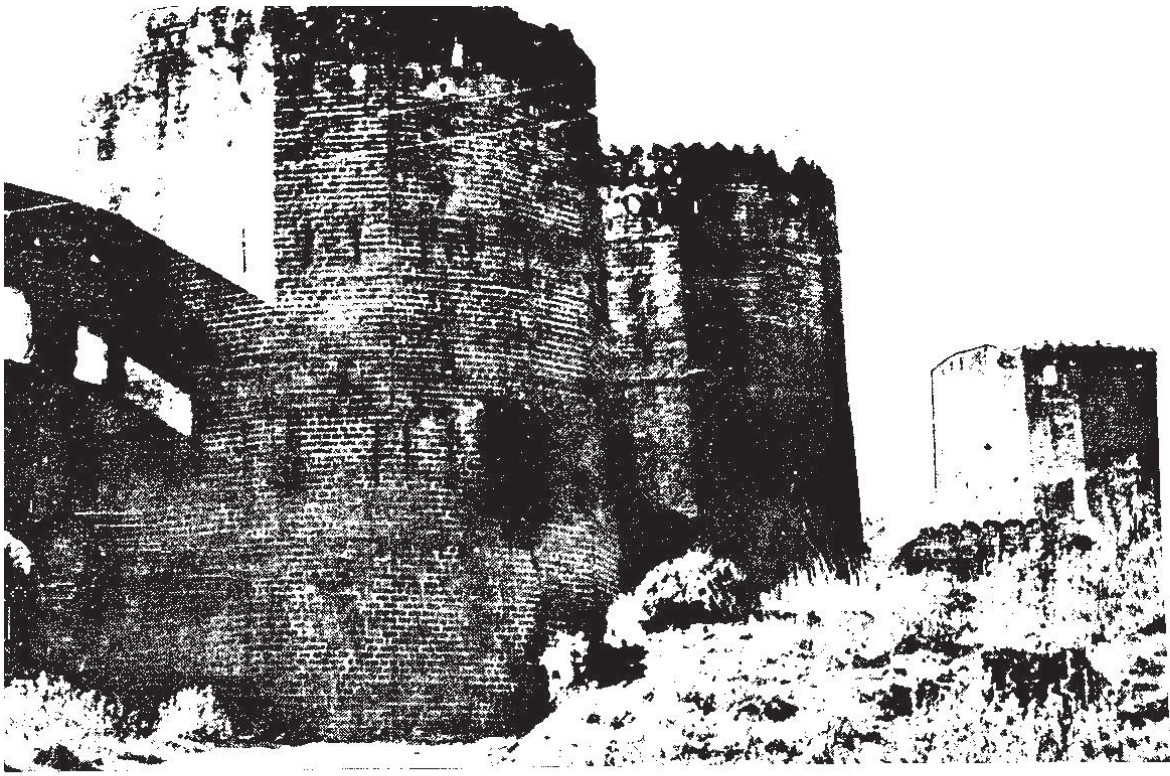
४.

नूरपुर का क़िला

५.

रंगमहल : चम्बा

गोबिन्द सागर में विलुप्तप्राय बिलासपुर महल–भित्ति-सज्जा

शिव-पार्वती : भित्तिचित्र

७.

हरिजस कोठी, मण्डी

दमदमा भवन : अग्रभाग की सज्जा मण्डी
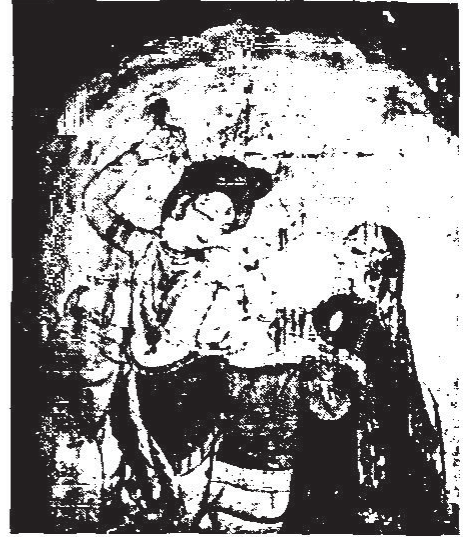
९. राम-राज्याभिषेक कांगड़ा
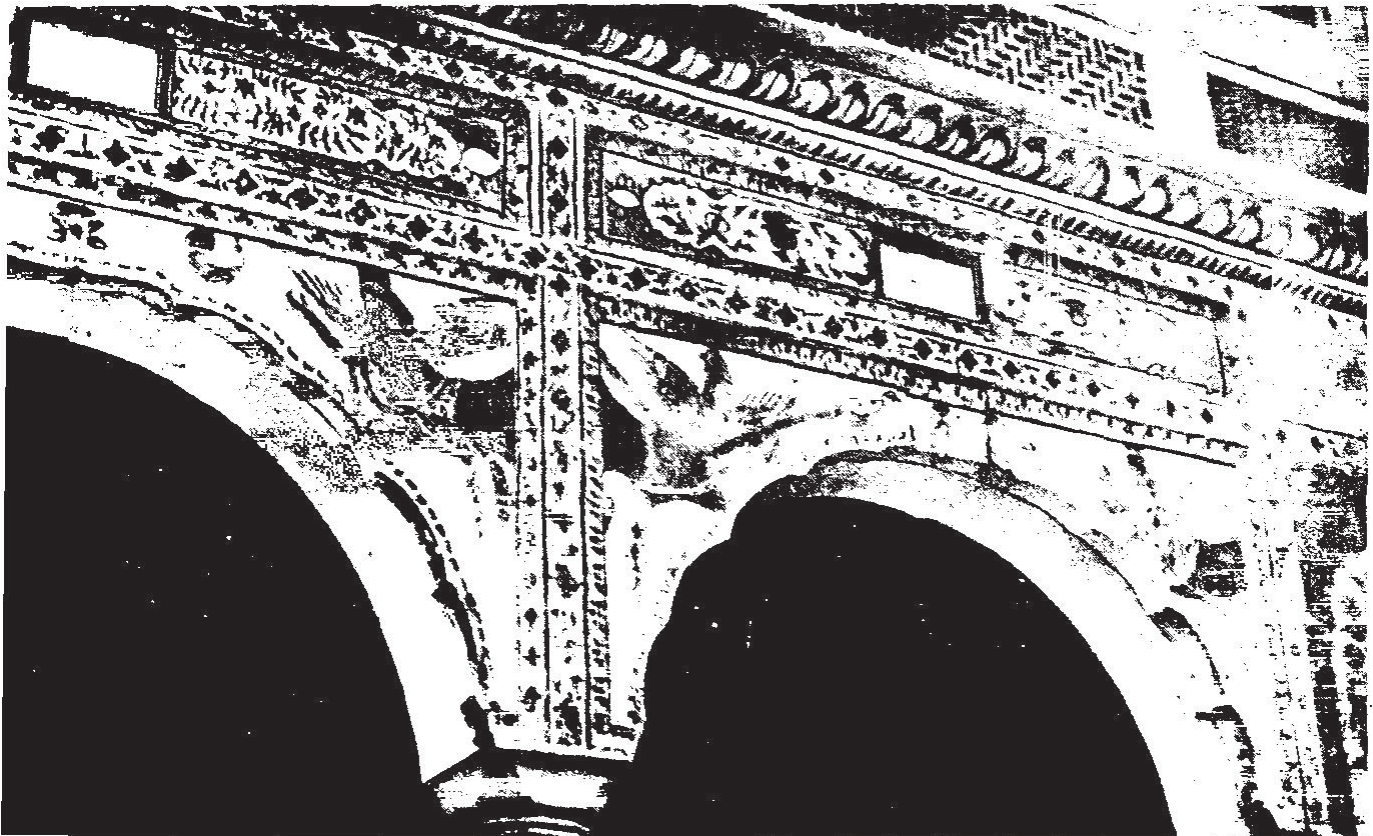
भगवान् नृसिंह द्वारा दैत्यराज हिरण्यकशिपु का वध और भक्त प्रह्लाद की रक्षा बसोहली

कामेश्वर मन्दिर : भित्ति-सज्जा मण्डी

१२. जसरोटा के मियां मुकुन्द देव जम्मू

अर्घ्यदान बसोहली

१४.

कांगड़ा

कृष्ण का वंशी-वादन
(भागवत-पुराण—दशम स्कन्ध)
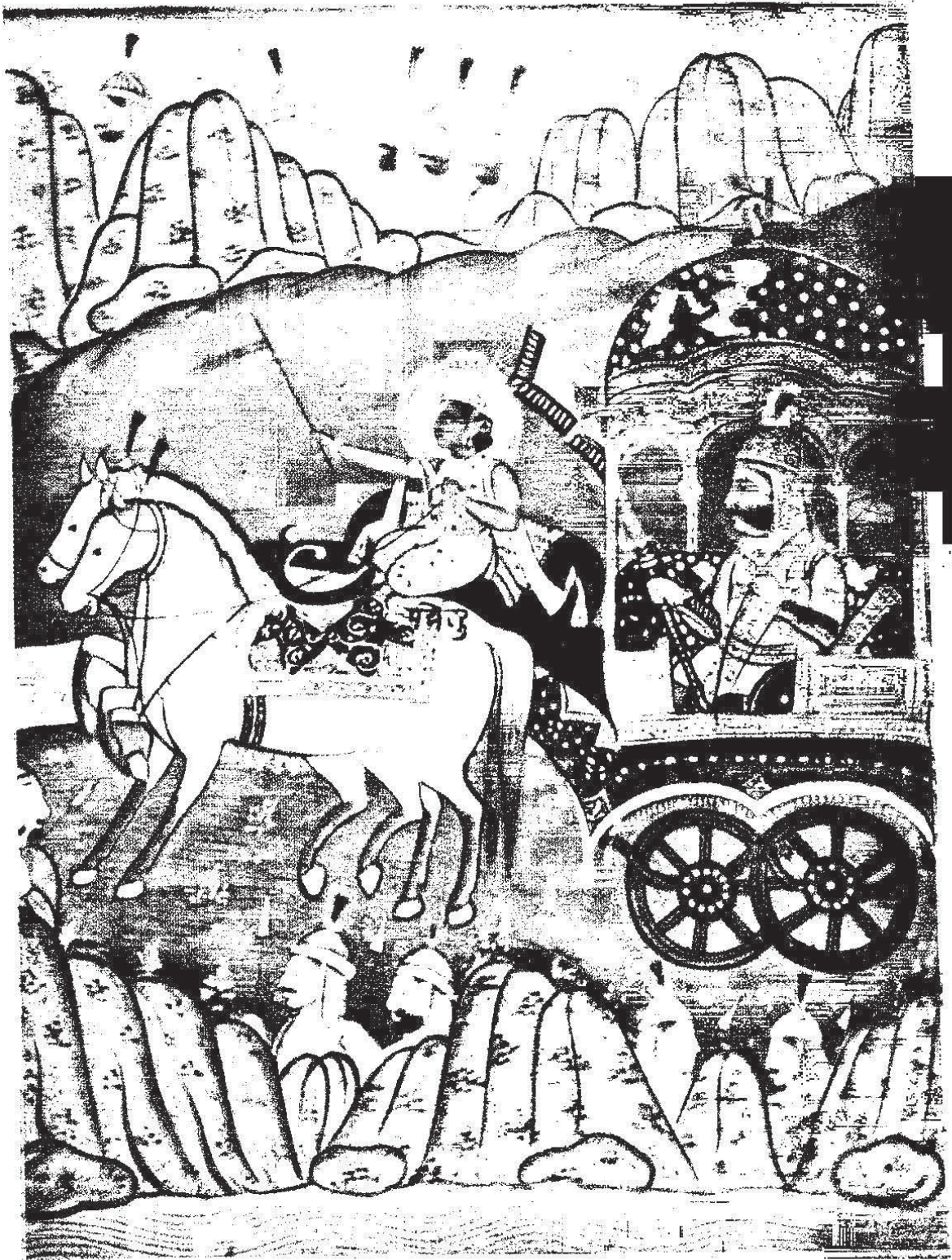
कांगड़ा　　अर्जुन द्वारा सेना निरीक्षण　　१५.

१६. वज़ीर संगारू दलोल बिलासपुर

१७. मियां रघुनाथसिंह मण्ड

१८. राजमहल बिलासपुर

१९.
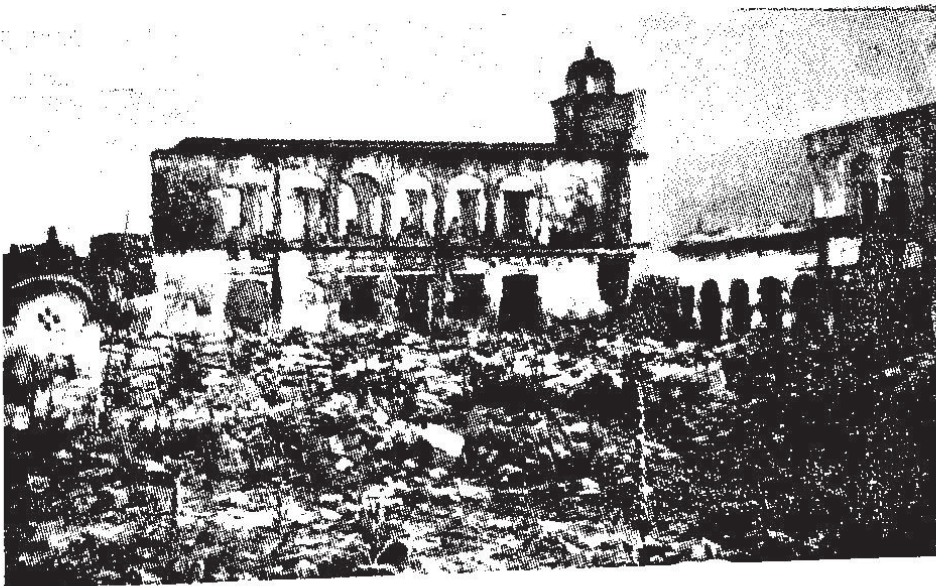
युद्ध-दृश्य
अखण्ड चण्डी महल
भित्तिचित्र

चम्बा

२०.

कालिय-दमन (ऊपर)
दुर्गा-स्तुति (नीचे)

भित्तिचित्र
देवी कोठी—चम्बा

२१. भित्ति अलंकरण—टारना मंदिर, मण्डी

२२. राधा और कृष्ण : एक संकट स्थिति कुल्लू

२३. कृष्ण-लीला गढ़वाल
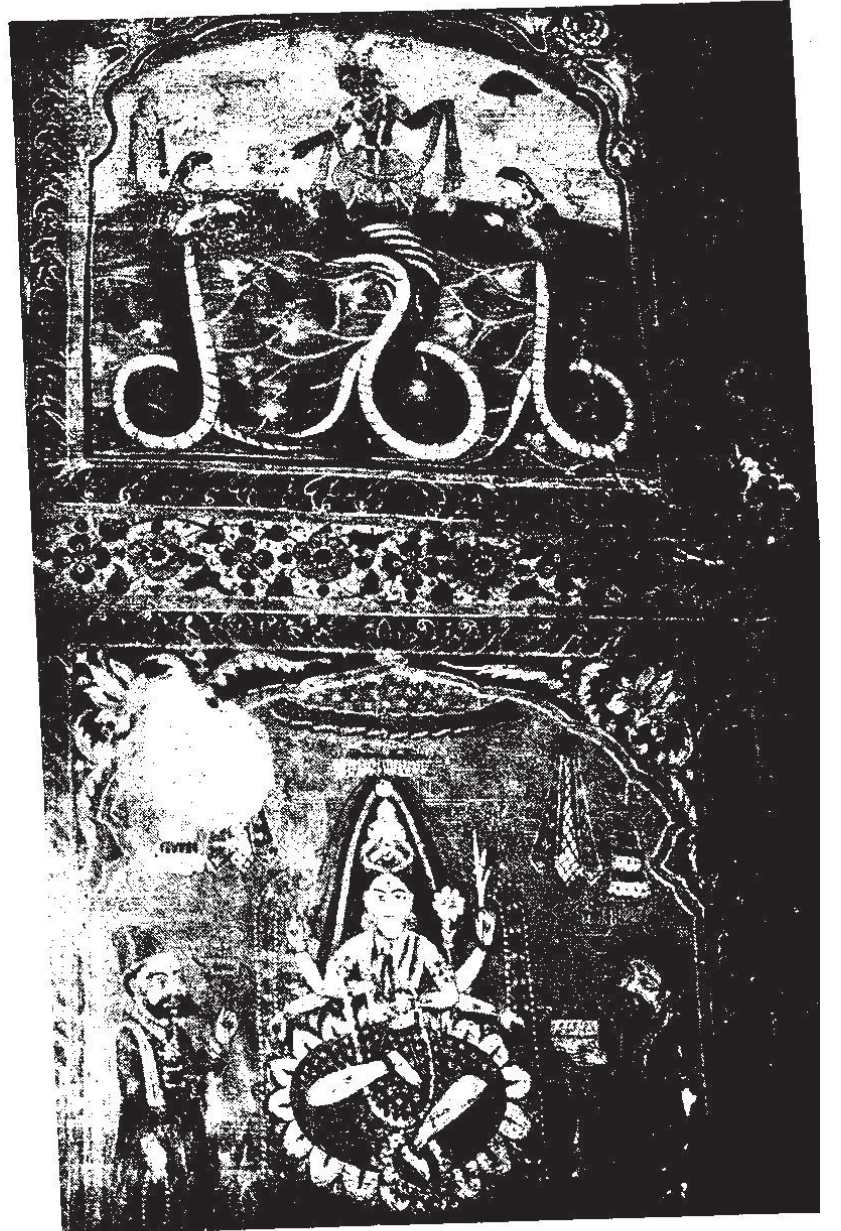
२४. गुरु अर्जुनदेव मण्डी

२५. राजा समशेर सेन के विवाह का दृश्य मण्डी

२६.

गुरु अमरदास

मण्डी

२७. राजा सूरमा सेन मण्डी

२८. गुरु गोबिन्दसिंह मण्डी

२९. देवताओं द्वारा राम-स्तुति बिलासपुर

३०. नायिकाएँ मण्डी

३१.

पंडित हिमांशु

मण्डी
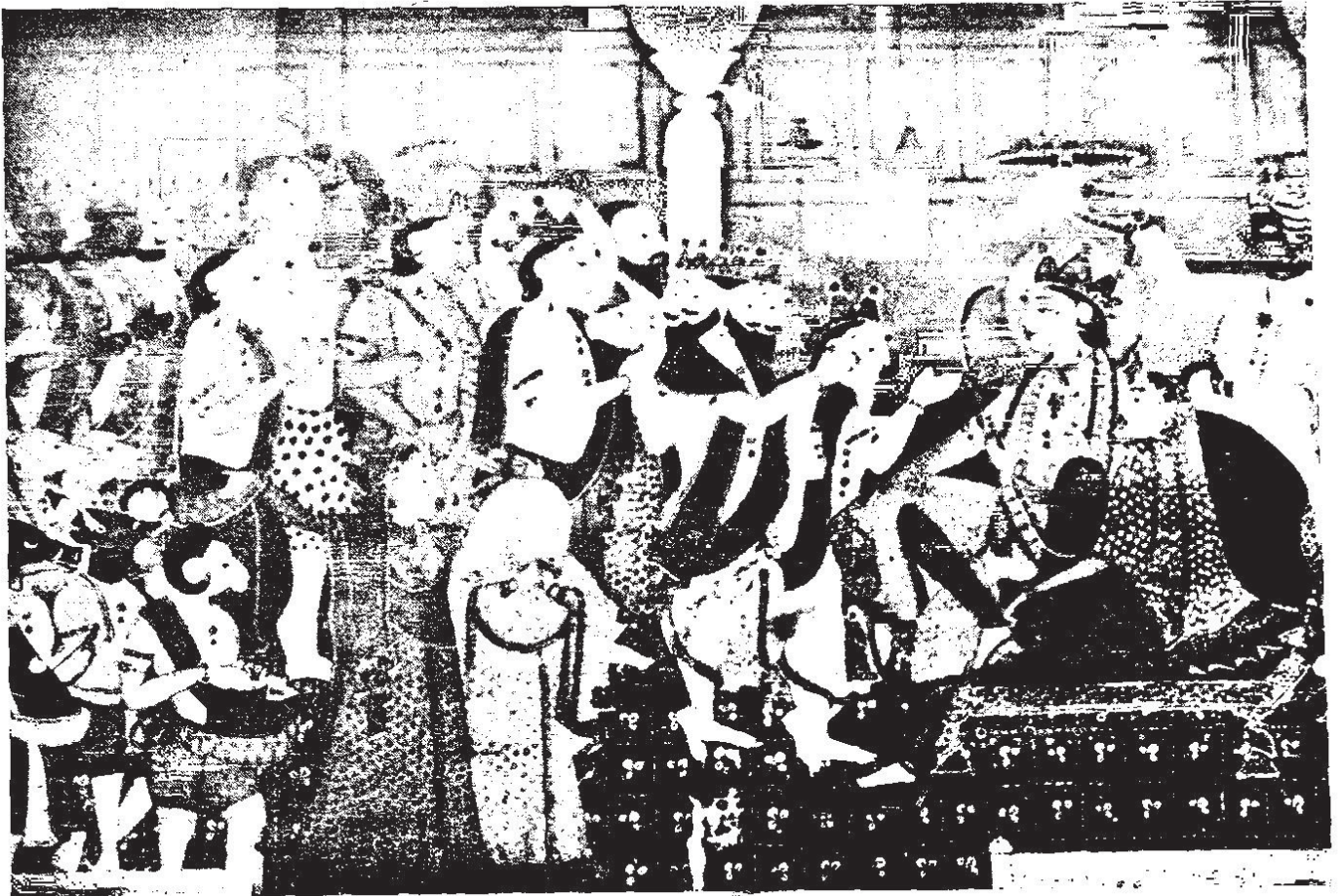
३२.

चित्रकार गाहिया नरोत्तम
(चित्र सं० ३० और ३१ के चित्रकार)

मण्डी

गुलेर दूतिका प्रेमिका को प्रेमी से मिलने के लिए ले जाती हुई ३३.

३४. नायिका चम्बा

गुलेर

वंशीधर कृष्ण और गोपी—एकान्त मिलन

(भागवत पुराण—दशम स्कन्ध)

३५.

३६. ब्रह्मा-ब्रह्माणी मण्डी

३७.

महिषासुरमर्दिनी

पुंछ

३८.

राजा सूरमा सेन

मण्डी

३९.

राजा सिद्ध सेन

मण्डी

४०.

राज्य समारोह
अखण्ड चण्डी महल
भित्तिचित्र

चम्बा

४१.
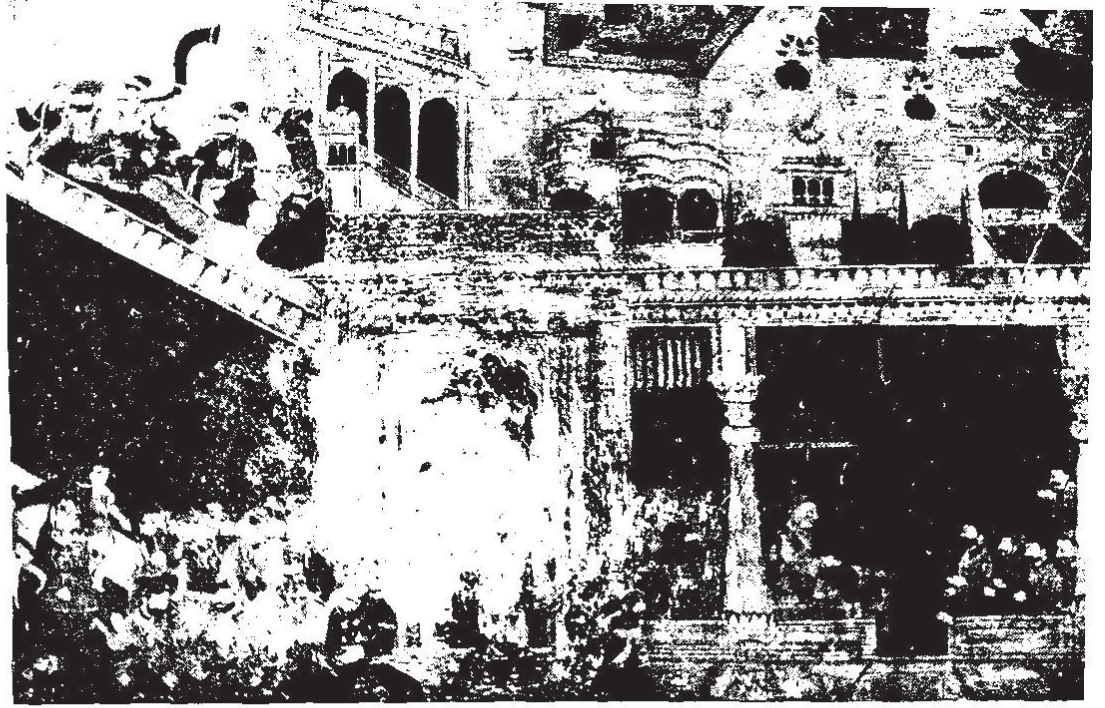
ऊपर बाएँ : कृष्ण-लीला
ऊपर दाएँ : राम-पंचायत
नीचे बाएँ : चौसर खेलते हुए राधा-कृष्ण
नीचे दाएँ : कृष्ण बाल-क्रीड़ा
अखण्ड चण्डी महल : भित्तिचित्र

चम्बा

४२.

सौन्दर्य-लहरी :
एक चित्रांकित पृष्ठ

सौं-
६१
पापविनिर्मुक्तः सुभगो लोकविश्रुतः
वांछितं फलमाप्नोति लोकेस्मिन्नात्र संश
य: ॥
श्री संवत १८७० साल भाद्रपद मासे शुक्लेपक्षे
लकनंदागंगेः
स्वामिनः पुस्त
कलि
श्री ॥ श्री ॥ श्री ॥ श्री ॥ श्री ॥ श्री ॥ श्री ॥

गढ़वाल

४३.

ग्वाल बालों की आंख-मिचौनी

कांगड़ा

४४.

टोड़ी रागिनी

जम्मू
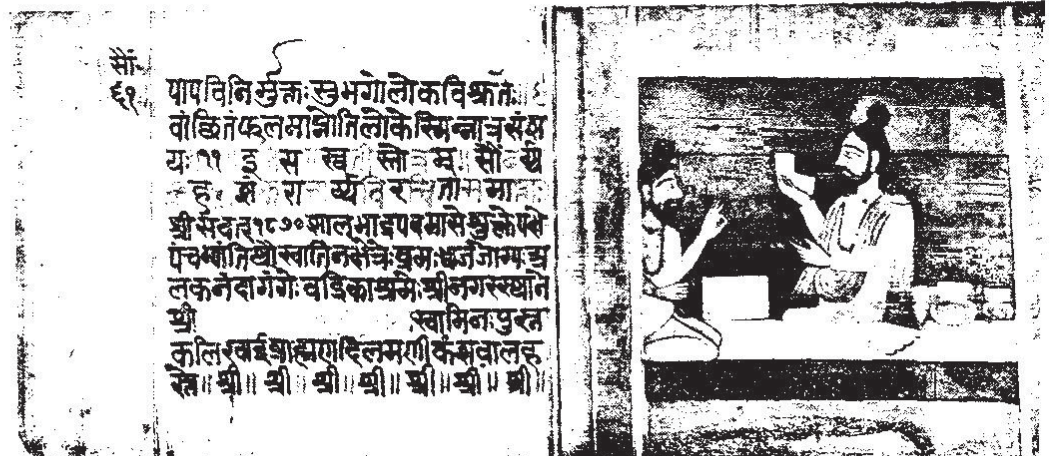
कांगड़ा गोपाल-कृष्ण गोधूलि की बेला में गौओं के साथ घर लौटते हुए ४५.

४६. ऋद्धि-सिद्धि के स्वामी भगवान् गणेश गढ़व

४७. सुलतान इब्राहिम आदम और फरिश्ते पुंछ
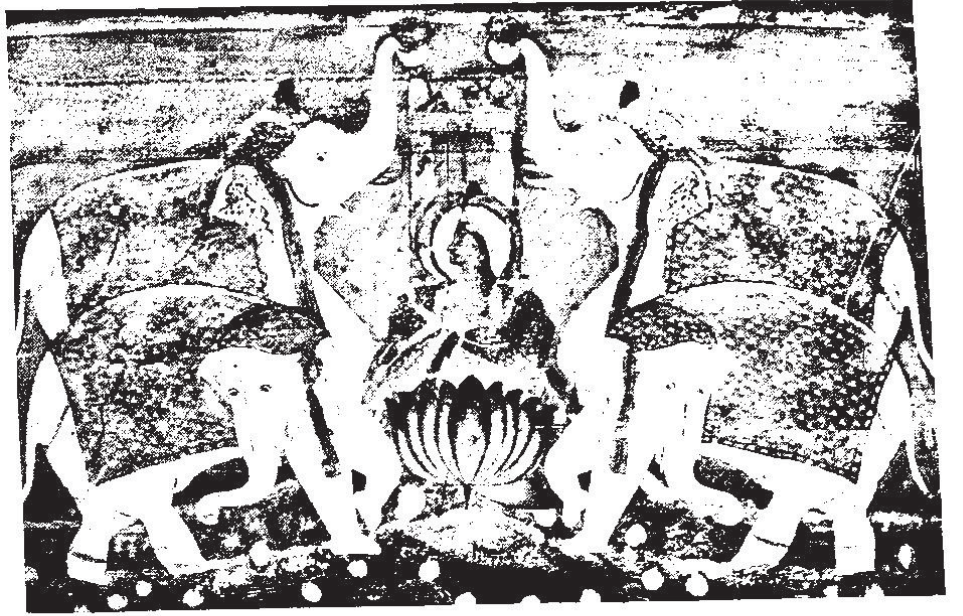
४८. गज-लक्ष्मी मण्डी

ब्रह्म-भोज कांगड़ा
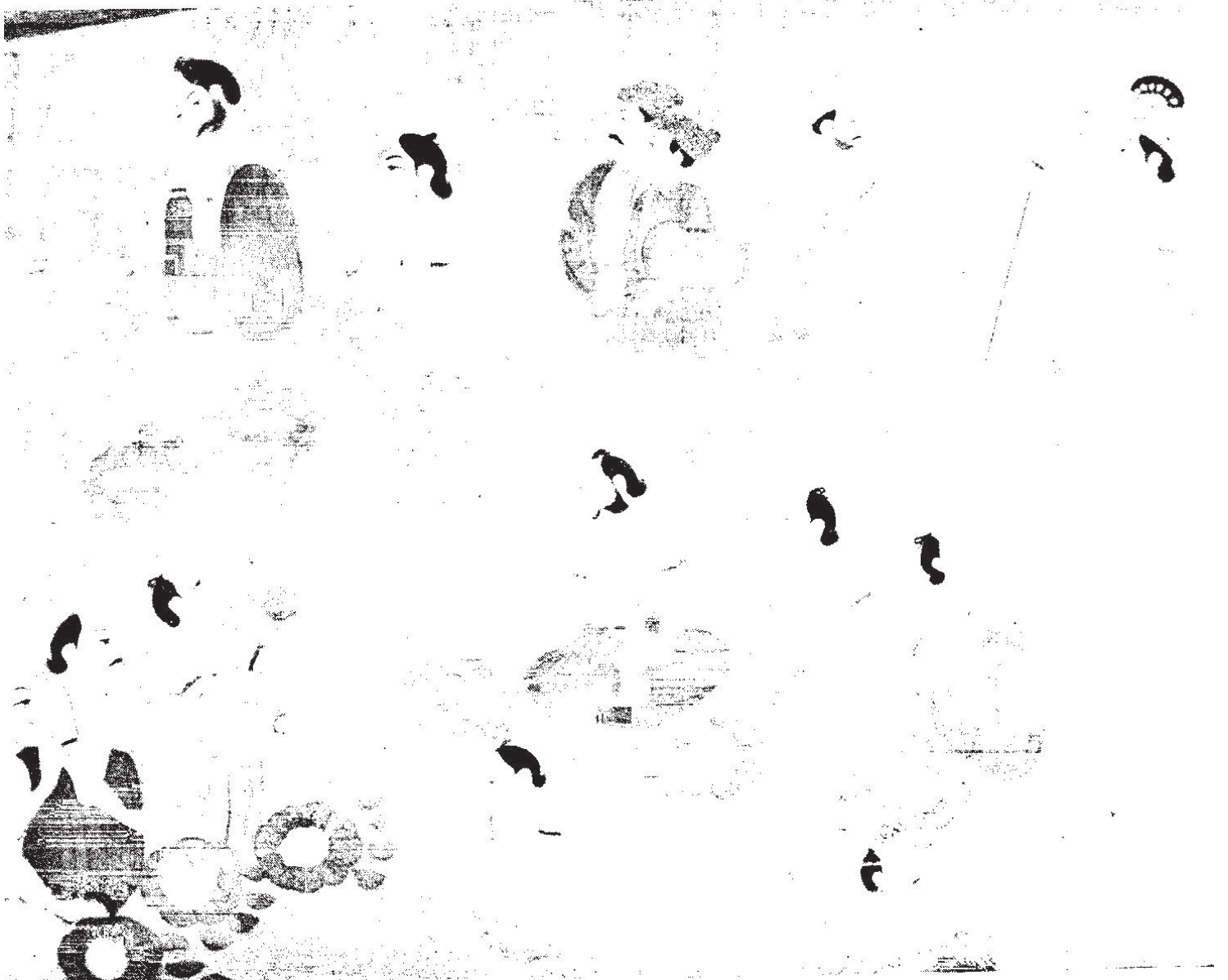
५०.

पंचवक्त्र महादेव

गुलेर

रावण-वध

बसोहली

५२.

भांग छानते हुए शिव-पार्वती

चम्बा

५३.

नज़रों का आदान-प्रदान
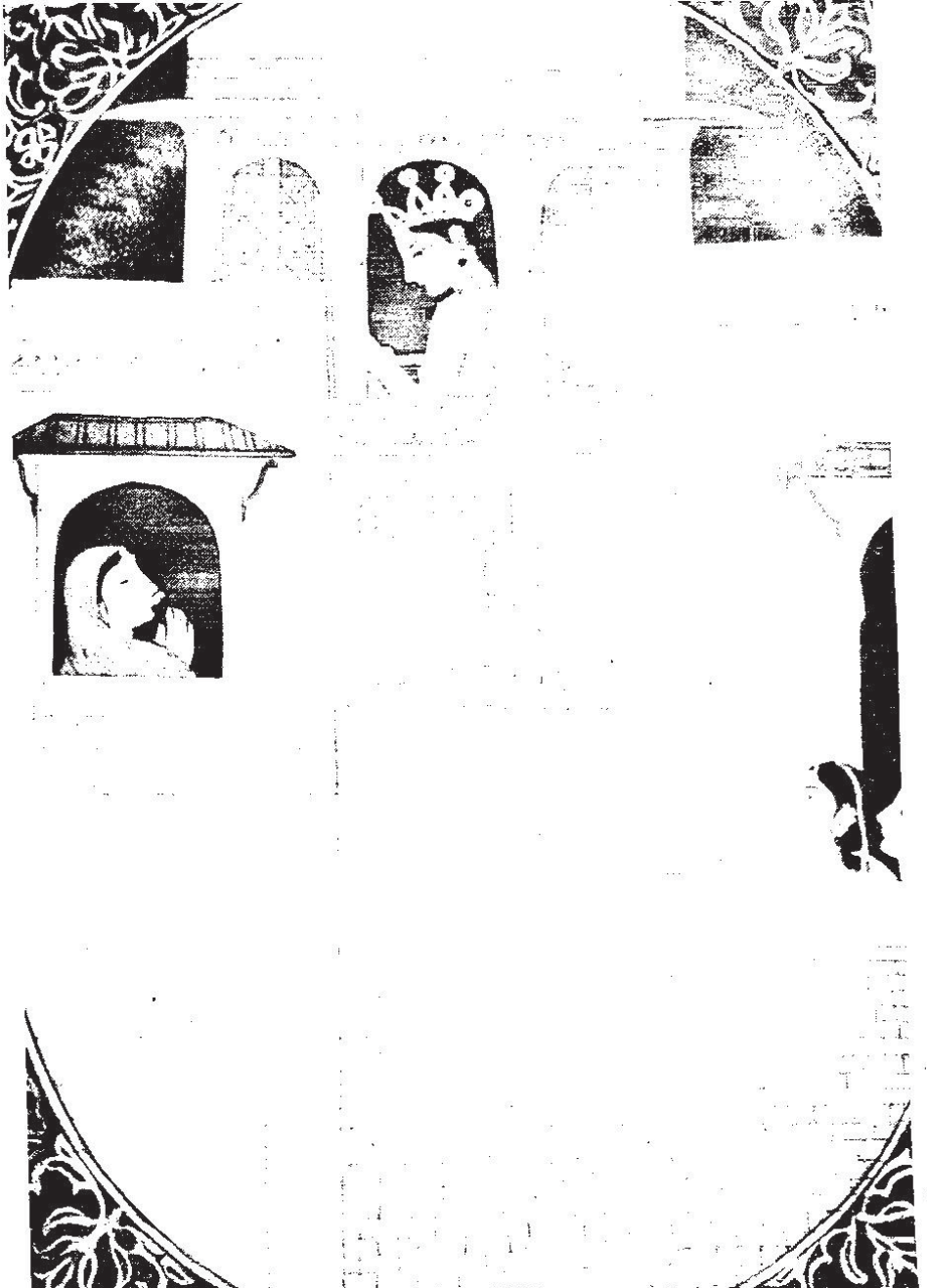
कांगड़ा

५४.

पंचवटी में शूर्पणखा राम और सीता के सामने (ग्यारहवाँ प्रकाश)

दशरथ वशिष्ठ संवाद (दूसरा प्रकाश)

५५.

५६.

सीता-स्वयंवर
(तीसरा प्रकाश)

कुछ दृश्य

वाणासुर-रावण-संवाद
(चौथा प्रकाश)

५७.

५८.

शिव-परिवार (रेखाचित्र)

मण्डी

५९.

एक रागिनी

जम्मू

६०.

राग-भैरव

मण्डी

नायिका

६१. मण्डी

६२.

कुल्लू के राजा अपने अंगरक्षकों के साथ

कुल्लू

६३. राधा-कृष्ण का वर्षा-विहार कांग

६४.

नायिका खण्डिता

राधा-कृष्ण की मुरली-लीला

जम्मू

,६. राधा और कृष्ण तनाव की स्थिति में कांगड़ा

६७. विप्रलब्ध नायिका पुंछ

६८.

कृष्ण-लीला

कुल्लू

६९.

शिव-नृत्य (ताण्डव)

कुल्लू

७०.

रागिनी

गुलेर

कृष्णाभिसारिका

७२. कृष्णाभिसारिका कांगड़ा

७३.

बाला सुन्दरी
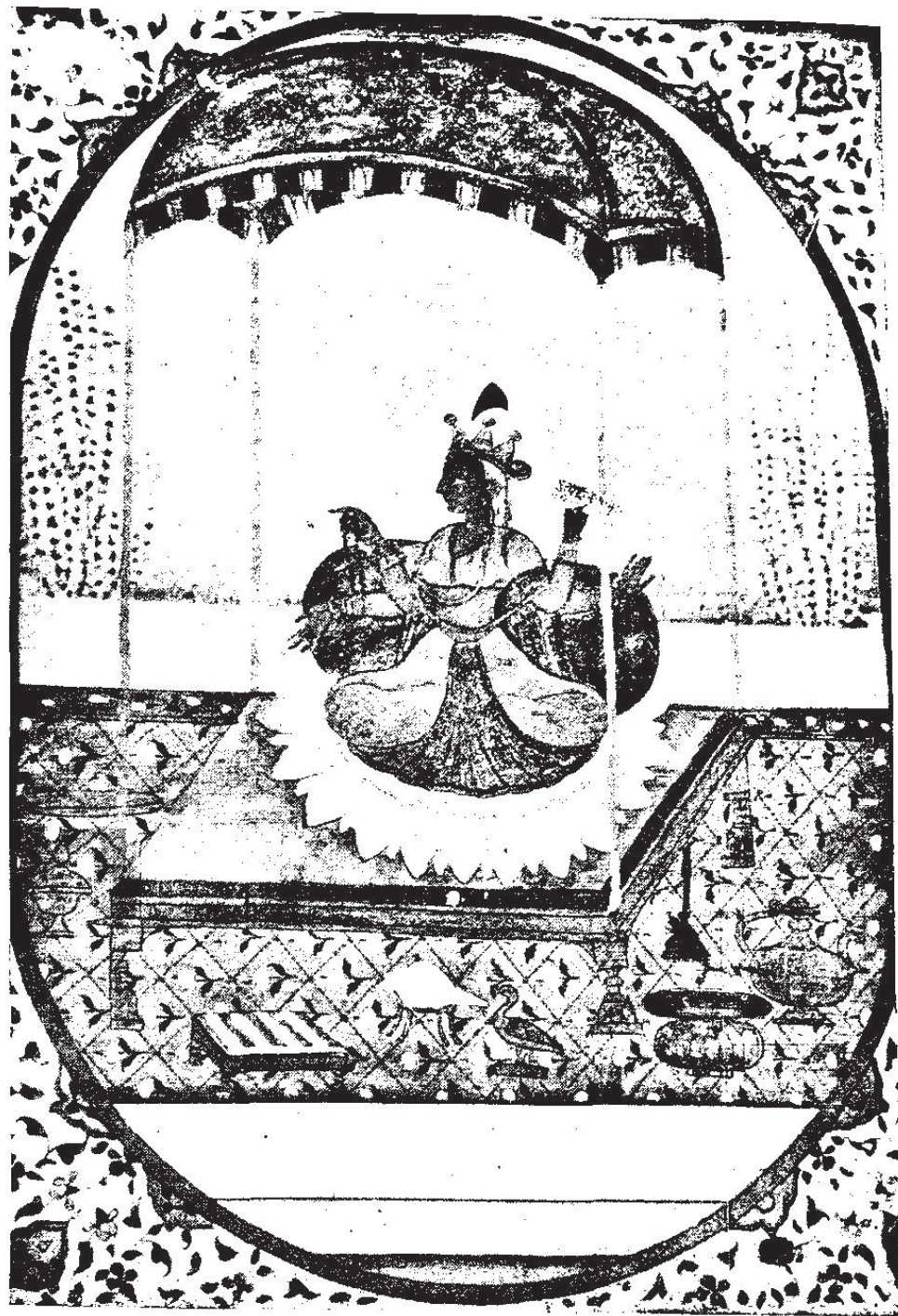
मण्डी

७४.

राजा समशेर सेन

मण्डी

णी द्वारा युद्ध से लौटे हुए पति की भर्त्सना चम्बा

७६.

पनिहारिन

चम्बा

८०. थापड़ा मण्डी

८१ कशीदाकारी-चोली

८२. कृष्ण और राधा का प्रेमाचरण कांगड़ा

चित्र-परिचय

१. चौसर : पहाड़ी रूमाल (चम्बा)

प्रस्तुत पहाड़ी रूमाल में चौसर के चित्रांकन के अतिरिक्त राजा और रानी की आकृतियाँ भी हैं। अपने अवकाश के क्षणों में पहाड़ी राजा व रानी चौसर खेलने, हुक्का पीने, गप्प हाँकने आदि विनोद-विलास की सहज क्रीड़ाओं द्वारा अपना मनोरंजन करते रहे हैं जिसका चित्रांकन प्रस्तुत रूमाल में हुआ है। परम्परागत भारतीय जीवन में स्त्रियाँ हुक्का नहीं पीतीं लेकिन पहाड़ी राजाओं तथा राजवंशजों के घरों में जहाँ स्त्रियाँ पर्दे में रहती थीं, उनमें हुक्का पीने का आम प्रचलन था। आज भी भूतपूर्व पहाड़ी रियासतों में राज-परिवारों, उनके सगे-सम्बन्धी मियाँ अथवा कंवरों के परिवारों में स्त्रियों का हुक्का पीना एक सहज विलास है।

(विस्तार के लिए देखिए अध्याय : पहाड़ी रूमाल)

२. धौलाधार

हिम-मंडित उत्तुंग शृंगों से सज्जित धौलाधार और उसके आँचल में स्थित काँगड़ा घाटी अपने सौन्दर्य के लिए संसार-भर में सुप्रसिद्ध है। इसी घाटी की अपूर्व सुषमा से पहाड़ी चित्रकार भी अभिभूत रहा। जिस नगाधिराज देवतात्मा हिमालय की बात कभी कालिदास ने कही थी, उसी के एक कोने—काँगड़ा घाटी—ने पहाड़ी चित्रकला को जन्म दिया।

(विस्तार के लिए देखिए पृष्ठ २० से २४ तक)

३. काँगड़ा घाटी : एक दृश्य-स्थली

काँगड़ा घाटी में नदी-नालों से सज्जित ऐसी अनेक दृश्य-स्थलियाँ हैं जो सम्पूर्ण प्राकृतिक संयोजन की दृष्टि से संसार-भर में बेजोड़ हैं।

(विस्तार के लिए देखिए पृष्ठ २० से २४ तक)

४. नूरपुर का किला

नूरपुर किला कभी राजा-रजवाड़ों की सत्ता का केन्द्र रहा लेकिन आज वह उस अतीत का मात्र स्मृति चिह्न रह गया है।

(विवरण के लिए देखिए पृष्ठ १०९)

५. रंगमहल, चम्बा

चम्बा का रंगमहल भित्तिचित्रों से सुसज्जित रहा है। हाल ही में उन भित्तिचित्रों को दिल्ली के म्यूज़ियम में स्थानांतरित किया गया है।

(विस्तार के लिए देखिए पृष्ठ ११७-११८)

६. बिलासपुर महल

पश्चिमी हिमालय के भूतपूर्व राजाओं ने अपनी सुरुचि सम्पन्नता का परिचय अनेक रूपों में दिया है। उनके महलों के खण्डहर आज भी उनके कला-प्रेम के प्रमाण के रूप में मौजूद हैं। द्रष्टव्य है गोबिन्दसागर में विलुप्तप्राय बिलासपुर का महल। गत छः-सात सालों में यह भवन अनेक बार जलमग्न हुआ है लेकिन जब-जब पानी में उतार आता है, वह अपनी द्वार-सज्जा की झलक दे जाता है।

७. शिव-पार्वती : भित्तिचित्र (मण्डी)

मण्डी में हरिजस कोठी नामक एक पुराना भवन है जिसका पूजा-कक्ष अनेक चित्रों से सुसज्जित रहा। हरिजस राजा विजयसेन (१८५१-१९०३) के मुसाहिब थे। स्पष्ट है मण्डी में चित्रकला का प्रचलन पर्याप्त समय तक रहा।

(विस्तार के लिए देखिए पृष्ठ १३१)

८. दमदमा भवन, मण्डी

मण्डी में दमदमा भवन के अग्रभाग की सज्जा एक अवशेष के रूप में आज भी देखी जा सकती है। मण्डी के इस पुराने महल के साथ मण्डी रियासत का रंगमहल था जो अनेक सुन्दर कलाकृतियों से सज्जित था। इसकी बनावट, दीवारों की सज्जा आदि अत्यन्त सुरुचिपूर्ण थी। १९६२ के अग्नि-विस्फोट में यह भवन पूर्णतया नष्ट हो गया।

(विस्तार के लिए देखिए पृष्ठ १२९-१३०)

९. राम-राज्याभिषेक (काँगड़ा/बिलासपुर)

'राम राज्याभिषेक' शीर्षक चित्र पहली ही नज़र में विषय के विस्तार को उद्घाटित करता है। विषय का ऐसा सघन, सुघड़ और विस्तारपूर्ण चित्रण पहाड़ी चितेरों की सिद्धहस्त कला का आदर्श उपस्थित करता है। सम्पूर्ण लघुचित्र में संयोजन तथा आकृतियों का चरित्रगत विशेषताओं के साथ आलेखन प्रेक्षक को विस्मय में डाल देते हैं। पूरा चित्र तीन पैनलों में विभाजित है। सबसे नीचे वाले पैनल में प्रवेश-द्वार पर हाथी, घोड़े और सैनिकों का दृश्य है। प्रवेश-द्वार की दूसरी मंज़िल पर मंगल-वाद्य वादन हो रहा है। दूसरे पैनल में ढाल-तलवारों से लैस सेना के उच्चाधिकारी खड़े हैं तथा साथ ही हाथ जोड़े राम-भक्त हनुमान और उनके साथी हैं। तीसरे पैनल में राम का राज्याभिषेक हो रहा है। सिंहासनासीन हैं सीता और राम। राम का राजतिलक कर रहे हैं ऋषि वशिष्ठ। बायीं ओर नीचे ऋषि-मुनि बैठे हैं और उनके पीछे खड़े हैं अनेक देवी-देवता। दायीं ओर छत्र के नीचे मुकुट पहने तीन राजकुमार हैं—लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न। उनके पीछे खड़े हैं विशिष्ट अतिथियों के रूप में पधारे अन्य राजागण।

इस चित्र की चर्चा बिलासपुर कलम के अन्तर्गत पृष्ठ १३९ पर हुई है। पहली ही नज़र में यह सुरक्षित रूप से कहा जा सकता है कि इतना सघन और कलात्मक चित्र काँगड़ा कलम के अन्तर्गत ही सम्भव हो सकता है क्योंकि कला की सबसे सुदृढ़ परम्परा काँगड़ा में ही रही। लेकिन बिलासपुर कलम के अन्तर्गत भी कुछ अच्छे चित्र देखने को मिलते हैं। वहाँ का राजा अमरचन्द (१८८३-८९) स्वयं कलाकार था, उसकी राम-भक्ति जानी-मानी थी। इस तथ्य को दृष्टिगत रखते हुए इस चित्र को बिलासपुर से भी सम्बद्ध

किया जा सकता है। किसी कलम विशेष की महत्ता केवल इस बात में है कि वह कला को उसके ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में देखने का अवसर देती है लेकिन अंतिम रूप से किसी कलाकृति को बिना किसी लिखित प्रमाण के किसी कलम विशेष के साथ जोड़ लेने में भूल की पर्याप्त सम्भावना है।

१०. भगवान नृसिंह द्वारा हिरण्यकशिपु का वध (बसोहली)

भगवान नृसिंह दशावतारों में एक हैं। दैत्य हिरण्याक्ष के वध के लिए भगवान वाराह के रूप में प्रकट हुए थे। हिरण्याक्ष के बड़े भाई हिरण्यकशिपु ने इस वध का बदला लेने का संकल्प किया और सहस्रों वर्ष वह बिना कुछ खाए-पीए ब्रह्मा जी की तपस्या करता रहा। ब्रह्मा जी ने प्रसन्न होकर उसे वरदान दिया कि वह न तो दिन में मरेगा, न रात में। देव, दैत्य, मानव अथवा पशु कोई भी उसे मार न सकेगा। न किसी भवन में उसकी मृत्यु होगी, न बाहर ही। किसी शस्त्र से उस पर प्रहार न हो सकेगा। जल, थल और नभ में कहीं भी उसकी मृत्यु नहीं होगी। ऐसा वरदान पाकर वह सभी लोकों पर अपना आधिपत्य कर बैठा। अपनी इस अपार शक्ति का उसे गर्व था। अपने पुत्र प्रह्लाद की भगवान में अटूट निष्ठा देखकर वह जल उठा। उसने प्रह्लाद को एक खम्भे से बांध डाला और उस पर खड्ग से प्रहार करना चाहा लेकिन तभी उस खम्भे को चीर-कर गगनभेदी गर्जना के साथ नृसिंह का रूप लिए भगवान प्रकट हुए। हिरण्यकशिपु ने ब्रह्मा से प्राप्त हुआ वरदान दोहराया लेकिन भगवान नृसिंह तो ब्रह्माण्ड को उस दैत्य के अत्याचारों से छुटकारा दिलाने के लिए अवतरित हुए थे। उन्होंने उसे अपनी जंघाओं पर उठाकर अपने नखों से उसका वक्ष विदीर्ण कर डाला। भक्त प्रह्लाद को अपनी गोद में उठाकर उन्होंने उसे अभय दान दिया।

बसोहली कलम से सम्बद्ध प्रस्तुत चित्र अपनी शैलीगत विशेषताओं के साथ उभरा है। रंग और रेखाओं की सहजता द्रष्टव्य है। काँगड़ा कलम-सी नफासत उसमें नहीं। चित्र से स्पष्ट है कि बसोहली कला लोक-कला के अधिक समीप रही है।

११. कामेश्वर मंदिर : भित्ति-सज्जा, मण्डी

मण्डी में कामेश्वर मन्दिर अपनी सज्जा के लिए पर्याप्त आकर्षक रहा, यह आज भी उसे उसकी उपेक्षित स्थिति में देखने से प्रकट हो जाता है। मन्दिर की सभी दीवारें कलापूर्ण ढंग से सज्जित थीं। वर्तमान पीढ़ी के बड़े-बूढ़ों के अनुसार मन्दिर की यह भित्ति-सज्जा मोतीराम राजड़ा के हाथों सम्पन्न हुई।

(विस्तार के लिए देखिए पृष्ठ १३१)

१२. जसरोटा के मियाँ मुकुन्द देव (जम्मू)

जम्मू कलम के इस चित्र में जसरोटा के मियाँ मुकुन्द देव को चित्रित किया गया है। वह अपनी गायन मण्डली के साथ घोड़े पर सवार हैं। मियाँ मुकुन्द देव अवश्य एक रसिक रहे होंगे। चारित्रिक विशेषताओं का चित्रण पहाड़ी कलम का गुण रहा है। चित्र बसोहली शैली से कम और काँगड़ा शैली से अधिक प्रभावित लगता है।

यह चित्र गिल्डफोर्ड में डब्ल्यू० बी० मैनले के संकलन में है जिसे डब्ल्यू० जी० आर्चर ने अपनी पुस्तक, 'इंडियन पेंटिंग इन द पंजाब हिल्स' में पृष्ठ ५६ पर उद्धृत किया है।

१३. अर्घ्य-दान (बसोहली)

लोक-कला के अधिक निकट होने के कारण बसोहली शैली के चित्रों की पहचान सहज है। प्रस्तुत चित्र अपने विषय के निर्वाह में अति साधारण है। सपाट रंगीन पृष्ठभूमि पर विषय का सीधा-सादा अंकन हुआ है। आकृतियों की बनावट में रंग और रेखाओं की सीधी अभिव्यक्ति के कारण वे अधिक आकर्षक नहीं हैं। पहाड़ी चित्रकला की विषय-वस्तु इतनी व्यापक रही है कि उसमें दैनिक जीवन की सामान्य घटनाओं को लेकर भी चित्र बने हैं जैसे प्रस्तुत चित्र में अर्घ्य-दान।

१४. कृष्ण का वंशी-वादन (काँगड़ा)

प्रस्तुत चित्र पहाड़ी चित्रकला की सुन्दरतम उपलब्धियों में से एक है। कृष्ण-लीला पहाड़ी चित्रकारों का सर्वाधिक प्रिय विषय रहा जिसे लेकर उन्होंने न केवल असंख्य चित्र ही बनाये बल्कि विषय का ऐसा प्रतिपादन भी हुआ कि उसमें पहाड़ी चित्रकला की विशिष्टतम उपलब्धियां सम्भव हो पायीं। 'कृष्ण का वंशी-वादन' एक अत्यन्त सुन्दर कलाकृति है जो भागवत पुराण के दशम स्कन्ध में वर्णित श्रीकृष्ण की बाल-लीला का अत्यन्त मनोहारी चित्रण प्रस्तुत करती है। वंशी की मोहिनी तान का आकर्षण सहज ही ग्वालों और गौओं पर देखा जा सकता है। स्वयं गोपी और कृष्ण गौओं पर वंशी-धुन की प्रतिक्रिया देखकर रस-विभोर हो रहे हैं। वर्षा ऋतु में समस्त प्रकृति हरित-वसना दिखाई पड़ती है। बादलों को देखकर और बिजली की कड़क सुनकर मोर नाचने को आतुर हैं। वन-कुंज में बैठे पपीहे और आकाश में उड़ती बक-पंक्ति वातावरण को विशिष्ट बनाने में पर्याप्त योगदान देते हैं। ग्वालों ने वर्षा से बचने के लिए कमल-पत्र तोड़ लिये हैं। वस्तु और वातावरण की संगीतमय लयात्मकता चित्र की विशिष्टता को उद्घाटित करती है।

(अधिक विवरण के लिए देखिए अध्याय १. विषय वस्तु, २. मुख्य चिन्तन-स्रोत तथा ३. मुख्य नायक)

१५. अर्जुन द्वारा सेना-निरीक्षण (काँगड़ा)

महाभारत में श्रीकृष्ण ने अपनी भूमिका को अर्जुन के सारथी के रूप में चुना था। अर्जुन ने श्रीकृष्ण से अपनी इच्छा प्रकट की कि वे रथ को युद्ध के लिए तैयार दोनों सेनाओं के बीच में ले चलें। श्रीकृष्ण रथ को दोनों सेनाओं के बीच ले गये जहाँ अर्जुन ने दोनों सेनाओं में अपने बन्धु-बान्धवों को देखा। (अर्जुन द्वारा सेना-निरीक्षण का वर्णन श्रीमद्भगवद्गीता के प्रथम अध्याय, श्लोक २० से २७ तक, में पढ़ा जा सकता है।)

चित्र में श्रीकृष्ण दोनों सेनाओं के बीच से अर्जुन का रथ ले जा रहे हैं। युद्ध-भूमि में सारथी श्रीकृष्ण, धनुर्धारी अर्जुन, रथ और सेनाओं का अंकन बखूबी हुआ है। युद्धानुकूल वातावरण में अर्जुन और युद्धवीरों के चेहरों का चित्रण प्रभावशाली है।

चित्र पर उल्लिखित 'पद्मेन्दु' नाम से चित्रकार का पता चलता है। इसी चित्रकार की एक अन्य कलाकृति चित्र फलक सं० ६६ के अन्तर्गत देखी जा सकती है।

१६. वज़ीर संगारू दलोल (बिलासपुर)

घोड़े पर आसीन वज़ीर संगारू दलोल का यह चित्र किसी मुसलमान चितेरे द्वारा बनाया गया लगता है। पहाड़ी चित्रकला के अधिकांश चित्रों की पृष्ठभूमि पर अथवा कहीं-कहीं चित्र पर ही चितेरे का नाम,

चित्र का विषय अथवा ऐसी ही अन्य जानकारी देवनागरी लिपि में अंकित रहती है। कहीं-कहीं पहाड़ी प्रदेश में प्रचलित टाकरी लिपि का प्रयोग भी हुआ है। उर्दू और फारसी का प्रयोग केवल ऐसे चितेरों द्वारा किया गया है जो मुगल दरबार से आए थे। उर्दू और फारसी का यह प्रयोग भी केवल उसी वक्त तक रहा जब तक उन्होंने अपने-आपको स्थानीय वातावरण के अनुकूल ढाल नहीं लिया।

१७. मियाँ रघुनाथसिंह (मण्डी)

(विवरण के लिए देखिए पृष्ठ १२४-१२५)

१८. राजमहल, बिलासपुर

यह महल अब गोबिन्द सागर में समा चुका है। महल के भित्तिचित्र और भित्तिसज्जा पर्याप्त सुरुचिपूर्ण रही है।

१९. युद्ध-दृश्य : भित्तिचित्र (अखण्डचण्डी महल, चम्बा)

चम्बा स्थित रंगमहल के भित्तिचित्र नेशनल म्यूजियम, दिल्ली में स्थानान्तरित हो चुके हैं लेकिन वहीं अखण्डचण्डी (अखनचण्डी) महल के भित्तिचित्र आज भी अपनी जीर्ण-शीर्ण अवस्था में देखे जा सकते हैं। इन भित्तिचित्रों को देखने पर उनकी कलात्मकता, विषय का प्रतिपादन, रंगों की प्रखरता आदि ऐसी अनेक बातें हैं जो सहज ही प्रेक्षकों तथा कलाविज्ञों का ध्यान आकर्षित करती हैं। प्रस्तुत चित्र है युद्ध-दृश्य का। युद्ध का ऐसा विस्तारपूर्ण सघन आलेखन आश्चर्यजनक है।

(अन्य विवरण के लिए देखिए पृष्ठ ११७-११८ और चित्र सं० ४० और ४१ का परिचय)

२०. कालिय-दमन, दुर्गा-स्तुति : भित्तिचित्र (देवी कोठी, चम्बा)

चम्बा में ही देवी के सुन्दर भित्तिचित्रों का विषय कृष्ण-लीला, महाशक्ति आदि हैं। कृष्ण की बाल-लीला और यौवनगत विलास-लीला का विशद वर्णन हमें भागवत के दशम स्कन्ध में मिलता है। भागवत का एक लोकप्रिय हिन्दी अनुवाद सुखसागर के रूप में उपलब्ध है। चित्र संख्या २० (ऊपर) का विषय कालिय-दमन है। वृन्दावन-विहारी ने जब यमुना जल में कूदकर नागिनों से काली नाग को जगाने के लिए कहा तो उन्होंने प्रत्युत्तर में उसे समझाने-बुझाने की कोशिश कर बाहर निकल जाने का परामर्श दिया। कृष्ण माना नहीं। उसने काली नाग की पूँछ दबाकर उसे जगा लिया। सर्पों के राजा एक सौ एक फणों वाले इस नाग ने कृष्ण को काटना चाहा तो वह विफल रहा। तब उसने कृष्ण को अपनी लपेट में लिया। कृष्ण ने अपना बल इतना बढ़ाया कि काली नाग के अंग-प्रत्यंग टूटने लगे। वह अपना कसाव छोड़कर अलग खड़ा हुआ तो मुरली मनोहर ने उसके फण अपने पाँवों के नीचे दबाकर उसकी नासिका में छेद कर डाला। नासिका में डोरी डालकर वह उस पर चढ़ आया। सूरसागर में दोहा है—

माखन प्रभु फण महि लियो दियो ब्याल फुफकार।
चरण कमल माथे धरे निरतत हरि मुरार।।

वृन्दावन-विहारी ने तीनों लोकों का बोझ अपने शरीर में डाल लिया और काली नाग अपने समस्त बल का प्रयोग कर हार गया। भगवान के चरण उसके मस्तिष्क पर पड़ने से उसे ज्ञान हुआ और इस प्रकार उससे उसकी दुष्टता छुड़ाकर उन्होंने उसका उद्धार किया।

दूसरे चित्र का विषय है भगवती दुर्गा। पहाड़ों में शिव और शक्ति दोनों ही की पूजा का प्रचलन रहा है। आज भी शिव और शक्ति के अनेक मन्दिर मण्डी, काँगड़ा, चम्बा आदि क्षेत्रों में विद्यमान हैं जो एक साथ लोगों की आस्था और मन्दिरों सम्बन्धी वास्तुकला के परिचायक हैं। चैत्र और आश्विन मास के नवरात्रों में भारत के अन्य प्रदेशों की तरह यहाँ भी आदिशक्ति की आराधना होती है। हिमाचल-प्रदेश में जनमानस ने शिव और शक्ति को जिस ढंग से अपनाया है तथा यहाँ जिस ढंग से उनकी पूजा-अर्चना होती है उसमें लोक रंग विशेष रूप से उल्लेखनीय है। नवरात्रों पर जुड़ने वाले मेलों में यह लोक रंग देखा जा सकता है। काँगड़ा में इन्हीं अवसरों पर ज्वालामुखी मन्दिर में बहुत बड़ा मेला लगता है। इसी प्रकार बिलासपुर में नैनादेवी का मेला भी सुप्रसिद्ध है।

२१. भित्ति अलंकरण : टारना मन्दिर (मण्डी)

मण्डी नगर में सुरम्य पहाड़ी पर स्थित है काली का मन्दिर जिसे लोग टारना मन्दिर के नाम से जानते हैं। इस मन्दिर को राजा श्यामसेन (१६६४-७९) ने बनवाया था। मन्दिर की दीवारें पहाड़ी चित्रकला की परम्परा में सुसज्जित थीं लेकिन अब उसके स्थान पर काली के अनेक रूपों को दर्शाते हुए साधारण से चित्र बना दिए गए हैं। कुछ ही वर्ष पूर्व भूतपूर्व रियासत मण्डी के अन्तिम शासक राजा जोगेन्द्रसेन (१९१३-४८) ने गर्भगृह को भीतर से सोने के पानी से अलंकृत करवाया था। यह भित्ति-अलंकरण सुरुचिपूर्ण है।

२२. राधा और कृष्ण : एक संकट स्थिति (कुल्लू)

राधा और कृष्ण को लेकर असंख्य पहाड़ी कलाकृतियाँ देखने में आयी हैं। बहुत-सी इन कलाकृतियों में भागवत पुराण (दशम स्कन्ध), गीत गोविन्द तथा बिहारी सतसई में वर्णित कृष्ण तथा उसकी जीवन-लीला को चित्रांकित किया गया है। लेकिन पहाड़ी कलाकार कृष्ण-लीला के इन परम्परागत रूपों को देखकर ही सन्तुष्ट नहीं हो गया। उसके पास अपनी निजी कल्पना थी। उसने जहाँ कृष्ण के दैवी रूप को चित्रांकित किया, वहाँ विशुद्ध मानवीय धरातल पर भी उसका रूप देखा। अपने ही दैनिक व्यवहार में उसकी छवि देखी और उस छवि को अत्यन्त सफलता के साथ आँका भी। सहज मानवीय व्यवहार को चित्रित करता हुआ कुल्लू कलम का यह राधा-कृष्ण विषयक चित्र है जिसमें उन्हें प्रणय-व्यवहार की एक अति संकटपूर्ण स्थिति में दर्शाया गया है। कृष्ण अपने कपड़े, मुकुट और आभूषण उतारकर रुष्ट होकर बैठा है। और उधर राधा उद्विग्न दिखाई पड़ रही है। राधा को कृष्ण का 'आधा' माना गया है। दोनों मिलकर ही एक स्थिति के सूचक हैं। सम्पूर्ण स्थिति की दरार प्रतीक रूप में उस वृक्ष में अभिव्यक्त हुई है जो मूल रूप में एक होते हुए भी दो शाखाओं में बँट गया है। परस्पर विपरीत दिशाओं में झुकी हुई ये दो शाखाएँ राधा और कृष्ण के मनोमालिन्य और मानसिक द्वन्द्व की सूचक हैं। विषय की दृष्टि से चित्र असामान्य है।

२३. कृष्ण-लीला (गढ़वाल)

अपनी प्रणय-लीला में कृष्ण ने माथे पर प्रेमिका के पैरों का जावक लगा लिया है जिसका उसे पता ही नहीं। घर लौटता है तो उसे एक अजीब-सी स्थिति का सामना करना पड़ता है। उसी स्थिति का अंकन गढ़वाल कलम के इस चित्र में हुआ है। बिहारी सतसई में एक दोहा है जिसका अर्थ है, 'तुम्हारे ललाट पर

जावक लगा देख मेरी आँखों में आग लग गई है। शीशे में अपना मुंह अच्छी तरह देख लो ताकि बाद में तुम मुकर न जाओ।' चित्र में अंकित आकृतियों की मुख-मुद्राएँ ध्यान आकर्षित करती हैं।

२४. गुरु अर्जुन देव, २६. गुरु अमरदास, २८. गुरु गोबिन्दसिंह (मण्डी)

गुरु अर्जुन देव, गुरु अमरदास और गुरु गोबिन्दसिंह एक ही शैली में निर्मित तीन चित्र हैं। शैली के सम्बन्ध में यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि यह कुल्लू से सम्बद्ध है या मण्डी से। वास्तव में चित्रों को कहीं भी किसी विशिष्ट शैली से निश्चित रूप से बाँधना उचित नहीं लगता और कलाकार जब एक राज्य से दूसरे राज्य में आते-जाते रहे हों तो उन्हें स्थान विशेष से सम्बद्ध करना भी उचित नहीं। एक ओर जहाँ इन चित्रों में कुल्लू परम्परा का प्रभाव नज़र आता है, दूसरी ओर हम उन्हें किन्हीं विशिष्ट तर्कों के आधार पर मण्डी से सम्बद्ध बतला सकते हैं। सिक्खों के अनुकूल मण्डी के शासक कुल्लू के शासकों की अपेक्षा अधिक सहिष्णु रहे हैं। यही कारण है मण्डी में कुल्लू से अधिक सिक्ख बसे हैं। गुरु गोबिन्दसिंह को कुल्लू में कैद कर लिया गया था लेकिन वहाँ से भागने पर उन्हें मण्डी के शासक राजा सिद्धसेन (१६८४-१७२७) ने उनका सहृदय स्वागत किया था। मण्डी और रिवालसर में गुरु गोबिन्दसिंह की स्मृति में निर्मित ऐतिहासिक गुरुद्वारे हैं। मण्डी में रूपचित्रों को लेकर भी एक विशेष परम्परा रही है जो अनेक परिवर्तनों के बावजूद अब तक प्रचलित है। (अन्य विवरण के लिए देखिए पृष्ठ १२६-१२७)

२५. राजा समशेर सेन के विवाह का दृश्य (मण्डी)

(विवरण के लिए देखिए पृष्ठ १२१)

२७. राजा सूरमा सेन (मण्डी)

(विवरण के लिए देखिए पृष्ठ १२१-१२२)

२९. देवताओं द्वारा राम-स्तुति (बिलासपुर)

प्रस्तुत चित्र से स्पष्ट है कि बिलासपुर में भी सुन्दर और सुघड़ कलाकृतियाँ बनीं जिसका अधिकांश श्रेय राजा अमरचन्द (१८८३-८९) को था। वह स्वयं कलाकार था। यदि उसे लम्बे अर्से तक शासन करना मिलता तो यह बहुत सम्भव था कि उसका नाम पहाड़ी चित्रकला से अविच्छिन्न रूप से जुड़ जाता। इस दृष्टि से यदि उसे राजा संसारचन्द से अधिक श्रेय प्राप्त हो जाता तो कोई आश्चर्य की बात नहीं थी। प्रस्तुत चित्र में देवताओं को राम की स्तुति करते हुए दिखाया गया है। राम और सीता के पीछे स्वयं राजा अमरचन्द चँवर लिए खड़े हैं। राजा अमरचन्द राम के उपासक थे और स्वयं चित्रकार होने के नाते वह अपने-आपको चित्र में प्रस्तुत करने का लोभ संवरण नहीं कर पाए। इस दृष्टि से भी उनकी तुलना में राजा संसारचन्द का स्मरण हो आता है जिन्होंने अपनी कृष्ण-भक्ति का परिचय कृष्ण-विषयक चित्रों के प्रणयन में दिया है।

(अन्य विवरण के लिए देखिए पृष्ठ १३९)

३०. नायिकाएँ (मण्डी)

३१. पंडित हिमांशु (मण्डी)

३२. चित्रकार गाहिया नरोत्तम (मण्डी)

(विवरण के लिए देखिए पृष्ठ १३०-१३१)

गाहिया नरोत्तम एक सफल चित्रकार थे। उन्होंने मण्डी से बाहर अनेक पहाड़ी रियासतों जैसे सुकेत,

बिलासपुर, जम्मू-काश्मीर आदि में जाकर भी राजाओं तथा धनी-मानी व्यक्तियों के लिए रूपचित्र तथा धर्म-विषयक चित्र बनाए। व्यवसाय से एक सफल चित्रकार थे, उन्होंने ठेके लेकर भी खूब धन-पैसा कमाया। बड़े निडर तथा रुमानी व्यक्ति थे। मण्डी जनपद में बहुचर्चित रहे। तीन बार जेल गए। उनके सम्बन्ध में उनकी किसी प्रेमिका को लेकर आज भी मण्डी जनपद में लोकगीत के बोल गूंजते हैं। उनके पुत्र पं० ज्वालाप्रसाद भी एक व्यवसायी चित्रकार हैं। उनके अनुसार गाहिया नरोत्तम का जन्म लगभग १८४४ और मृत्यु १९३८ में हुई।

३३. दूतिका प्रेमिका को प्रेमी से मिलन के लिए ले जाती हुई (गुलेर)

पहाड़ी चितेरों ने प्रेम की बहुविध और सार्थक अभिव्यक्ति प्रस्तुत की है। संस्कृत और हिन्दी साहित्य में प्रेम की भूमिका नायिका ने अनेक रूपों में निभाई है और पहाड़ी चित्रकला में उसका सुरुचिपूर्ण आलेखन देखने को मिलता है।

प्रस्तुत चित्र में रूपकल्प, रंग-विधान तथा सम्पूर्ण संयोजन ही अत्यन्त रमणीय है। चित्र की कलात्मकता पहली ही दृष्टि में मनोहारी लगती है। प्रस्तुत चित्र पहाड़ी चित्रकला की ऐसी अनेक कृतियों में एक है जिन्हें हम विशुद्ध कलात्मक स्तर पर भी उत्कृष्ट पाते हैं।

३४. नायिका (चम्बा)

(विवरण के लिए देखिए पृष्ठ ६७)

३५. वंशीधर कृष्ण और गोपी—एकान्त मिलन (गुलेर)

भागवत पुराण के दशम स्कन्ध में कृष्ण की बाल-लीला और यौवन-लीला का विशद वर्णन हुआ है। वहाँ राधा का नाम नहीं आया है लेकिन एक गोपी है जो उनसे एकान्त में मिलती है।

विषयवस्तु की दृष्टि से चित्र अपरिचित नहीं। चित्र में मुख-मुद्राएँ और हस्त-मुद्राएँ किसी तनावपूर्ण स्थिति की सूचक हैं। सम्पूर्ण चित्र में मुद्राओं की यह अभिव्यक्ति सबसे महत्त्वपूर्ण है। वृक्ष पर बैठे दो पपीहा-युगल हैं। युगल में दोनों पपीहे एक-दूसरे से कुछ दूरी पर बैठे हैं जो नीचे गोपी और कृष्ण के आपसी तकरार का द्योतक है। चित्र की सम्पूर्ण लयात्मकता सराहनीय है।

३६. ब्रह्मा-ब्रह्माणी (मण्डी)

(विवरण के लिए देखिए पृष्ठ १२९)

३७. महिषासुरमर्दिनी (पुंछ)

हिन्दू धर्म में आदि-शक्ति को अनेक रूपों में मान्यता मिली है। मार्कण्डेयपुराण में आदि-शक्ति द्वारा महिषासुर, शुम्भ-निशुम्भ आदि प्रबल प्रचण्ड दैत्यों की गाथा है।

यह चित्र विक्टोरिया एण्ड अलबर्ट म्यूज़ियम में संगृहीत है जिसे डब्ल्यू० जी० आर्चर ने *'इंडियन पेंटिंग इन द पंजाब हिल्ज़'* में पृष्ठ ७८ पर प्रकाशित किया है।

३८. राजा सूरमा सेन (मण्डी)

(विवरण के लिए देखिए पृष्ठ १२१)

३९. राजा सिद्ध सेन (मण्डी)

(विवरण के लिए देखिए पृष्ठ १२०)

४०. राज्य-समारोह : अखण्ड चण्डी महल—भित्तिचित्र (चम्बा)

चित्र के दायीं ओर राजा सिंहासन पर बैठा है, उसके सामने उसके राज-दरबारी हैं। चित्र के बायीं ओर (ऊपर) समारोह से सम्बद्ध गायन-वादन हो रहा है।

(अन्य विवरण के लिए देखिए पृष्ठ ११७-११८ और चित्र सं० १९ और ४१ का परिचय)

४१. अखण्ड चण्डी महल—भित्तिचित्र (चम्बा)

प्रस्तुत चित्र में अखण्ड चण्डी महल में भित्तिचित्रों के एक अंश की छायानुकृति देखी जा सकती है। चित्र के विषय हैं कृष्ण-लीला, राम-पंचायत, चौपड़ खेलते हुए राधा और कृष्ण तथा माँ यशोदा के साथ खेलता हुआ बाल कृष्ण। अखण्ड-चण्डी महल के ये कलात्मक भित्तिचित्र ह्रासोन्मुख अवस्था में होने के बावजूद संरक्षण की अपेक्षा रखते हैं।

(अन्य विवरण के लिए देखिए पृष्ठ ११७-११८ और चित्र संख्या १९ और ४० का परिचय)

४२. सौन्दर्य लहरी : एक चित्रांकित पृष्ठ

संस्कृत और हिन्दी के प्राचीन ग्रंथों का हस्तलिपि में सचित्र संस्करण तैयार करने की विधा प्राचीन काल से अभी तक चली आयी है। पुंछ से लेकर गढ़वाल तक के हिमालयी क्षेत्र में तो यह विधा अभी तक अर्थात् बीसवीं सदी के आरम्भ तक प्रचलित रही। 'सौन्दर्य लहरी' के हस्तलिखित संस्करण का यह चित्रांकित अंतिम पृष्ठ है जो सहज सुपाठ्य है। शंकराचार्य द्वारा रचित सौन्दर्य लहरी की यह प्रति संवत् १८७० भाद्रपद मास शुक्ल पक्ष में श्रीनगर (गढ़वाल) में अलकनन्दा के किनारे बद्रिकाश्रम में दिलमणि केशवाल नामक ब्राह्मण ने लिखकर तैयार की।

४३. ग्वाल बालों की आँख-मिचौनी (काँगड़ा)

(विवरण के लिए देखिए पृष्ठ ६६-६७)

४४. टोड़ी रागिनी (जम्मू)

राग-रागिनियों का चित्रण पहाड़ी चित्रकला में संगीत, चित्रकला और साहित्य के सुरुचिपूर्ण समन्वय को प्रस्तुत करता है। टोड़ी रागिनी का यह चित्र उसी समन्वय की एक सार्थक अभिव्यक्ति है।

यह चित्र कुमारस्वामी की पुस्तक 'राजपूत पेंटिंग' (II) में प्रकाशित है तथा वहीं से इसे डब्ल्यू० जी० आर्चर ने अपनी पुस्तक 'इंडियन पेंटिंग इन द पंजाब हिल्स' में पृष्ठ ६८ पर उद्धृत किया है।

(विस्तार के लिए देखिए पृष्ठ ३७ से ३९ तक)

४५. गोपाल कृष्ण गोधूलि की बेला में गौओं के साथ घर लौटते हुए (काँगड़ा)

गोचारण के बाद शाम को कृष्ण गौओं सहित घर लौटे हैं। ऊपर दो स्त्रियाँ दर्शायी गई हैं। लगता है आज पुनः नटखट कृष्ण की शिकायत लेकर कोई पड़ोसिन यशोदा के घर पहुँची है। यशोदा समझाने की

गरज़ से पड़ोसिन से कहती है कि उसका बेटा तो सारा दिन गौश्रों के साथ रहा है श्रौर श्रब घर लौटा है। पड़ोसिन कहती है कि कृष्ण को जितना सीधा-सादा तुम समझती हो, वह वैसा नहीं है। यशोदा अपने बेटे की शरारतों से परिचित है। कृष्ण की नीची नज़रें यह बताती हैं कि उसने यशोदा श्रौर पड़ोसिन के वार्तालाप को सुन लिया है।

काँगड़ा कलम की यह एक सुन्दर कलाकृति है। विषय का प्रतिपादन अत्यन्त सफलता से हुश्रा है। चित्र की रंग-रंजकता समस्त रूप-विधान को उजागर करती है। कृष्ण, यशोदा श्रौर पड़ोसिन की मुद्राश्रों का भावाभिव्यक्ति को लेकर सफल चित्रण हुश्रा है। गौश्रों के चित्रण की सजीवता भी देखते ही बनती है।

४६. ऋद्धि-सिद्धि के स्वामी भगवान गणेश (गढ़वाल)

हिन्दू लोग अपने किसी भी शुभ कार्य का आरम्भ श्री गणेश की पूजा-वन्दना से करते हैं। गणेश शीघ्र प्रसन्न होने वाले देवता हैं। वे बुद्धि के अधिष्ठाता हैं। वे ऋद्धि और सिद्धि के स्वामी हैं। कलाकार ने प्रस्तुत चित्र में उन्हें ऋद्धि और सिद्धि के साथ ही रूपायित किया है।

गणेश जी की आकृति अपने सम्पूर्ण रूप में अति रोचक है। गज मुख, मूषक वाहन, एक दन्त, लम्बोदर, अरुण वर्ण और अरुण वस्त्र आदि उनके अंग-प्रत्यंग सभी उस आकृति को विशिष्ट बनाते हैं।

गणेश शिव और पार्वती के पुत्र माने गये हैं। उनके सम्बन्ध में एक रोचक कथा प्रचलित है। जगदम्बिका कैलाश पर स्थित अपने अन्तःपुर में बैठी थीं जहाँ उन्हें परिचारिकाएँ उबटन लगा रही थीं। शरीर से गिरे उस उबटन को उन्होंने इकट्ठा कर एक मूर्ति बना डाली। चेतनामयी जगदम्बिका की यह शिशु-मूर्ति सजीव हो उठी और उसने उन्हें प्रणाम किया। माँ ने उसे कहा कि वह अन्तःपुर के द्वार पर बैठा रहे और किसी को अन्दर न आने दे। भगवान शंकर आए तो बालक ने उन्हें भी रोक दिया। उन्होंने इन्द्र, वरुण, कुबेर, यम आदि देवताओं को उस बालक को हटाने की आज्ञा दी। महाशक्ति का पुत्र होने के नाते वह उनसे हटा नहीं। इस पर शंकर क्रोध में आ गये और उन्होंने अपने त्रिशूल से बालक का सिर काट डाला। जगदम्बिका पुत्र के वध पर व्याकुल हो उठीं। उनके रोष से सभी देवता चिन्तित हो उठे। उन्हें जल्दी में सबसे पहले एक गजराज का शिशु मिला। उन्होंने झट से उसका सिर काटकर बालक को लगा दिया। बाद में एक बार अपने अग्रज कार्त्तिकेय से गणेश की लड़ाई हुई जिसमें उनका एक दाँत टूट गया। इसीलिए गणेश जी एकदन्त दिखाई पड़ते हैं।

गणेश अथवा गणपति सामान्य गणों (लोगों) के ईश हैं अर्थात् उनके अधिष्ठाता हैं। मूषक अत्यन्त सामान्य जीव है, उसी को उन्होंने अपने वाहन के रूप में चुनकर अति सामान्य के प्रति अपनी निष्ठा प्रकट की है। यही कारण है गणेश जी हिन्दू लोगों में सर्वाधिक पूज्य देव हैं।

४७. सुलतान इब्राहिम आदम और फरिश्ते (पुंछ)

जंगल में सुलतान इब्राहिम के लिए फरिश्ते भोजन उपहार प्रस्तुत कर रहे हैं। पुंछ कलम का यह चित्र जी० के० कनौड़िया कलकत्ता के संकलन में है जिसे डब्ल्यू० जी० आर्चर ने अपनी पुस्तक 'इंडियन पेंटिंग इन द पंजाब हिल्स' में पृष्ठ ७६ पर उद्धृत किया है।

४८. गज लक्ष्मी (मण्डी)

(विवरण के लिए देखिए पृष्ठ १२६)

४९. ब्रह्म-भोज (काँगड़ा)

चित्र में दायीं ओर मुकुटधारी कृष्ण हैं, इसलिए इस चित्र को कृष्ण-जीवन से सम्बद्ध कहा जा सकता है। वस्तुतः यह चित्र पहाड़ी जीवन के एक विशिष्ट पक्ष को उद्घाटित करता है। दावत का यह दृश्य काँगड़ा, मण्डी, कुल्लू, बिलासपुर आदि क्षेत्रों में यथावत देखा जा सकता है जहाँ विवाह, जन्म-दिवस, यज्ञोपवीत संस्कार, तीज-त्योहार अथवा श्राद्ध पर जब भी लोग अपने सगे-सम्बन्धियों को खाना खिलाते हैं, उसका यही रूप होता है। ब्राह्मणों को सबसे पहले अलग से खाना खिला दिया जाता है। पत्तलों पर चावल परसे जाते हैं और दूनों में सब्जियाँ, दाल आदि। रसोइये (जिन्हें स्थानीय बोली में 'बोटी' कहते हैं) आवश्यक रूप से ब्राह्मण होते हैं और केवल वही भोजन पकाने और बाँटने के अधिकारी होते हैं। ऐसे भोज में खाने वाला अथवा कोई दूसरा रसोइये को छू नहीं सकता। रसोइये अथवा भोजन खा रहे ब्राह्मण को यदि कोई छू जाये तो वह भोजन परसना और खाना छोड़ देता है।

५०. पंचवक्त्र महादेव (गुलेर)

भगवान शंकर के अनेक रूप हैं, अनन्त नाम हैं। उनमें एक रूप और एक नाम है पंचवक्त्र महादेव। पंचवक्त्र अर्थात् पाँच मुखों वाला।

भगवान शंकर का विवाह प्रजापति दक्ष की पुत्री सती से हुआ था। इन्हीं सती का दूसरा जन्म पर्वत-राज हिमवान के यहाँ हुआ था।

तारक नामक एक असुर ने ब्रह्मा जी की तपस्या कर उनसे वरदान प्राप्त किया कि शंकर जी के औरस पुत्र के अतिरिक्त उसे और कोई मार नहीं सकेगा। शंकर तो कैलास पर स्थित समाधिस्थ देव हैं। उनकी समाधि ही कौन भंग करे? उनके विवाह और फिर सन्तान की बात तो अलग रही। ब्रह्मा का वरदान पाकर तारक ने स्वर्ग पर अपना अधिकार कर लिया। देवताओं को चिन्ता हुई कि भगवान शंकर का विवाह कैसे करवाएँ। देवर्षि नारद ने पर्वतराज हिमवान की पुत्री पार्वती को उपदेश दिया कि वह शिव को प्राप्त करने के लिए कठोर तपस्या करे।

देवताओं ने भगवान शंकर का समाधि से ध्यान हटाने के लिए कामदेव को भेजा। हिमाच्छादित कैलास पर वसन्त का आगमन हुआ। उसी वक्त वहाँ पार्वती पहुँची। पुष्पधन्वा के बाण से सम्मोहनास्त्र छूटा। भगवान शंकर समाधि से विचलित हुए। उनके मन में कुछ विकार आया। उसका कारण ढूँढा तो देखा वहाँ मदन वर्तमान हैं। भगवान शंकर ने अपना तृतीय नेत्र खोलकर काम को भस्म कर उसे अनंग कर डाला। लेकिन इस समस्त नाटक की सुखद परिणति हुई। देवताओं के प्रयास और पार्वती की तपस्या सफल हुई। शंकर ने पार्वती का पाणिग्रहण किया। उनसे उनका पुत्र कार्त्तिकेय उत्पन्न हुआ। उसी ने तारक को संग्राम में मारकर देवजगत को उसके अधिकार से मुक्त किया। शंकर पार्वती की तपस्या और निष्ठा से इतने प्रसन्न हुए कि उन्होंने उसे अपने शरीर में ही स्थान दे दिया और अर्द्धनारीश्वर कहलाने लगे।

चित्र में द्रष्टव्य है देवताओं द्वारा भगवान शंकर की स्तुति, हिमाच्छादित कैलास पर वसन्त का आगमन और शंकर द्वारा पार्वती की तपस्या पर उसका पाणिग्रहण करना। चित्र से स्पष्ट है कि पार्वती को जब शंकर ने स्वीकार कर लिया तो वह लजा गई और उसने घूँघट निकाल लिया।

५१. रावण-वध (बसोहली)

बसोहली कलम अपनी साधारण सम्प्रेषणीयता से गुणों को लिए अभिहित हुई है। उसमें सहज साधारण शैली है, रंगों का सीधा उपयोग है, सीधी-सी रेखाकृतियां हैं और विषय का सादा-सा प्रतिपादन है। इन्हीं से उसे लोक कला का परिष्कृत रूप कहा गया है। चित्र में सपाट पृष्ठभूमि पर राम और लक्ष्मण को दशानन रावण से युद्धरत दिखाया गया है।

५२. भाँग छानते हुए शिव-पार्वती (चम्बा)

यह अनुकृति मूल चित्र से तीन गुना बड़ी है। चित्र का लघु आकार कलाकार की दक्षता का परिचायक है। मूल चित्र सोने की फ्रेम में जड़ा हुआ है। पैंडल के-से आकार में इस आभूषण की सम्पूर्ण बनावट इस प्रकार की है जो स्पष्टतः उसे किसी गद्दिन का पहनावा ठहराता है। इतने लघु आकार का चित्र और वह भी सोने की फ्रेम में जटिल होने से यह भी स्पष्ट है कि यह आभूषण किसी राजपरिवार से सम्बन्धित रहा होगा। राजपरिवार और गद्दियों के सम्बन्ध की बात यूं साधारणतः सोची नहीं जा सकती लेकिन एक ऐतिहासिक तथ्य है कि काँगड़ा के महाराजा संसारचन्द ने नोखू नामक गद्दिन से विवाह किया था। गद्दी लोग शिव के उपासक हैं। चित्र में शिव-पार्वती को भांग छानते हुए दिखाया गया है। शिव के इस अत्यन्त सामान्य रूप का प्रचलन गद्दियों में खूब है। इन सब तथ्यों के आधार पर ऐसी सहज सम्भावना बनती है कि उक्त चित्र से सज्जित यह आभूषण महाराजा संसारचन्द की रानी नोखू गद्दिन का रहा होगा। चित्र में भाँग की मस्ती शिवजी के चेहरे पर देखी जा सकती है।

५३. नज़रों का आदान-प्रदान (काँगड़ा)

(बिहारी सतसई सम्बन्धी इस चित्र के विवरण के लिए देखिए पृष्ठ ६८-६९)

५४, ५५, ५६ और ५७. रामचन्द्रिका : कुछ दृश्य

इस ग्रन्थ की रचना का आरम्भ सं० १६५८ वि० कार्त्तिक मास, शुक्ल पक्ष, बुधवार को हुआ जो पुस्तक के प्रथम प्रकाश छन्द ६ से स्पष्ट होता है—

सोरा से अठाण्वना कार्त्तिक सुदि बुधवार।
रामचन्द्र की चन्द्रिका तव लीनो अवतार॥

रामचन्द्रिका राम की कथा है जिसे केशवदास ने वाल्मीकि रामायण, हनुमान्नाटक और प्रसन्नराघव जैसे पूर्ववर्ती काव्यों से प्रभावित होकर लिखा था।

ओरछा राज्य में राजा मधुकरशाह के सात-आठ पुत्रों में एक का नाम इन्द्रजीत और दूसरे का नाम बीरसिंह देव था। ये दोनों राजकुमार केशव के प्रमुख प्रश्रयदाता थे। मधुकरशाह के बड़े पुत्र रामशाह ने जब राज्य-भार सम्भाला तो उन्होंने इन्द्रजीत को 'कक्षवा कमल' नामक गढ़ दे दिया। यों राजगद्दी पर राजा रामशाह आसीन थे लेकिन राज्य का संचालन उनके कनिष्ठ भ्राता इन्द्रजीत ही करते थे। इन्द्रजीत साहित्य और संगीत के प्रेमी तो थे ही, वे उसके अच्छे पारखी भी थे। केशवदास की प्रतिभा और पांडित्य से प्रभावित होकर इन्द्रजीत ने उनसे शिक्षा-दीक्षा ली और उन्हें इक्कीस गांव भेंट किये। 'रसिकप्रिया' नामक ग्रन्थ की रचना भी उन्हीं द्वारा अनुप्रेरित थी।

श्री चन्द्रमणि काश्यप (मण्डी-हिमाचल प्रदेश) के संकलन में केशव की कृति—रामचन्द्रिका—की एक प्राचीन हस्तलिखित तथा सचित्र प्रति सुरक्षित है। पुस्तक में यहाँ उद्धृत रामचन्द्रिका सम्बन्धी चार चित्र (सं० ५४, ५५, ५६ और ५७) उसी ग्रन्थ के चित्रों की छायानुकृतियाँ हैं।

रामचन्द्रिका की इस हस्तलिखित सचित्र प्रति के दूसरे, तीसरे, चौथे और ग्यारहवें प्रकाश की समापन पंक्तियाँ यहाँ उद्धृत की जा रही हैं जिससे सम्बद्ध चित्रों का विषय प्रकट होता है :

द्वितीय प्रकाश का समापन

इति श्रीमत्महाराजकुमार इन्द्रजित विरचितायां श्रीमत्सकल-लोक लोचन चकोर चिंतामणि श्री रामचन्द्र चन्द्रिकायां दशरथ वसिष्ठ संवादोनाम द्वितीय प्रकाश :

तृतीय प्रकाश का समापन

इति श्रीमाहाराजकुवार इंद्रजीत विरचितायां श्रीमत्सकल लोक लोचन चकोर चिंतामणि श्री रामचन्द्र चंद्रिकायां सीता स्वयंवर्ननंमा तृतीय प्रकाश :

चतुर्थ प्रकाश का समापन

इति श्रीमाहाराजकुमार इन्द्रजीत विरचितायां श्रीमत्सकल लोक लोचन चकोर चिंतामणि श्री रामचन्द्र चंद्रिकायां वानासुर रावन संवादे नाम चतुर्थ प्रकाश :

एकादश प्रकाश का समापन

इति श्रीमत्माहाराजकुमार इन्द्रजीत विरचितायां श्रीमत्सकल लोचन चकोर चिंतामणि श्री रामचन्द्र चंद्रिकायां सूर्पनषाविरूपकरणं नाम एकादशः प्रकाश :

उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट होता है कि रामचन्द्रिका का प्रणयन महाराजकुमार इन्द्रजीत के लिए हुआ। यहाँ इस भ्रान्ति का निराकरण करना उचित रहेगा कि उपरोक्त समापन पंक्तियों से इन्द्रजीत को उक्त ग्रन्थ का रचयिता नहीं समझा जाना चाहिए। ग्रन्थ के आरम्भ में ही केशवदास का नाम उल्लिखित है :

ॐ स्वस्ति श्री गणेशाय नमः श्री देवी सरस्वत्यैनमः श्री रामायनमः।। अथ रामचन्द्रिका ग्रन्थ लिख्यते।। श्रीराम सीता लक्ष्मण हनुभ्योनमः।। ॐ बालक मृणालनि ज्यौ तोर डारें सभ काल कठिन कराल वै अकाल दीह दुषकों। विपत हरन हठ पदमनी के पात सम पंक जिउ पताल पेल पठवै कलुय कौं।। दूर कै कलंक अंक भवसीस ससि सम। राषत हैं केसोदास दास के बपुष कों।। सांकरे की सांकरिन सनमुष होत ही तो। दसमुष मुष जोवै गजमुष मुष कों।।१।।

उपर्युक्त ग्रन्थ में पहले, दूसरे, तीसरे, चौथे, पांचवें, नवें और ग्यारहवें प्रकाश के अन्त में विषय से सम्बद्ध चित्र दिये गये हैं। छठे प्रकाश के अन्त में केवल रेखाचित्र बना है जिससे स्पष्ट है कि यह चित्र अधूरा रह गया है। अन्य प्रकाशों के अन्त में और कहीं-कहीं बीच में चित्रों के लिए खाली स्थान छोड़ दिया गया है जिससे पता चलता है कि ग्रन्थ-चित्रण का काम किन्हीं कारणों से अपूर्ण रह गया है।

ग्रन्थ के चित्रों का विषय निम्न प्रकार है :

प्रथम प्रकाश	विश्वामित्र का अवधपुरी में आगमन
द्वितीय प्रकाश	दशरथ-वशिष्ठ संवाद
तृतीय प्रकाश	सीता-स्वयम्वर
चतुर्थ प्रकाश	वाणासुर-रावण संवाद
पंचम प्रकाश	धनुष-भंग
षष्टम प्रकाश	राम-विवाह
नवम प्रकाश	श्री रामचन्द्र वन-गमन
एकादश प्रकाश	(१) शूर्पणखा राम और सीता के समक्ष
	(२) लक्ष्मण द्वारा शूर्पणखा की नाक और कान काटना

विश्वामित्र का अवधपुरी में आगमन (प्रथम प्रकाश)

यदि चित्र को उसकी सम्पूर्णता में देखा जाय तो वह अधूरा लगता है। भूरे रंग में आरम्भिक रेखा-चित्र तैयार बना दिखता है। रंग भरने का काम अधूरा रह गया है। विश्वामित्र का आकृति-अंकन सम्पूर्ण है तथा भाव-सम्प्रेषणीयता की दृष्टि से पर्याप्त रुचिपूर्ण है। उनके एक हाथ में माला है और दूसरा हाथ आशीर्वाद की मुद्रा में ऊपर उठा है। पहाड़ी चित्रकार ने विश्वामित्र को विशुद्ध परम्परागत रूप में नहीं देखा है; यहाँ वे लम्बी सफेद दाढ़ीवाले ऋषि-मुनि नज़र नहीं आते बल्कि एक आधुनिक पंडित नज़र आते हैं। सिर में गाँठ लगी चोटी है, बिना दाढ़ी वाले मुँह पर केवल मूँछें हैं। राजभवन का प्रवेश-कक्ष साधारण रेखाचित्र में उभरा है। उसमें रंग-आलेपन जिस आंशिक रूप में हुआ है, वह भी बिलकुल साधारण है।

दशरथ-वशिष्ठ संवाद (द्वितीय प्रकाश)

विश्वामित्र के उपरोक्त आकृति चित्र के समान ही वशिष्ठ का चित्रण भी हुआ है जिसमें उन्हें गाँठ लगी चोटी और मूँछों वाले पंडित के रूप में दिखाया गया है। यहाँ वह बैठे हुए राजा दशरथ के अभिवादन पर उन्हें आशीर्वाद दे रहे हैं। उपरोक्त चित्र की तरह ही यहाँ भी वशिष्ठ का हाथ आशीर्वाद की मुद्रा में ऊपर उठा है। राजा दशरथ का लिबास और पगड़ी पहाड़ी चित्रों में अंकित राजाओं जैसा ही है जो किसी हद तक पहाड़ी राजाओं का पहनावा अथवा राजस्थानी पहनावा कहा जा सकता है। पगड़ी पर मोरपंख का चित्रण साधारण है किन्तु कलाकार ने उसे राजा की पगड़ी को विशिष्टता देने के लिए अंकित कर रखा है। राजा दशरथ धार्मिक प्रवृत्ति के व्यक्ति हैं, उनके चरित्र की यह विशिष्टता उन द्वारा पहनी माला से स्पष्ट होती है। राजा के दोनों हाथ ऋषि वशिष्ठ के अभिवादन में उठे हैं। आकृति-अंकन में विविधता का अभाव खटकता है, यह विशेषतया विश्वामित्र, वशिष्ठ और दशरथ तीनों की मुखाकृतियों के एक-से अंकन से सहज स्पष्ट होता है। क्या ऋषि-मुनि और क्या राजा, सभी मूँछों वाले हैं। जहाँ तक आकृतियों का अंकन है, वह पूर्ण दिखता है लेकिन पार्श्वभूमि के रूप में चित्र के थोड़े से भाग पर ही आलेखन हुआ है, शेष भाग बिना कूची छुए ही छोड़ दिया गया है। जहाँ तक विषय के निर्वाह का प्रश्न है चित्रकार उसमें सफल है, आकृतियों का अंकन और भाव-मुद्राओं का आलेखन सार्थक एवं सुरुचिपूर्ण ढंग से हुआ है।

सीता-स्वयम्वर (तृतीय प्रकाश)

चित्र में आकृतियों का अंकन सुघड़ व रुचिपूर्ण है यद्यपि उनमें काँगड़ा कलम में सुलभ कोमलता के दर्शन नहीं होते। इसका कारण स्पष्ट है, ग्रन्थ-चित्रण कला-सम्बन्धी अनेक सम्भावनाओं को सीमित कर देता है, वह उतना सुन्दर व लालित्यमय नहीं हो सकता जितना स्वतन्त्र चित्रण। फिर भी प्रस्तुत चित्र में जहाँ तक आकृति-अंकन का प्रश्न है, वह कलाकार के सुघड़ हाथों का परिचायक है। नारियों की साज-सज्जा और उनका परिधान ध्यान आकर्षित करता है। पीढ़ी पर बैठी नारी सीता है, उनके सामने एक सहेली बैठी है और उनके पीछे दूसरी चँवर लिए खड़ी है। तीनों ही आकृतियों का आलेखन विशिष्ट लगता है लेकिन जैसा पहाड़ी चित्रकला की अन्य कृतियों से प्रकट होता है, मुख्य पात्र के अंकन में उसकी चारित्रिक विशेषताओं जैसे मुख-श्री अथवा पहनावे की विशिष्टता आदि को महत्त्व नहीं दिया गया है। मुख्य पात्र अन्य पात्रों की ही तरह दिखाई देते हैं। लेकिन उनका अंकन उनकी प्रमुख भूमिका का परिचायक अवश्य है। जैसे कृष्ण-लीला विषयक चित्रों में राधा को अन्य गोपियों के मध्य उसकी प्रमुख एवं विशिष्ट भूमिका से पहचाना जायेगा अन्यथा राधा और गोपियाँ एक जैसी दिखाई पड़ेंगी। इसी प्रकार प्रस्तुत चित्र में तीनों नारियों के अंकन में कलाकार ने सीता की मुखाकृति, उनका पहनावा तथा साज-शृंगार अन्य सहेलियों की अपेक्षा विशिष्ट नहीं दिखलाया है लेकिन दोनों के बीच पीढ़ी पर बैठने और अपनी भाव-भंगिमाओं से उनकी विशेष भूमिका स्पष्टतया परिलक्षित होती है।

वाणासुर-रावण संवाद (चतुर्थ प्रकाश)

यहाँ दशानन रावण और सहस्रबाहु वाणासुर का चित्रण उनकी चरित्रगत विशेषताओं से निहित है। रावण को नौ मानव-मुखों और एक गर्धव-मुख के साथ देखा जा सकता है, बीस उसकी भुजाएँ हैं। सहस्र-बाहु वाणासुर भी बीस भुजाओं के साथ दर्शित है। दोनों मुकुटधारी हैं, दोनों के गले में मालाएँ पड़ी हैं। पृष्ठ-भूमि सीधी-सपाट एक-रंगी है, केवल बैठने के स्थान को सफेद पृष्ठभूमि पर खड़ी समानान्तर रेखाओं के अंकन से अलग दिखाया गया है।

धनुष-भंग वर्णन (पंचम प्रकाश)

जब सभी राजा तथा राजकुमार शिव-धनुष को तोड़ने में असमर्थ रहे तो विश्वामित्र राम और लक्ष्मण सहित स्वयंवर में पधारे और विश्वामित्र के आदेश पर राम ने शिव-धनुष को तोड़ डाला। चित्र के निचले भाग में दो टुकड़ों में टूटा धनुष देखा जा सकता है। राम के विजयी होने पर सीता ने राम को सफेद कमलों की माला पहना दी। सम्बद्ध चित्र इसी दृश्य को अंकित करता है। केशव ने पंचम प्रकाश के अंतिम दो दोहों में इस दृश्य का वर्णन किया है :

सीता जू रघुनाथ कौ, अमल कमल की माल।
पहिराई जनु नृपति कौ, हृदय भाल भूपाल ॥

सीय जही पहराई, राम ही माल सुहाई।
दुंदुभि दीह वजाई, फूल तहीं वरषाई ॥

(चर्चित हस्तलिखित ग्रन्थ से उद्धृत)

सीता ने राम को स्वच्छ कमलों की माला पहनाई तो वह ऐसे प्रतीत हुई मानो उसमें अनेक राजाओं के हृदयों को पिरोया गया हो।

सीता ने ज्योंही राम को सुन्दर माला पहनाई, त्योंही दुंदुभि बजी और फूल बरसे।

चित्र में सीता द्वारा राम को 'अमल कमल' की माला पहनाने का दृश्य अंकित है। राम के पीछे महर्षि विश्वामित्र और लक्ष्मण खड़े हैं। चित्र में अंकित सातों आकृतियों का सुन्दर और सफल चित्रण हुआ है। विभिन्न आकृतियों की विभिन्न हस्तमुद्राओं द्वारा भावों की सम्प्रेषणीयता को सार्थकता मिली है।

राम-विवाह वर्णन (षष्टम प्रकाश)

प्रस्तुत चित्र मात्र रेखाचित्र ही है। आरम्भिक रेखाचित्र सम्पूर्ण रूप में देखा जा सकता है। विवाह-वेदी में बैठे राजा जनक कन्यादान कर रहे हैं। राम पाणि-ग्रहण करते हुए दिखाई दे रहे हैं।

राम का वन-गमन (नवम प्रकाश)

हरी पृष्ठभूमि पर राम, सीता और लक्ष्मण वन जाते हुए अंकित किये गए हैं। पृष्ठभूमि के रूप में हरे रंग का सीधा-सपाट आलेपन हुआ है जो किसी वर्णन अथवा व्याख्या की अपेक्षा नहीं रखता। लेकिन यह स्पष्ट है कि पृष्ठभूमि के लिए इसी रंग को कलाकार ने इसलिए चुन लिया कि उससे वन का बोध हो। राम और लक्ष्मण इस दृश्य के अनुकूल मुकुटहीन दिखाये गये हैं। दोनों ही धनुष-बाणों से युक्त हैं। राम पैरों में लकड़ी की खड़ाऊँ डाले हैं और लक्ष्मण और सीता नंगे पैर हैं। वास्तव में रामचन्द्रिका की कथावस्तु का यह चित्रांकन लोक-मानस की सहजता और सरलता के अनुकूल ही हुआ है। स्वयं केशव रामचन्द्रिका में राम की कथा का कोई बौद्धिक और उदात्त स्वरूप उपस्थित नहीं करते। इसी प्रकार इस ग्रन्थ का चित्रण भी अत्यन्त सहज और सरल है, वह पहाड़ी चित्रकला की परम्परा को उसके लोक-कला के साधारण रूप में ही प्रस्तुत करता है, उसके विशिष्ट रूप में नहीं। आकृति-अंकन में सूक्ष्मता तो है लेकिन पहाड़ी चित्रकला की विशिष्ट परम्परा-नुकूल निखार व परिष्कार नहीं है। इस दृष्टि से हम इन चित्रों को पहाड़ी चित्रकला के उस रूप में देख सकते हैं, जहाँ लोक-कला से उसका सम्बन्ध व्यक्त होता है।

(१) शूर्पणखा-राम संवाद, (२) लक्ष्मण द्वारा शूर्पणखा के नाक-कान काटना (एकादश प्रकाश)

ग्यारहवें प्रकाश के मुख्य विषय हैं—राम, सीता और लक्ष्मण का पंचवटी में निवास, पंचवटी और गोदावरी का वर्णन, सीता के गायन-वादन का प्रभाव, शूर्पणखा-राम संवाद, लक्ष्मण द्वारा शूर्पणखा के नाक-कान काटकर उसे कुरूप करना।

इस प्रकाश से सम्बन्धित प्रस्तुत ग्रन्थ में दो चित्र हैं जो एक ही पन्ने के दो ओर बने हुए हैं। ग्रन्थ के चित्रों के साथ कहीं भी उनके सम्बद्ध विषय अध्याय (प्रकाश) विशेष के साथ उन्हें संलग्न करने पर स्वतः स्पष्ट हो जाते हैं। कथावस्तु की दृष्टि से भी चित्र पर्याप्त सहज-सुगम हैं। लेकिन दोनों चित्रों को देखने पर एक छोटी-सी भ्रान्ति होती है।

पहले चित्र में सम्बद्ध अध्याय में वर्णित विषय के अनुसार राम और सीता गोदावरी के किनारे पंच-वटी में स्थित अपनी पर्णकुटी में बैठे दिखाये गए हैं। उनके सामने एक बनी-सँवरी स्त्री खड़ी है। यह स्त्री कौन है?

प्रस्तुत प्रकाश में राम, लक्ष्मण और सीता महर्षि अत्रि के आश्रम में पहुँचते हैं। यहाँ महर्षि अत्रि की पत्नी अनुसूया का वर्णन है जो उनका स्वागत करती है, लेकिन उपरोक्त चित्र की सजी-सँवरी यौवना अनुसूया नहीं हो सकती क्योंकि वह वृद्धा हैं, उनके बाल सफेद हैं, उनके शरीर में झुर्रियाँ पड़ी हैं, उनकी गर्दन बुढ़ापे में हिलती है। महर्षि अत्रि के आश्रम से प्रस्थान करने के बाद राम, लक्ष्मण और सीता सहित अगस्त्य ऋषि के आश्रम में पहुँचते हैं। अगस्त्य ऋषि से पूछताछ करने पर राम पंचवटी के किनारे अपनी पर्णकुटी बनाते हैं। इसी प्रकाश में राम के सौन्दर्य से आकर्षित होकर रावण की बहन शूर्पणखा वहाँ पहुँचती है। स्पष्ट है कि उक्त चित्र में राम और सीता के समक्ष खड़ी, बनी-सँवरी स्त्री शूर्पणखा ही है। चित्रकार की दृष्टि में यह उसका सहज मानवी रूप है। शूर्पणखा राम पर मोहित हो उठती है। वह उनकी प्रशंसा करती है और उनसे विवाह का प्रस्ताव रखती है। राम कहते हैं कि वह विवाहित हैं। उन्होंने उसे लक्ष्मण के पास भेज दिया।

शूर्पणखा लक्ष्मण से विवाह का प्रस्ताव रखती है। इस घृणित प्रस्ताव पर लक्ष्मण उससे कहते हैं, "मैं राम का सेवक हूँ। मेरे साथ विवाह कर तुम दासी बनोगी जिससे तुम्हें गौरव नहीं मिलेगा। यदि तुम राम का भजन करो तो तुम्हारा कल्याण होगा।"

शूर्पणखा अपमानित अनुभव कर जब सीता को खाने दौड़ती है तो लक्ष्मण उसके नाक और कान काट-कर उसे विरूप कर देते हैं। दूसरे चित्र में लक्ष्मण द्वारा शूर्पणखा को विरूपित करने का दृश्य है। यहाँ शूर्पणखा का रूप पूर्व-चित्रित शूर्पणखा-सा नहीं है। पूर्व चित्र में जहाँ वह एक सजी-सँवरी यौवना के रूप में चित्रित की गई है, अगले चित्र में उसके विपरीत उसके राक्षसी रूप का चित्रण हुआ है। भारी-भरकम शरीर, डरावना चेहरा, बाहर निकले हुए बड़े-बड़े दो दाँत, लम्बी जीभा, बड़े-बड़े कान आदि से युक्त उसकी सम्पूर्ण आकृति ही घिनौनी है। शूर्पणखा के दो रूपों के चित्रण से कलाकार ने उसके चरित्र की विशिष्टता को उद्घाटित किया है।

५८. शिव-परिवार (रेखाचित्र)

इस रेखाचित्र में शिव और पार्वती भाँग छानते हुए नज़र आ रहे हैं। पार्वती के पीछे उनके पुत्र गणेश हैं और नीचे उनके दूसरे पुत्र कार्त्तिकेय नन्दी के पास बैठे हैं। चित्र में विषय का सहज निर्वाह रोचक है।

(कथानक के लिए देखिए चित्र सं० ४६, ५० और ५२ का परिचय)

५९. एक रागिनी (जम्मू)

किसी अज्ञात रागिनी के इस चित्र में अन्य राग-रागिनियों के चित्रों की ही भाँति काव्य, चित्रकला और संगीत का समन्वय देखा जा सकता है। चित्र में अनुकूल वातावरण का सृजन भी सुखद प्रतीति देता है। चित्र की संगीतात्मकता सहज ही अनुभूत की जा सकती है।

यह चित्र विक्टोरिया एण्ड एलबर्ट म्यूज़ियम में संकलित है जिसे डब्ल्यू० जी० आर्चर ने अपनी पुस्तक 'इंडियन पेंटिंग इन द पंजाब हिल्स' में पृष्ठ ६७ पर उद्धृत किया है।

६०. राग भैरव (मण्डी)

भगवान जगत् की सृष्टि के लिए ब्रह्मा, पालन के लिए विष्णु और संहार के लिए महेश का रूप धारण करते हैं। शिव (महेश) के क्रिया-कलाप का अन्त नहीं। अपने स्वभाव के अनुरूप उन्होंने प्रेत, पिशाच, भैरव,

विनायक, यातुधान, डाकिनी, शाकिनी, कूष्माण्ड, बेताल, योगिनी आदि की रचना की। इसी प्रकार भारतीय शास्त्रीय संगीत में एक राग भैरव के नाम से अभिहित हुआ। प्रस्तुत चित्र में शिव गले में सर्प-माला डाले हुए अपने वाहन नन्दी पर बैठे हुए, एक हाथ से डमरू बजाते हुए और दूसरे हाथ में ध्वजा पकड़े हुए दिखाए गए हैं। शिव का यह रूप राग भैरव को सार्थक करता है।

६१. नायिका (मण्डी)

उक्त रेखाचित्र चित्र-निर्माण की प्रारम्भिक अवस्था का बोधक है। इस रेखाचित्र से पहाड़ी कला-कृतियों की रचना-प्रक्रिया में आरम्भिक स्थिति का सहज आभास हो जाता है।

(चित्र-निर्माण की वास्तविक प्रक्रिया के लिए देखिए अध्याय 'रंग और रेखाएं'।)

६२. कुल्लू के राजा अपने अंगरक्षकों के साथ (कुल्लू)

चित्र में अंगरक्षकों की वेशभूषा की ओर ध्यान जाता है। आज भी कुल्लू और मण्डी में देव-देवियों के गुरु तथा नृत्य-मण्डली के लोग इसी-सा पहनावा और टोपी पहनते हैं। ये लोग मण्डी की शिवरात्रि, कुल्लू के दशहरे अथवा किसी गाँव के मेले में आज भी इसी वेशभूषा में एक युद्ध-नृत्य का आयोजन करते हैं जिसमें उनके हाथों तलवारों के कौशल का परिचय मिलता है।

६३ राधा-कृष्ण का वर्षा-विहार (काँगड़ा)

उमड़ते मेघों से आच्छादित आकाश में विद्युत-प्रभा और बक-पंक्ति ध्यान आकर्षित करती हैं। वर्षा से बचने के लिए राधा और कृष्ण दोनों सिर के ऊपर कामरी तान लेते हैं। सामने से उन्हें एक सखी देख रही है।

बहुत सम्भव है कि चित्रकार ने भागवत पुराण के ही आधार पर इस दृश्य की कल्पना की हो लेकिन जैसा अन्यत्र कहा जा चुका है कि भागवत पुराण में राधा का वर्णन नहीं आता। कृष्ण के साथ किसी एक विशेष गोपी को एकान्त में मिलने का सौभाग्य प्राप्त है लेकिन उसके नाम का उद्घाटन वहाँ नहीं किया गया है।

काँगड़ा कलम का यह चित्र अनेक पुस्तकों तथा पत्रिकाओं में प्रकाशित हुआ है। इसी चित्र की अनेक मौलिक प्रतिकृतियों की भी एक सम्भावना है।

६४. नायिका खण्डिता (काँगड़ा)

चित्र में नायिका ने अपने आभूषणों को उतार रखा है। नायक-नायिकाओं का चित्रण राजस्थानी चित्रकला की ही भाँति पहाड़ी चित्रकला में भी बखूबी हुआ है। अपने सम्पूर्ण कला-सौष्ठव और रचना-लालित्य में राजस्थानी चित्रकला से पहाड़ी चित्रकला अधिक उत्कृष्ट है।

६५. राधा-कृष्ण की मुरली-लीला (जम्मू)

चित्र में राधा और कृष्ण की मुरली-लीला में उनका भाव-सौन्दर्य देखते ही बनता है।

यह चित्र 'विक्टोरिया एण्ड अलबर्ट म्यूज़ियम' में संगृहीत है तथा डब्ल्यू० जी० आर्चर की पुस्तक 'इंडियन पेंटिंग इन द पंजाब हिल्स' में पृष्ठ ६८ पर प्रकाशित है।

६६. राधा और कृष्ण तनाव की स्थिति में (काँगड़ा)

'बिहारी सतसई' में एक दोहा है––

सतर भौंह, रूखे बचन, करत कठिनु मनु नीठि।
कहा करौं, ह्वै जाति हरि हेरि हंसौही डीठि।।

प्रस्तुत चित्र की व्याख्या इस दोहे के संदर्भ में पृष्ठ ६६ पर की गई है। 'बिहारी सतसई' के अन्य दोहे के साथ भी इस चित्र का सहज ही ताल-मेल देखा जा सकता है :

खरी पातरी कान की, कौन बहाऊ बानि।
आक-कली न रली करैं, अली जिया जानि।।

कृष्ण राधा को कह रहे हैं, "तू कान की बड़ी कच्ची है। किसी के कहने पर बहक जाती है। ज़रा यह तो खयाल कर कि क्या कोई भौंरा आक की कली के साथ अपना मन बहला सकता है।"

इस चित्र के कलाकार हैं पद्मेन्दु, जिनका नाम चित्र पर पढ़ा जा सकता है। इसी कलाकार का दूसरा चित्र (सं १५) अर्जुन द्वारा सेना-निरीक्षण का है। दोनों चित्र विभिन्न विषयों को अंकित करते हैं लेकिन विषय के प्रतिपादन में कलाकार की एक-सी दक्षता का परिचय मिलता है।

६७. विप्रलब्ध नायिका (पुंछ)

नायक-नायिकाओं का चित्रण पहाड़ी चित्रकला की विभिन्न कलमों में सहज ही मिल जाता है (द्रष्टव्य है चित्र सं० ३०, ३३, ३४, ६१ और ६४)। यह चित्रण अपनी भरी-पूरी विशेषताओं के साथ उभरा है।

प्रस्तुत चित्र 'विक्टोरिया एण्ड अलबर्ट म्यूज़ियम' में संगृहीत है और डब्ल्यू० जी० आर्चर ने इसे अपनी पुस्तक 'इंडियन पेंटिंग इन द पंजाब हिल्स' में पृष्ठ ८० पर उद्धृत किया है।

६८. कृष्ण-लीला (कुल्लू)

कुल्लू कलम में काँगड़ा, गुलेर अथवा चम्बा-सा परिष्कार नज़र नहीं आता। कुल्लू-कला लोक-कला से अत्यधिक प्रभावित है जो कृष्ण-लीला सम्बन्धी प्रस्तुत चित्र से प्रत्यक्ष होता है। जहाँ तक चित्र की सम्प्रेषणीयता का प्रश्न है, वहाँ तक यह प्रयास सफल है। काँगड़ा कलम का चितेरा जिस प्रकार चित्र के हर अंग-प्रत्यंग को अत्यन्त सावधानी और सुघड़ता से प्रस्तुत करता है, कुल्लू कलम का चितेरा वैसी सावधानी और कला-कौशल का कोई परिचय नहीं देता। पहाड़ी चित्रकला की उत्कृष्ट कृतियों के समक्ष ये चित्र अनघड़-से लगते हैं। लेकिन इन चित्रों का महत्त्व अवश्य है। अनघड़ होने पर भी लोक-कला की कृतियों का स्वागत है क्योंकि वे किसी जनपद के जीवन तथा रुचि-अभिरुचि की समर्थ व सक्षम अभिव्यक्ति हैं और इस कला का अपना रंग होता है।

६९. शिव-नृत्य (कुल्लू)

शिव सभी विद्या तथा कला-कौशल के आदि आचार्य हैं। भाषा-व्याकरण की व्युत्पत्ति माहेश्वर सूत्रों से मानी गई है और संगीत की शिव के डमरू-नाद से। शिव ही ताण्डव और लास्य नृत्यों के विधायक हैं।

आयुर्वेद, धनुर्वेद आदि का ज्ञान भी उन्हीं द्वारा प्रदान किया गया है। यदि निगम (श्रुति) के प्रतिपादक भगवान विष्णु हैं तो आगम (तन्त्र) के प्रतिपादक भगवान शंकर हैं।

प्रस्तुत चित्र चित्र सं० ६८ से अधिक कलापूर्ण नज़र आता है। इस चित्र में अपेक्षतया आकृति-अंकन अधिक सुघड़ है। शिव की नृत्य-मुद्रा रोचक है।

७०. रागिनी (गुलेर)

संगीत-मग्न किसी रानी की यह आकृति देखते ही बनती है। पहाड़ी चित्रकला में अधिकांशतः पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों की आकृतियों का अंकन सुघड़ता से हुआ है। इतना ही नहीं, स्त्रियों के चित्रण में नारी-सुलभ जिस सौन्दर्य और लावण्य का परिचय पहाड़ी चित्रकला में देखने में आता है वह संसार-भर में अन्यत्र नहीं।

(राग-रागिनियों के विवरण के लिए देखिए 'काव्य, चित्रकला और संगीत का समन्वय', पृष्ठ ३७ से ३६ तक)

७१. कृष्णाभिसारिका (पुंछ)

नायक-नायिकाओं का चित्रण पहाड़ी चित्रकला की विशेषता रही है। प्रस्तुत चित्र एक सुन्दर कला-कृति है जिसमें अभिसार के लिए जाती हुई नायिका को चित्रित किया गया है। यह अभिसारिका कृष्ण-पक्ष की रात्रि में अपने प्रिय से मिलने जाती है। राह में साँप मिलते हैं, अनेक बाधाएँ आती हैं लेकिन अभिसार की उत्सुकता व आकर्षण लिए वह आगे बढ़ती ही जाती है।

यह चित्र 'विक्टोरिया एण्ड अलबर्ट म्यूज़ियम' में संगृहीत है और डब्ल्यू० जी० आर्चर ने इसे 'इंडियन पेंटिंग इन द पंजाब हिल्स' में पृष्ठ ८० पर उद्धृत किया है।

७२. कृष्णाभिसारिका (काँगड़ा)

बिहारी सतसई विषयक काँगड़ा कलम के इस चित्र का विवरण देखिए पृष्ठ ६८ पर।

७३. बाला सुन्दरी (मण्डी)

(विवरण के लिए देखिए पृष्ठ १२५-१२६)

७४. राजा समशेर सेन (मण्डी)

राजा समशेर सेन (१७२७-८१) का यह चित्र पहाड़ी चित्रकला की परम्परा में साधारण-सा है। समशेर सेन पाँच वर्ष की आयु में गद्दी पर बैठा था। चित्र को देखने से स्पष्ट है कि राजा (बाएँ से दूसरा) का यह चित्र उसकी अंतिम अवस्था का है जिसमें वह दुर्बल और ढली हुई उमर में नज़र आ रहा है।

समशेर सेन के विवाह का एक चित्र सं० २५ के अन्तर्गत प्रकाशित हुआ है।

(अन्य विवरण के लिए देखिए पृष्ठ १२०-१२१)

७५. क्षत्राणी द्वारा युद्ध से लौटे हुए पति की भर्त्सना (चम्बा)

चित्र को देखते ही उसका विषय प्रकट होता है। लगता है क्षत्राणी को पहले ही पता चल गया कि उसका पति रणक्षेत्र से भाग आया है। उसके हाथ उसे रोकने की स्थिति में उठे हैं। वीर आश्चर्यचकित है कि आज तक जो उसे प्राणों से भी प्यारी रही है, उसी से उसे यह कैसी भर्त्सना सुनने को मिल रही है। चित्र

सामान्य है लेकिन जहाँ तक उसमें भाव-प्रेषण का प्रश्न है, कलाकार अपने प्रयास में सफल है। सपाट पृष्ठभूमि विशिष्टतः बसोहली और चम्बा के चित्रों में देखने को मिलती है लेकिन दोनों में रंग-प्रतिपादन विभिन्न योजनाओं के अन्तर्गत हुआ है। बसोहली चित्रों की पृष्ठभूमि अधिकांशतः एक ही रंग में उभरी है लेकिन चम्बा चित्रों की पृष्ठभूमि में रंगों का प्रतिपादन रमणीय और सुरुचिपूर्ण है। बहुत से चम्बा-चित्रों में आभा-पूर्ण क्षितिज का अंकन भला लगता है।

७६. पनिहारिन (चम्बा)

पहाड़ी चित्रकला के विषय केवल पौराणिक गाथाओं और राजाओं के क्रिया-कलाप तक ही सीमित नहीं रह गये, उनमें लोक-जीवन भी प्रतिबिम्बित हुआ है। लोक-जीवन को प्रतिफलित करते हुए चित्र उतने कलात्मक नहीं हैं जितने दूसरी कोटि के चित्र। कारण स्पष्ट है। लोक-जीवन सम्बन्धी चित्रों की मांग नहीं थी और जब कलाकार का चित्रकला ही रोज़ी-रोटी का धन्धा था तो वह लोक-जीवन ऐसे चित्रों के लिए स्पष्टतः अधिक समय नहीं दे पाया। लेकिन वह अपने परिवेश से कटा नहीं है। उसने अपने आस-पास को, सामान्य जीवन को अपना विषय अवश्य बनाया है। पनिहारिन का यह एक सफल रेखाचित्र है।

७७. दुर्गा-स्तुति (गुलेर)

महाशक्ति का सर्वाधिक पूजनीय स्वरूप दुर्गा है। दुर्ग नामक असुर का संहार करने के बाद उन्हें दुर्गा कहा जाने लगा। प्रस्तुत चित्र में उनका अष्टभुज रूप दिखाया गया है। द्विभुज, चतुर्भुज, दशभुज, शतभुज तथा सहस्रभुज भी उन्हीं के रूप हैं। जिस प्रकार जगत् की सृष्टि, स्थिति और संहार के लिए भगवान के क्रमशः ब्रह्मा, विष्णु एवं महेश तीन स्वरूप हैं, उसी प्रकार इन्हीं रूपों से सम्बद्ध उनकी शक्ति सरस्वती, लक्ष्मी और पार्वती हैं। राम और कृष्ण के साथ यही रूप सीता और राधा हैं। शाक्त सम्प्रदाय में महाशक्ति के इन विभिन्न रूपों की उपासना होती है—महालक्ष्मी, महासरस्वती, महाकाली, गौरी, काली, तारा, चामुण्डा, कूष्माण्डा, ललिता, भैरवी, धूमावती, छिन्नमस्ता, दुर्गा, मातंगी आदि। आश्विन और चैत्रमास के नवरात्रों में नव दुर्गा की पूजा होती है जिसका भारत के अनेक भागों की भाँति हिमाचल प्रदेश (विशेषतया मण्डी, बिलासपुर, कांगड़ा और चम्बा) में खूब प्रचलन है। नव दुर्गा के रूप हैं—शैलपुत्री, ब्रह्मचारिणी, चन्द्रघण्टा, कूष्माण्डा, स्कन्दमाता, कात्यायनी, कालरात्रि, महागौरी और सिद्धिरात्रि। महाशक्ति के विविध चरित और रूपों की व्याख्या पुराणों, तंत्रग्रंथों आदि में मिलती है।

७८. रास-लीला—तकिया-गिलाफ पर कशीदाकारी (चम्बा)

पहाड़ी लघुचित्रों तथा भित्तिचित्रों के ही समान कपड़ों पर भी कृष्ण की रास-लीला जैसे विषयों का सर्वाधिक चित्रांकन हुआ। तकिया गिलाफ पर कशीदा किया हुआ यह चित्र कलात्मक है। आकृतियों के चित्रण में लघुचित्र जैसी ही सुरुचि-सम्पन्नता प्रकट होती है। इस कशीदे का एक विशेष गुण उसका दोहरा टाँका है जिससे कपड़े के दोनों ही ओर एक-सा चित्र बन जाता है। यों इकहरे टांके वाले कशीदायुक्त कपड़े भी बहुत अधिक संख्या में उपलब्ध हैं। चम्बा में कुछेक स्त्रियां अभी तक कशीदाकारी के इस कला-कौशल का परिचय देती रही हैं। उनकी सहायता से हिमाचल प्रदेश सरकार का उद्योग विभाग चम्बा में ही इस कला को पुनर्जीवित करने का प्रयत्न कर रहा है। हिमाचल सरकार के शिमला स्थित एम्पोरियम में इस कला के जो नवनिर्मित

नमूने प्रदर्शित किये हैं, उनमें पुरानी दस्तकारी-सी उत्कृष्टता देखने को नहीं मिलती। आशा है खोज-बीन और निरन्तर प्रयत्नों के आधार पर भविष्य में यह हस्त-शिल्प निखार पा सकेगा।

७९. गणेश—पंखे पर कशीदाकारी (काँगड़ा)

उपर्युक्त तकिया-गिलाफ की ही तरह यह पंखा भी पुराना है जिसमें ऋद्धि-सिद्धि के स्वामी गणपति चित्रित हैं। कशीदाकारी उत्तम है। अधिकांशतः दैनिक व्यवहार में प्रयुक्त होने वाली वस्तुओं पर ही कशीदा हुआ है जैसा यहाँ उद्धृत चार चित्रों (सं० ७८,७९,८० और ८१) से स्पष्ट है।

(विषय विवेचन के लिए देखिए चित्र सं० ४६ का परिचय)

८०. थापड़ा (मण्डी)

पहाड़ी बोली में बड़े आकार के कशीदायुक्त कपड़ों को थापड़ा कहा गया है। रूमाल और थापड़े इकहरे और दोहरे दोनों ही टांकों में उपलब्ध हैं। आकृतियों का अंकन व कशीदा तो विशेष दक्षता का परिचायक रहा, इसलिए वह कुछ ही महिलाओं तक सीमित रह गया लेकिन फूल और पत्तियों की कढ़ाई का खूब प्रचलन रहा। फूल-पत्तियों तथा अन्य मोटिफों की ऐसी ही कढ़ाई प्रस्तुत छायानुकृति में देखी जा सकती है।

८१. कशीदायुक्त चोली (चम्बा)

कशीदाकारी जैसा हस्त-शिल्प महिलाओं तक ही सीमित रहा, इसलिए उन्होंने अपने शरीर पर प्रयुक्त होने वाली चोलियों को खूब सजाया-संवारा। चोलियों को तैयार करने में उन्होंने अपनी रुचि-विशेष का परिचय दिया है। आज पीठिका-रहित (बैकलेस) चोली को देखकर आश्चर्य होता है क्योंकि ऐसी चोलियों का प्रचलन तो शहरों में हाल ही के कुछ वर्षों में बढ़ा है। पीठिका-रहित चोलियों का प्रचलन पहाड़ी क्षेत्र में पर्याप्त अर्सा रहा लेकिन इन चोलियों को औरतें पहने हुए कपड़ों में सबसे नीचे डालती थीं। आज की तरह शरीर अथवा चोली का प्रदर्शन उस वक्त के रीति-रिवाज़ के प्रतिकूल था।

(अधिक विवरण के लिए देखिए पृष्ठ १५१-१५२)

८२. कृष्ण और राधा का प्रेमाचरण (काँगड़ा)

बिहारी सतसई में एक दोहा है—

मन न धरति मेरौ कह्यौ तूं आपनैं सयान।
अहे, परनि परि प्रेम की परहथ पारि न प्रान।।

एक सखी राधा से कहती है कि तू मेरी बात पर ध्यान नहीं देती। तू अपने आपको बड़ी सयानी समझती है। लेकिन याद रख, दूसरों के प्रेम में पड़ना दूसरों के हाथ में अपने प्राण सौंपना है।

और कृष्ण और राधा हैं जो अन्य सखियों से खरी-खोटी सुनने के बाद भी अलग नहीं हो सकते।

कृष्ण के किसी ऐसे ही प्रेमाचरण को व्यक्त करती हुई प्रस्तुत कलाकृति है। बिहारी सतसई सम्बन्धी अन्य चित्रों में कृष्ण-लीला का प्रांगण उन्मुक्त प्रकृति नहीं बल्कि गली-कूचे हैं। चित्र का विषय स्पष्ट है, भले ही यदि इसे किन्हीं आधारों पर हम बिहारी सतसई से न भी जोड़ें।

प्रस्तुत चित्र पहाड़ी चित्रकला की सुन्दरतम कृतियों में एक है। चित्र में केवल मुख्य विषय का ही

भावपूर्ण आलेखन नहीं हुआ है, ग्रामीण वातावरण का अंकन भी अत्यन्त सजीव है। गोधूलि की बेला है जो घर में लौटती हुई गौओं के दृश्य से स्पष्ट है। पृष्ठभूमि में औरतों की व्यस्तता भी वातावरण को सजीव बनाती है। पेड़-पौधों और उसमें पपीहों का अंकन सुरुचिपूर्ण है। यद्यपि इस चित्र में मुख्य विषय राधा और कृष्ण का प्रेमाचरण तथा साथ खड़ी सखी से वार्तालाप है लेकिन इस आकृति-प्रधान चित्र से इस मुख्य विषय को हम अपनी दृष्टि से ओझल कर लें तो भी चित्र में ग्रामीण वातावरण अभावग्रस्त नज़र नहीं आता। चित्रित पात्रों की मुद्राएं भावप्रेषण में समर्थ हैं। चित्र का समस्त संयोजन सार्थक एवं भावपूर्ण है और कलात्मक श्रेष्ठता से युक्त है।

(अधिक विवरण के लिए देखिए अध्याय विषयवस्तु, मुख्य चिन्तन-स्त्रोत और मुख्य नायक)

८३. रास-लीला : पहाड़ी रूमाल (चम्बा)

प्रस्तुत चित्र पहाड़ी रूमालों की उत्कृष्ट परम्परा का परिचायक है। कशीदे द्वारा विषय की प्रस्तुति इतने रोचक और समर्थ ढंग से हो सकती है, यही पर्याप्त आश्चर्यजनक है। रास-लीला के अनेक प्रसंगों का कृष्ण और गोपियों की नृत्य-मुद्राओं में रुपायन अत्यन्त मनोहारी लगता है। चित्र का कला-सौष्ठव प्रेक्षक की कल्पना को सहेजने में सक्षम है। सम्पूर्ण चित्र का संयोजन साधारण है लेकिन जहाँ तक आकृति-अंकन, भाव-सम्प्रेषणीयता, मुद्राभिव्यक्ति का प्रश्न है, वहाँ उनमें एक साथ ही रागात्मकता, गत्यात्मकता और लयात्मकता के दर्शन होते हैं।

चित्र-संकलन

१. स्वर्गीय राजा राणा मेजर दिग्विजयचन्द्र और उनके सुपुत्र राजा राणा योगेन्द्रचन्द्र, जुब्बल, हिमाचल प्रदेश

चित्र संख्या ९, १०, १३, १४, १५, ३३, ३४, ३५, ४३, ४५, ४९, ५०, ५१, ५३, ६३, ६४, ६६, ७०, ७२, ७५, ७७ और ८२

२. श्री ओंकारचन्द सूद, शिमला

चित्र संख्या १६, २२, २३, २९, ३८, ३९, ४२, ४६, ५२, ६२, ६८, ६९ और ७४

३. राणा श्री आर० सी० पाल सिंह, आई० ए० एस०, शिमला

चित्र संख्या १, ७८, ७९ और ८३

४. श्री चन्द्रमणि काश्यप, हिमाचल लोक संस्कृति संस्थान, मण्डी, हिमाचल प्रदेश

चित्र संख्या १७, २४, २६, २८, ३६, ४८, ५४, ५५, ५६, ५७, ५८, ६० और ६१

५. डब्ल्यू० जी० आर्चर की पुस्तक 'इंडियन पेंटिंग इन द पंजाब हिल्स' में प्रकाशित चित्रों की छायानुकृतियाँ

चित्र संख्या १२ डब्ल्यू बी० मैनले (गिल्डफोर्ड) के संकलन में
चित्र संख्या ३७ विक्टोरिया एण्ड अलबर्ट म्यूज़ियम में
चित्र संख्या ४४ कुमारस्वामी की पुस्तक 'राजपूत पेंटिंग' में प्रकाशित
चित्र संख्या ४७ जी० के० कनौड़िया (कलकत्ता) के संकलन में
चित्र संख्या ५९ विक्टोरिया एण्ड अलबर्ट म्यूज़ियम में
चित्र संख्या ६५ विक्टोरिया एण्ड अलबर्ट म्यूज़ियम में
चित्र संख्या ६७ विक्टोरिया एण्ड अलबर्ट म्यूज़ियम में
चित्र संख्या ७१ विक्टोरिया एण्ड अलबर्ट म्यूज़ियम में

६. श्री यादवेन्द्रकुमार, मण्डी, हिमाचल प्रदेश

चित्र संख्या ३० और ३१

७. श्री कन्हैयालाल हाण्डा, मण्डी, हिमाचल प्रदेश

चित्र संख्या ७३

८. पं० भवानीदत्त, साहित्य सदन, मण्डी, हिमाचल प्रदेश
चित्र संख्या ३२

९. मियाँ गोवर्धनसिंह 'जुब्बल', लाइब्रेरियन, हिमाचल प्रदेश सेक्रेटेरिएट लाइब्रेरी, शिमला
चित्र संख्या २७

१०. श्री एन० बोमन-बेहराम के संकलन से एक ग्रिटिंग कार्ड के रूप में प्रकाशित चित्र की छायानुकृति
चित्र संख्या २५

११. निजी संकलन तथा छायाचित्र
चित्र संख्या २, ३, ४, ५, ६, ७, ८, ११, १८, १९, २०, २१, ४०, ४१, ७६, ८० और ८१।

•